प्रकाशक :
श्री वर्द्धमान स्थानकवासी जैन श्रावक संघ
जोधपुर

मुद्रक :
नवयुग प्रेस,
जोधपुर

समर्पण

श्री वर्द्धमान स्थानकवासी जैन श्रमणसंघ के
वर्तमानाचार्य, जैन धर्म-दिवाकर, जैनागम
रत्नाकर, साहित्यरत्न, परमपूज्य-
श्री १००८ श्री आत्मारामजी महाराज के
पुनीत कर-कमलों में
सादर-समर्पित !

मुनि "हंस"

प्रकाशक
श्री वर्द्धमान स्थानकवासी जैन श्रावक संघ
जोधपुर

श्रीवीतरागायनमः

— प्राक्कथन —

यह बात संसार विदित ही है कि भारतभूमि की परम्परा आध्यात्म प्रधान रही है। इस पवित्र भूमि पर भगवान महावीर, गौतमबुद्ध, राम, कृष्ण, महात्मागांधी आदि महान् आत्मायें अवतरित हुई हैं। इन्हीं महान् विभूतियों के प्रकाशमय जीवन से प्रेरणा पाकर भारतीय मानवजाति अपनी इहलौकिक व पारलौकिक साधना करती आ रही है।

यद्यपि क्षणभंगुर भौतिक शरीर किसी का भी स्थिर नहीं रहता. किन्तु महापुरुषों की शुभ कृत्तियाँ, वृत्तियाँ स्मृतियाँ तो अमर रूप से इस विश्व में विचरण करती रहती है। वास्तव में महापुरुषों की जीवन गाथायें और पवित्र वाणी ही संसार की सच्ची निधि है। उनकी अमृतमय वाणी कल्याणकारी, जीवनोद्धारक व मोक्ष मार्ग को बताने वाली है। इस वाणी की महिमा को प्रचार मंत्री पं० प्रेमचन्दजी महाराज साहब ने खूब समझा है। उन्हीं के एक प्रवचन "दृश्य और द्रष्टा" में वाणी का महत्त्व बताते हुए उन्होंने कहा है:—"वाणी में वह शक्ति है जो मुर्दे दिलों में नवजीवन का संचार कर देती है, जो कर्मक्षेत्र से भागते हुए व्यक्तियों में आशा और उत्साह की लहर पैदा कर देती है, जो भोग वासनाओं के कीचड़ में फंसे हुए मनुष्यों के हृदयों में वैराग्य के अंकुर प्रकट कर देती है। वाणी और पाणी का असर आये बिना नहीं

रहता। जहाँ अच्छी श्रुतियाँ, ललित शब्दावलियाँ और मनोहर सूक्तियाँ सुनाई पड़ती हैं वहाँ हृदय में प्रशस्त भाव पैदा होते हैं।"

प्रस्तुत पुस्तक पं० मुनि श्री प्रेमचन्दजी महाराज साहब द्वारा समय समय पर प्रस्फुटित हुई ऐसी ही वाणियों का संग्रह है। मुनि श्री की भाषा व शैली अत्यन्त रोचक एवम् सजीव है। इसमें ओज है, लालित्य है। निर्भीकता व यथार्थता कूट कूट कर भरी है। वस्तुतः यह आत्मसिंह की गर्जना है।

मुनि श्री ने जैन दर्शन के गूढ़ से गूढ़ सिद्धान्तों का प्रतिपादन अपने इन प्रवचनों में किया है। किन्तु पाठकों को कहीं भी दुरूहता महसूस नहीं होती। इसका कारण यह है कि मुनि श्री ने अपने विषय को सरल बनाने के लिये किम्वदन्तियाँ, कथायें, चुटकले, शेर, दोहे, छन्द आदि का पर्याप्त प्रयोग किया है। स्थान स्थान पर जैन ऐतिहासिक कथाओं का भी सहारा लिया है। जैन दर्शन के अतिरिक्त अन्य दर्शनों की व्याख्या भी की है और तुलनात्मक दृष्टि से उनका दिग्दर्शन कराया है।

मुनि श्री का उद्देश्य सिद्धान्तों का केवल प्रतिपादन मात्र ही नहीं किन्तु उन्होंने अपने प्रवचनों में उद्‌बोधन देने का कार्य भी पूर्णसतर्कता से किया है। धर्मसाधना के क्षेत्र को आज जिस तरह वृद्धाश्रम का सा रूप दे दिया है जहाँ कि बूढ़े, अशक्त व अपाहिज लोगों की भर्ती होती है— इस तरह के रूप को मुनि श्री ने खूब प्रताड़ना दी है और युवकों को व सशक्त लोगों को धर्मक्षेत्र में आगे आने की प्रेरणा दी है।

मुनि श्री के कुछ प्रवचनों का एक संग्रह 'प्रेम सुधा' नाम से प्रकाशित हो चुका है। अतः इन प्रवचनों को 'प्रेम सुधा भाग द्वितीय' नाम देकर प्रकाशित किया जा रहा है।

विश्वास है मुनि श्री द्वारा प्रकट की गई भगवान की यह दिव्य वाणी पाठकों के हृदय पर प्रभाव डालेगी और वे अपना जीवन 'सत्यं, शिवं, सुन्दरम्' बनाने में सफल होंगे।

विनीत—

रिखबराज कर्णावट
एडवोकेट

बड़लों का चौक
जोधपुर
दिनांक १६-११-५५

किताब की छपाई का हिसाब

आय खाते

(क) सहायता	१३००)
(ख) श्री वर्धमान स्थानक वासी जैन श्रावक संघ-से	८०)
	कुल १३८०)

व्यय खाते

(क) कागज व छपाई	११००)
(ख) पक्की बाईन्डिंग	११०)
(ग) ब्यावर के पंडितजी को संपादन के	१३६)
(घ) जोधपुर में पंडित श्री हरसुखजी शास्त्री को	३४)
	कुल १३८०)

माधोमल लोढा
व्यवस्थापक प्रेमसुधा द्वितीय भाग

प्रकाशकीय निवेदन

सद्भाग्य से इस वर्ष श्री व० स्था० जैन श्रमण-संघ के प्रचार मन्त्री पं० मुनि श्री प्रेमचन्दजी महाराज साहब का चातुर्मास जोधपुर शहर में हुआ। प्रचार मंत्रीजी महाराज एक महान् धर्मोपदेशक हैं। जैनदर्शन की गूढ़ से गूढ़ गुत्थियों को सरल से सरल भाषा में समझाने की आपकी कला अद्वितीय है। आपके कुछ व्याख्यानों का एक संग्रह "प्रेमसुधा भाग प्रथम" प्रकाशित हो चुका है। जैन व जैनेतर समाज में इस ग्रन्थ का खूब प्रचार हुआ और पर्याप्त मांग रही। जोधपुर शहर के कुछ सज्जनों ने प्रचार मंत्रीजी महाराज साहब से प्रार्थना की कि उनके रतलाम धूलिया खानदेश में दिये गये भाषणों को, जो कि लगभग सम्पादित रूप में तैय्यार हैं, प्रकाशित कराने का अवसर जोधपुर शहर को दें। श्रावकों के उक्त आग्रह को मुनि श्री ने स्वीकार किया। फलस्वरूप यह "प्रेम-सुधा भाग दूसरा" आप महानुभावों के समक्ष आया है। इस ग्रन्थ को प्रकाशित कराने में निम्न महानुभावों ने द्रव्य सहायता दी है:—

४००) श्रीमान् सेठ हरकचन्दजी साहब पीपाड़ वाले जतन-भवन सरदारपुरा रोड न० २ बी, जोधपुर।

२००) श्रीमान् सेठ मगनीरामजी सांखला (सैनिक क्षत्रिय) सोजती गेट जोधपुर।

२००) श्रीमान् सेठ पुखराजजी साहब भण्डारी अन्दारी पोल, जोधपुर।

किताब की छपाई का हिसाब

आय खाते

(क) सहायता	१३००)
(ख) श्री वर्धमान स्थानक वासी जैन श्रावक संघ से	८०)
	कुल १३८०)

व्यय खाते

(क) कागज व छपाई	११००)
(ख) पक्की बाईन्डिंग	११०)
(ग) ब्यावर के पंडितजी को संपादन के	१३६)
(घ) जोधपुर में पंडित श्री हरसुखजी शास्त्री को	३१)
	कुल १३८०)

माधोमल लोढा
व्यवस्थापक प्रेमसुधा द्वितीय भाग

विषयानुक्रमणिका

२००) श्रीमान् सेठ हीराचन्दजी मीठमचन्दजी जोधपुर।

५०) श्रीमान् सेठ धूलचन्दजी रेड़ डागा बाजार, जोधपुर।

५०) श्रीमान् सेठ प्रेमराज सुकनराजजी जैन, कटला बाजार जोधपुर

श्री गुप्त सहायता से ७५) २५) ५०) ५०)

इन महानुभावों के अतिरिक्त श्री मायोमलजी साहब लोढ़ा ने ग्रन्थ को मुद्रण कराने की व्यवस्था व देखरेख रखने में कठिन परिश्रम किया है। अधिकतर व्याख्यानों का सम्पादन पं० बसन्तीलालजी नलवाया ने किया है और कुछ व्याख्यानों का सम्पादन प० शोभाचन्द्रजी भारिल्ल ने किया है। उपरोक्त सब महानुभाव व अन्य महानुभाव भी जिन्होंने परोक्ष व प्रत्यक्ष रूप से इस ग्रन्थ को प्रकाशित होने में योग दिया है वे धन्यवाद के पात्र हैं।

इस सुन्दर उपयोगी ग्रन्थ से पाठकों को जैनदर्शन की बातें समझने में पूरी सहायता मिलेगी ऐसा हमारा विश्वास है। आशा है पाठकवृन्द इससे पूरा लाभ उठायेंगे।

भवदीय—

धानचन्द मेहता — अध्यक्ष
रिखबराज कर्णावट — मन्त्री
श्री वर्द्धमान स्थानकवासी जैन श्रावक-संघ
जोधपुर।

१६-११-५५
कार्तिक शुक्ला ५
संवत् २०१२
वीर सवत् २४८२

॥ श्री वीतरागाय नमः ॥

श्री प्रचारमन्त्री जैन भूषण प्रेमचन्द्रजी महाराज के विहार और प्रचार का संक्षिप्त परिचय

विक्रम संवत् २००६ और वीर संवत् २४७६ रतलाम का आदर्श चातुर्मास पूर्णकर सैलाना से आये हुए श्रीमान् रतनलालजी डोसी आदि शिष्टमंडल की विनती को मान देकर आप सैलाना पधारे। वहाँ बाजार में सात सार्वजनिक व्याख्यान हुए। हिन्दू, मुसलमान जनता ने भारी संख्या में आपके प्रवचनों का लाभ लिया। वहाँ के दरबार ने भी आप श्री के प्रवचन सुनकर प्रसन्नता प्रगट की और वहां पर पंजाब के सहजरामजी भाई को बड़ी धूमधाम से दीक्षा दी गई। यहां से पीपलोदा आदि क्षेत्रों में सार्वजनिक एक एक, दो दो, व्याख्यान देते हुए आप जावरा पधारे। कुछ दिन वहां ठहर, धर्म प्रचार कर सोजत सम्मेलन में सम्मिलित होने के लिए प्रस्थान किया।

मंदसौर होते हुए मुनि श्री नारायणगढ़ पधारे। वहां आपके सार्वजनिक व्याख्यान हुए, जिसमें नगर की जनता और स्थानीय मैजिस्ट्रेट साहब आदि उच्चाधिकारियों ने भारी संख्या में धर्मोपदेश का लाभ लिया। यहां से आप महागढ़ पधारे। वहां नारायणगढ़

के मैजिस्ट्रेट साहब और जैन संघ महाराज श्री के दर्शनार्थ आया। उसी दिन रामपुरा से भी अनुमान ता० १४-१५ भाई रामपुरा पधारने की विनती करने आये।

महाराज श्री का यहां सार्वजनिक व्याख्यान हुआ। स्थानीय और बाहर से आने वाले भाइयों ने महाराज श्री के प्रवचनों का लाभ लिया। समयाभाव के कारण महाराज श्री रामपुरा नहीं जा सके। यहा से मनासा पधारे। यहा पर बाजार में १ सार्वजनिक व्याख्यान हुआ। यहा से विहार कर रास्ते में छोटे मोटे क्षेत्रों को धर्मोपदेश का लाभ देते हुए जावद पधारे। यहा पर भी सार्वजनिक ५-६ व्याख्यान हुए। जनता में धर्म जागृति खूब हुई।

यहा से विहार कर रास्ते में आने वाले छोटे २ क्षेत्रों में अपने प्रवचनों का लाभ देते हुए निम्बाहेड़ा पधारे। यहा पर २-३ सार्वजनिक व्याख्यान हुए और श्री वर्द्धमान श्रावक संघ की स्थापना हुई।

वहा से आप चित्तौड पधारे। यहा पर धर्मशाला में २-३ सार्वजनिक व्याख्यान हुए। फिर आप विहार कर चित्तौड के किले पर जैन 'वृद्धाश्रम में विराजमान हुए। वहा पर आपने दर्शन विशुद्धि आदि विषयों पर कई प्रभावपूर्ण प्रवचन किये। जिससे स्थानीय संघ ने प्रेरित होकर जड़ोपासनारूप मिथ्यात्व का परित्याग कर दर्शन विशुद्ध की।

पुनः विहार कर रास्ते में अनेक छोटे मोटे गांवों के लोगों को जिन-वाणी का उद्बोधन देते हुए आप गंगापुर पधारे। यहां पर ३-४ सार्वजनिक व्याख्यान हुए। यहां से देवरिया होते हुए कोशिथल पधारे। वहां पर भी आपके कई व्याख्यान हुए। यहां से रायपुर पधारे। २ सार्वजनिक व्याख्यान हुए और श्री वर्द्धमान श्रावक संघ की स्थापना हुई। यहां से आप देवगढ़ पधारे। वहां पर आपके बाजार में ३-४ सार्वजनिक व्याख्यान हुए। यहां से "पीपलिया का घाटा" उत्तर कर सरयाली आदि गांवों में धर्म प्रचार करते हुए सहवाज पहुँचे। यहां पर उपाचार्य श्री के दर्शन हुए। यहां से सोजत रोड में २-३ दिन धर्मोपदेश देकर सोजत सम्मेलन में सम्मिलित हुए। यहां पर बहुत साधु साध्वियों के समागम का पावन लाभ हुआ। साधु सम्मेलन की कार्यवाही समाप्त होने के पश्चात जो कई वर्षों से बम्बई काँदावाड़ी संघ की ओर से चातुर्मास की विनती की जा रही थी, उसे मान देकर बम्बई की ओर पुनः विहार किया। बगड़ी, सहवाज, सरयाली आदि क्षेत्रों को फरसते हुए पिपलिया का घाटा चढ़कर देवगढ़, रायपुर, कोशिथल गंगापुर आदि रास्ते में पड़ने वाले क्षेत्रों में धर्म प्रचार करते हुए पुनः चित्तोड़ पधारे। यहां पर धर्मशाला में सार्वजनिक व्याख्यान हुए। फिर किले पर कुछ रोज विराजकर विचरते हुए निम्बाहेड़ा, नीमच, मंदसौर, जावरा आदि नगरों को धर्म लाभ देते हुए "खाचरोद" पधारे। वहां पर आपके प्रभावशाली कई प्रवचन हुए। यहां से नागदा होते हुए उज्जैन पधारे। नमक मंडी और नयापुरा

में प्रवचनों का लाभ दे विहार करते हुए देवास पधारे। यहा महावीर जयन्ती मनाई। यहा पर आये हुए इन्दौर संघ ने इन्दौर पधारने की विनती की। महाराज श्री यहा से विहार कर इन्दौर के प्रसिद्ध सेठ रायबहादुर श्री कन्हैयालालजी के बगल में ठहरे। सेठ साहब महाराज श्री के पहुँचने से पहले ही बगल पर पहुँच चुके थे।

सेठजी ने महाराज श्री के दर्शन कर कुछ धार्मिक चर्चा की और वापस इन्दौर चले गये। महाराज श्री भी विहार करते हुए इन्दौर पधारे। स्थानीय संघ ने श्रद्धापूर्वक समारोह के साथ महाराज श्री का भव्य स्वागत किया। यहा पर महाराज श्री ने ५ ६ दिन ठहरकर अपने प्रभावशाली प्रवचनो से जनता को धर्म की ओर जागरूक किया।

वहा से विहार कर आप राजा भोज की जन्म नगरी धारा पधारे। यहाँ पर अनेक प्राचीन ऐतिहासिक चीजें और शिलालेख अवलोकन करने मे आये। यहा पर २-३ प्रवचन हुए। यहा का स्थानक जैनसंघ अपनी प्राचीन विशुद्ध जैन स्थानकवासी संस्कृति में सुन्दर पाया। भक्त चम्पालाल और वकील माणकचन्दजी के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। यहा एक पाठशाला चलती है जिसमे बच्चों को धार्मिक संस्कारों से सुन्दररूपेण संस्कारित किया जाता है।

वहा से विहारकर रास्ते में विचरते हुए ऐतिहासिक किला माँडवगढ पधारे। यहापर कई प्राचीन ऐतिहासिक चीजें अवलोकन

करने में आई जो भारतवर्ष की अतीत शिल्पकला की सहज ही स्मृति करा देती थीं। यहां का "प्रतिध्वनि" नामक महल एक बड़ा विचित्र महल है जिसमें काफी दूर से आवाज देने वाले की ध्वनि ज्यों की त्यों प्रतिध्वनित होती है और ज्यों की त्यों श्रवण करने में आती है।

लोगों से यह भी विदित हुआ है कि यहां पर किसी समय जैनों की एक लाख जनसंख्या थी, जो आज कुल ५-६ घर ही शेष हैं। यहां से सतपुड़ा पहाड़ का महाविषम घाटा उतर लम्बा २ विहार कर "सैंधवा" पहुँचे। रास्ते में कोई अपना क्षेत्र नहीं आता है। आहार-पानी का बहुत परिषह सहन करना पड़ता है। यहाँ पर गुजराती और मारवाड़ी भाईयों के अनुमानतः १५-२० घर हैं।

महाराज श्री के यहाँपर धर्मशाला में २-३ सार्वजनिक व्याख्यान हुए, फिर यहाँ से विहार कर सिरपुर पधारे। यहाँ पर भी आपके २-३ सार्वजनिक व्याख्यान सिनेमा हाल में हुए।

यहाँ से महाराज श्री ने धूलिया की ओर विहार किया। मुनि श्री के धूलिया पहुँचने की सूचना पाकर कितने ही साधु साध्वीजी आपके पहुँचने से पहले ही धूलिये में एकत्रित हो गये। स्थानापन्न वयोवृद्ध श्री माणकऋषिजी महाराज और मंत्री श्री किशनलालजी महाराज तथा हरिऋषिजी महाराज आदि मुनिसमुदाय तथा कितनी ही साध्वियें विराजमान थीं और नवठाणे से आप भी पधार गये। बहुत ही परस्पर में धर्म प्रेम रहा। ऐसा प्रतीत होता

था मानो छोटा सा साधु सम्मेलन हो रहा है। यहाँ पर बम्बई अहमदनगर आदि अनेक क्षेत्रों के श्रावक लोग दर्शन, प्रवचन-श्रवण का लाभ और चातुर्मास की विनती के लिए आये। महाराज श्री बम्बई का चातुर्मास मान ही चुके थे इसलिए चातुर्मास की विनती को आए हुए लोगों को निराश ही जाना पड़ा। यहाँ पर गुजराती हाई स्कूल में बनाए गए विशाल पंडाल में सार्वजनिक व्याख्यानों का प्रबन्ध किया गया। यहाँ पर खूब ही जैन धर्म की प्रभावना तथा प्रचार हुआ।

यहाँ से आप विचरते हुए माले गाँव पधारे। वहाँ पर धर्मशाला में एक सप्ताह के करीब सार्वजनिक व्याख्यान हुए। जनता ने उमड़ २ कर भारी संख्या में प्रवचनों का लाभ उठाया। यहाँ से विहार कर जाहर लोढ़ा भवन में ठहर, एक सार्वजनिक व्याख्यान हुआ फिर नासिक की ओर विहार किया। रास्ते में छोटे मोटे क्षेत्रों में प्रचार करते हुए आप नासिक पहुँचे। यहां एक प्रवचन कर 'घुटी' पधारे। यहां पर बाजार में ४-५ सार्वजनिक व्याख्यान हुए। यहां के समाज में जागृति है। भाई और बाई प्रातःकाल अच्छी संख्या में मिलकर प्रार्थना करते हैं। यहां पर कल्याण और अमरनाथ पधारने की विनती करने के लिए एक शिष्टमण्डल आया।

यहां से विहार कर आप इगितपुरी पधारे। यहां पर भी आपके ३-४ सार्वजनिक व्याख्यान हुए। जनता में खूब उत्साह व

धर्म-प्रेम की जागृति हुई। विहार कर रास्ते में 'पड़गा' नामक एक गांव में पहुँचे यहां पर कल्याण से १५-१६ मील का विहार कर प्रचारमंत्री श्री फूलचन्दजी महाराज मुनिश्री के सामने आये। यहां से साथ ही विहार कर कल्याण पहुँचे। वहां धर्मोपदेश का लाभ देकर साथ ही साथ विहार करके अमरनाथ पहुँचे। यहां पर पंजाब प्रान्तीय और बम्बई संघ के लोगों ने आपका भव्य स्वागत किया और प्रवचनों का लाभ लिया। यहाँ से पुनः कल्याण, थाँणा आदि क्षेत्र फरशते हुए आप घाटकोपर पधारे। वहाँ कुछ दिन धर्मोपदेश का लाभ देकर विरलापारले पधारे। विरलापारले में आपके २-३ प्रभावशाली प्रवचन हुए। फिर माटुंगा, चीचपोकली दोनों जगह थोड़े २ ठहर कर धर्मोपदेश का लाभ दे 'कोट' पधारे। यहाँ पर धर्मशाला में ठहरे और यहीं पर आपके २-३ प्रवचन हुए। यहाँ से बड़े समारोह के साथ काँदावाड़ी उपाश्रय में चौमासार्थ पधारे।

सिलसिलेवार आपके प्रवचन प्रारंभ हुए। जिसमें आपने दर्शन शुद्धि पर विशेषरूप से बल दिया। बैंक के मैनेजर गुजराती भाई कोठारीजी ने आपके प्रवचन गुजराती भाषा में लिखित बद्ध किये। आपके दर्शन-विशुद्धात्मक प्रवचनों से प्रभावित होकर हजारों स्त्री पुरुषों ने जड़वाद आदि मिथ्यात्व का परित्याग कर दर्शन विशुद्धि की। यहां पर कितने ही स्त्री पुरुषों के पास तीर्थंकरों के चित्रों से चित्रित आनुपूर्वियें देखी गईं।

कितनेक स्त्री पुरुष उन चित्रों के दर्शन और उन्हें वन्दनादि भी करते देखे गये। इस घटना को मिथ्यात्व का पोषक समझकर महाराजश्री ने लोगों को उद्बोधन देते हुए फरमाया कि तुम्हारी यह चर्या जडोपासना मिथ्यात्वरूप ही है। शुद्ध स्थानकवासी जैन समाज की यह धारणा नहीं है। कादावाडी के संघ ने आपके प्रवचनों से प्रभावित होकर चित्रित आनुपूर्वियें एकत्रित कर सील लगाकर दफ्तर में रख दी और विश्वास दिलाया कि भविष्य में ऐसा मिथ्यात्ववर्धक साहित्य न खरीदेंगे और न ही उसकी यहाँ पर बिक्री होगी। यहां जैन-धर्म-दिवाकर साहित्य रत्न श्री वर्धमान श्रमण संघाचार्य श्री आत्मारामजी महाराज का जन्म दिन बडे समारोह के साथ मनाया। यहां के संघ ने १२०० सौ रुपये की १०-११ गौंये छुडाई।

चातुर्मास में धर्मध्यान तपस्यादि प्रचुरमात्रा में हुई। अनुमानत ३०० अठाई, २ मास खमण के थोक, १ छतीस का थोक, बेला तेला आदि छोटी तपस्या की तो गिनती ही क्या थी? वि० स० २०१० का सफल चातुर्मास पूर्ण कर आप कोट पधारे। यहां पर एक सप्ताह ठिराकर श्री वर्द्धमान श्रावकसंघ की स्थापना की। चिंचपोकली, माटुंगा, खार होते हुए शान्ताक्रुज पधारे। यहां पर अनुमानत स्थानकवासी समाज के १५०-२०० घर हैं। आपका स्कूल में एक सार्वजनिक भाषण हुआ। सौराष्ट्र, राजकोट का एक शिष्टमण्डल आपकी सेवा में उपस्थित हुआ। शिष्टमण्डल के सज्जन श्री जगजीवन कोठारी, श्री मणिलालभाई

विराणी, श्री केशवलालभाई विराणी, श्री सौभाग्यचन्दभाई मोदी, श्री मगनलालजी उदाणी, श्री भाईलाल भाई दड़िया, और सेठ चुन्नीलालजी वोहरा आदि थे।

इन्हों ने आग्रह पूर्वक सौराष्ट्र पधारने की तथा राजकोट में चातुर्मास करने की विनती की तथा कहा कि हमारे सौराष्ट्र में प्रचारक साधुओं की बहुत ही आवश्यकता है। क्योंकि सोवनगढ़ी कानजीभाई ने बहुत गड़बड़ कर रखी है और तेरापंथी साधु-साध्वियों का गलत प्रचार भी बढ़ रहा है तथा तेरापंथी पूज्य तुलसीरामजी का भी सौराष्ट्र में विचरने का विचार पाया जाता है। अतः आपका सौराष्ट्र में पधारना जरूरी है। महाराजश्री ने शिष्टमण्डल की बात को गौर से सुना और कहा कि मैं विरला-पारले पहुँचने पर इस विषय में कुछ कह सकूंगा। शिष्टमण्डल फिर संवत २०१० मार्गशीर्ष वदी त्रयोदशी बुधवार को विरला-पारले महाराजश्री की सेवामें उपस्थित हुआ। बहुत आग्रह भरी विनती की। उपाचार्य श्री का प्रेरणा-पत्र भी दिखलाया। पत्र का भाव यही था कि आप सौराष्ट्र जरूर फरशें। जैन कौन्फ्रेंस की भी बहुत प्रेरणा थी। यद्यपि महाराजश्री को सौराष्ट्र का तेल, चावल और शाकभाजी में गुड़ का खाना, अपनी प्रकृति के अनुकूल प्रतीत नहीं होता था, किन्तु सब बातों को गौण कर धर्म रक्षा की दृष्टि से राजकोट संघ की चातुर्मास की विनती स्वीकार कर ली। विरलापारले से विहार कर मलाड़, बोरीवली, थोड़े २ दिन ठहर कर धर्मोपदेश का लाभ देकर सौराष्ट्र की ओर

विहार कर दिया। रास्ते में रेल्वे लाइन पर, तथा रेल्वे लाइन से चार चार, पांच-पांच कोस के अन्तर से मेवाड़ प्रान्त के स्थानक-वासी जैनों के काफि घर हैं, ज्यों २ इन लोगों को महाराजश्री के जहा तहा पधारने की सूचना मिलती गई, ये लोग महाराजश्री के प्रवचनों का लाभ उठाते रहे। इन लोगों के दिल म अपने धर्म के प्रति श्रद्धा है और गुरु-भक्ति है।

इस प्रकार धर्म का प्रचार करते हुए लम्बा मार्ग तय कर महाराजश्री दहाणु रोड पहुँचे। यहा पर महाराजश्री ने रात्रि को सार्वजनिक व्याख्यान फरमाया। फिर दहाणु गाव पधारे। यह दहाणु रोड से ३ मील के अन्तर से है। यहा पर मारवाड़ जोधपुर पट्टी से आये हुए स्थानकवासी भाइयों क अनुमानत. ३० घर हैं जो कि साधुओं के यहा पर न आने के कारण अपने धर्म में शिथिल हो गये हैं और मूर्तिपूजक जैन समाज की तरफ से निर्मित मदिर में प्राय सब जाते हैं। किन्तु कितने ही स्त्री-पुरुषों को अब भी अपने पूर्व धर्म और स्थानकवासी साधुओं के प्रति श्रद्धा है। ३-४ घर ऐसे हैं जो अपने को स्थानकवासी मानते हैं। यहा पर महाराजश्री ने प्रात, मध्याह्नकाल और रात्रि का ३ ३ टाइम व्याख्यान दिये। लोगों को अपने पूर्व धम की स्मृति दिलाई। कालूराम आदि कई भाइयों ने प्रतिदिन एक-एक सामायिक करने की प्रतिज्ञा ली। इस वर्ष यहा पर मुनिश्री लाभचन्दजी और श्री मुनि चौथमलजी का चातुर्मास है। यह नगर समुद्र के किनारे पर है। समुद्र और बाग बगीचों के कारण अति रमणीय है।

यहां से विहार कर रास्ते में गोलवड़ में २ दिन ठहर कर धर्मोपदेश का लोगों को लाभ दिया। फिर रास्ते में एक २ दो २ व्याख्यान करते हुए "सुरत" पधारे। वहां कुछ दिन ठहर कर धर्म प्रचार किया। यहां पर स्थानकवासियों के पहले सैकड़ों घर थे, अब प्रायः श्वेताम्बर मूर्तिपूजक बन गये हैं। केवल ४०-५० घर भावसार जाति के लोगों के हैं जो धर्मध्यान में अच्छी श्रद्धा रखते हैं। यहां पर ३-४ धर्म स्थान हैं। यहां पर बम्बई से पंजाबी भाई और सौराष्ट्री भाइयों का शिष्टमण्डल तथा राजकोट का शिष्टमण्डल महाराजश्री के दर्शनार्थ आया। यहां मूर्तिपूजक जैनों का जैनागम मंदिर ताम्र पत्र लिखित देखने में आया। जो बड़े ही सुन्दर ढंग से व्यवस्थित है। मालूम हुआ है कि इस शास्त्र लेखन में १०००००० रुपये का व्यय हुआ है। यहां से विहार कर कठोर ग्राम में पधारे। यहां पर भी स्थानकवासी जैन भावसार लोग ही हैं। यहां पर धर्मोपदेश देकर आप विचरते हुए मियांगाम पहुँचे। वहां पर दरियापुरी सम्प्रदाय की महासती ताराबाईजी मिली, जो बड़ी ही विनयशील और विदुषी सती हैं। फिर विचरते हुए आप श्री बड़ौदा पधारे। वहां पर १०० घर स्थानकवासियों के हैं। यहां पर सेक्रेट्री जगजीवनभाई, वाघजीभाई, मोतीलालभाई आदि भाइयों का शिष्टमण्डल राजकोट से महाराजश्री के दर्शनार्थ आया। यहां पर ६-७ रोज धर्मोपदेश का लाभ देकर अहमदाबाद की ओर विहार किया। रास्ते में विचरते हुए आप अहमदाबाद के उपनगर मणिनगर

पहुंचे। २ दिन धर्मोपदेश का लाभ देकर अहमदाबाद के दौलतपुरा के उपाश्रय में विराजमान हुए। यहां एक सप्ताह विराजे और आपके दो सार्वजनिक व्याख्यान हुए। यहां से विहार कर शाहपुरा के उपाश्रय में जहां पर वयोवृद्ध दरियापुरि सम्प्रदाय के पूज्य श्री ईश्वरलालजी महाराज विराजमान थे, वहीं पर ठहरे। ३-४ दिन ठहर कर जनता को धर्मोपदेश का लाभ दिया और पूज्यश्री से कई बातों पर चर्चा हुई। परस्पर में वात्सल्य भाव अतिप्रशंसनीय रहा।

फिर वहां से विहार कर आप गिरधर नगर पधारे। राजकोट के सेठ केशवलालजी भाई पारक जो अहमदाबाद में कपड़े की मिल चला रहे हैं। उनकी तरफ से सार्वजनिक व्याख्यान का प्रबन्ध किया गया और वे ही नित्य प्रति व्याख्यान के पश्चात् प्रभावना बाँटते रहे। फिर वहां से आप विहार कर साबरमती पधारे। यहां पर ही महात्मा गाँधी ने सर्वप्रथम भारतवर्ष को मुक्त कराने का आंदोलन प्रारम्भ किया था। यहाँ भी आपके ५-६ व्याख्यान हुए। सेठ केशवलालजी पारक की तरफ से व्याख्यान के पश्चात् प्रभावना होती रही।

यहाँ से सेठ केशवलालजी पारक के बगले पधारे। यहां २ दिन तक विराजे, लोगों को धर्मोपदेश का लाभ दिया। फिर विहार कर "सानंद" पधारे। इस जगह आपके ३-४ सार्वजनिक व्याख्यान हुए। छोटे-मोटे गाँवों में प्रचार करते हुए आप विरम

गाँव पधारे। यहां पर दरियापुरी सम्प्रदाय की विदुषी महासती वसुमतीजी आदि साध्वियें मिलीं। उनका विनय और गुरुभक्ति का भाव बहुत प्रशंसनीय रहा। विरमगांव में ५-६ रोज व्याख्यान फरमाकर आप लखतर पधारे। रास्ते में खम्भात संम्प्रदाय की महासती शारदा बाईजी मिलीं। आप गुजरात तथा सौराष्ट्र प्रांत में अच्छी विख्यात हैं। लखतर में ४-५ व्याख्यान फरमा-कर रास्ते में धर्म-बोध देते हुए वढवाण पधारे; यहां के संघ ने आपका बड़ा ही भव्य स्वागत किया। यहां पर अनुमानतः स्था-नकवासी जैनों के ५०० घर हैं। लोगों में गुरुभक्ति और धर्म श्रद्धा विशेष देखने में आई। यहां पर महाराजश्री के एक सप्ताह तक भोजन शाला में व्याख्यान हुए, और श्रीमहावीर जयन्ती भी यहीं मनाई गई। महाराजश्री के प्रवचनों से प्रभावित होकर यहां के संघ ने जड़ोपासनारूप बनावटी चरण तथा पाटिया आदि पूजने का परित्याग किया। मुनि पुनमचन्दजी भी ठाणे २ वढवाण महाराजश्री की उपस्थिति में ही पहुँच गये। यहां से विहार कर आप जोरावर नगर पधारें वहां वयोवृद्ध कविश्री स्वामी नानकचन्दजी महाराज ठाणे ३ विराजमान थे। यहां पर राजकोट से एक शिष्टमण्डल १०-१५ भाइयों का दर्शनार्थ आपकी सेवा में उपस्थित हुआ। यहां ४-५ रोज व्याख्यान वाणी का लाभ दे सुरेन्द्रनगर पधारे। यहां पर महासती विदुषी लीलाबाईजी आदि सतियों के मिलने का समागम हुआ। महासती लीलाबाईजी की विनय और योग्यता सराहनीय है। इस

प्रात में आप बहुत विख्यात है। यहा पर बोटाद सम्प्रदाय के वयोवृद्ध पूज्य श्री मानकचन्दजी महाराज का सदेश आया कि आपसे मिलने का मेरा मन बहुत चाहता है। आप हमें मिलकर राजकोट पधारें। एक शिष्टमण्डल लीम्बडी का भी लीम्बडी पधारने की विनती करने आया। महाराजश्री रास्ते में धर्म देशना देते हुए लीम्बडी पधारे यहा पूज्य धनजी स्वामी तथा कवि श्री नानकचन्दजी महाराज ठाणे ५ पहले ही विराजित थे। भोजनशाला में व्याख्यान प्रारभ हुआ। यहा पर एक विचित्र बात देखने में आई। स्वर्गीय पूज्यश्री अजरामरजी महाराज का गद्दी के नाम से उपाश्रय म एक पाटिया बिछा हुआ है। जिसके उपर एक गदेला रूप बिस्तर बिछा रखा है उसके उपर तकिया लगा हुआ है। गद्दी के उपर मालायें पड़ी हुई हैं। उपाश्रय में आने वाले लोग इस गद्दीरूप पाटिये को नमस्कार करते हैं और यथाशक्य पैसा आदि द्रव्य भी चढाते है। महाराजश्री ने अपने प्रवचनों में इस मिथ्यात्वरूप क्रिया का विरोध किया। सुनकर जनता इतनी प्रभावित हुई कि इस प्रथा का त्याग करने के लिए तैयार हो गई। किन्तु कुछ व्यक्तियों की ओर से यह कहा गया कि अभी नगर में शादियों का बहुत जोर है। इस प्रथा का बाद में सामूहिक रूप से मीटिंग बुलाकर निराकरण कर दिया जायगा। फिर एक रोज सहज में ही महाराजश्री ने इस विषय में यहा के सघपति सेठ को कहा तो सेठजी बोले इस गद्दी की मान्यता से तो २००० रुपये की वार्षिक आमदनी होती है। इस

वैश्यपन की बात को सुनकर महाराजश्री को बड़ा ही आश्चर्य हुआ। यहां से विहार कर रास्ते में धर्म प्रचार करते हुए आप राणपुर पहुँचे। यहां पर पं० श्री घासीलालजी महाराज के शिष्य मुनिश्री कन्हैयालालजी ठाणे २ और बोटाद सम्प्रदाय के मुनि अमीचन्दजी ठाणे २ विराजमान थे। सोनगढ़ी कानजीभाई भी आये हुए थे, जो कि जैन धर्म के विशुद्ध सनातन सिद्धान्तों के प्रतिकूल प्रचार करते हैं। उनका कहना है कि तप जप, इन्द्रिय दमन रूप ये सब जड़ क्रियायें हैं। और यहां तक उनकी मान्यता है कि पांच महाव्रत भी शुभ आश्रव रूप ही है। महाराज श्री की तरफ से एक व्यक्ति द्वारा कानजी भाई को सैद्धान्तिक विषयों पर चर्चा करने के लिए चेलैंज दिया गया किन्तु उधर से कोई उत्तर नहीं मिला। यहां पर खूब जोर शोर से जिनवाणी भगवती का प्रचार हुआ। जैन समाज में जागृति की एक लहर उत्पन्न हो गई।

यहां से विहार कर आप बोटाद सम्प्रदाय के पूज्य श्री माणकचन्दजी महाराज की सेवा में पहुँचे। यहां के जैन समाज ने आपका बहुत भव्य स्वागत किया। सोनगढ़ीं कानजी भाई भी यहां पर मंदिर की प्रतिष्ठा कराने के लिए पहुँच गये और अपने सिद्धान्तों का प्रचार करने लगे। महाराजश्री के व्याख्यानों का प्रबंध भी एक विशाल पंडाल में कानजी भाई के समीप ही किया गया। कानजी भाई जो शास्त्र विरुद्ध गलत प्रचार कर रहे थे। महाराजश्री ने अपने प्रवचनों द्वारा जनता को बतला दिया

कि कानजी भाई के इस अकर्मण्यता के सिद्धान्त पर चलकर इहलौकिक और पारलौकिक कोई भी भावना नहीं की जा सकती। यहां पर १५ रोज सार्वजनिक व्याख्यान बड़े प्रभावशाली रूप में होते रहे। हजारों स्त्री पुरुषों ने व्याख्यानों का लाभ उठाया। व्याख्यान के पश्चात् प्रभावना भी होती रही। यहां पर भी राजकोट का शिष्टमण्डल महाराज श्री के दर्शनार्थ आया और उसकी तरफ से व्याख्यान के पश्चात् प्रभावना बांटी गई। यहां से विहार कर आप पालीयाद पधारे। यहां पर बोटाद सम्प्रदाय के श्री शिवदयालजी महाराज और नवीनमुनिजी आदि ३ ठाणे का मिलन हुआ। यहां पर अनुमानतः १३-१४ व्याख्यान हुए। यहां के जैनसंघ में धर्म-श्रद्धा और जागृति अच्छी है।

यहां से विहार कर आप विछिया पधारे। यहां पर आपके दरबार के कचहरी हाल में २ सार्वजनिक व्याख्यान हुए। ५-६ दिन विराजकर राजकोट की ओर विहार किया रास्ते मे दो दो, तीन तीन व्याख्यान देते हुए राजकोट से अनुमानतः १५-१६ मील के अन्तर पर एक गाव है उसमें ठहरे। यहां पर राजकोट के मुख्य २ ४०-५० व्यक्तियों का श्रावक समूह महाराजश्री के दर्शन और प्रवचन का लाभ लेने आया यहां से विहार करके आप गोविंद काका की पौषधशाला में विराजे। राजकोट संघ ने आपका बड़े समारोह के साथ स्वागत किया। यहां २ रोज विराजकर आप चातुर्मासार्थ राजकोट पधारे। जहां पर गौंडल सम्प्रदाय के स्वामी देवराजजी ठाणे २ विराजमान थे आप भी

उसी उपाश्रय में ठहरें। यहां पर जो विराणी पौषधशाला तीन चार लाख रुपये लगाकर बनाई गई है, उसका उद्घाटन था। महाराज श्री से उस अवसर पर वहां पधारने के लिए विनती की गई। महाराज श्री ने फरमाया कि साधु मकान बनाने की आरंभ-समारम्भ रूप क्रिया का अनुमोदन नहीं कर सकता। इसलिए इस अवसर पर मेरा वहां जाना उचित नहीं है। जूनागढ के वकील जेठालाल भाई के द्वारा पौषधशाला का बड़े समारोह के साथ हजारों नर-नारियों में उद्घाटन किया गया। फिर महाराज श्री कुछ दिन के बाद पौषधशाला में पधार गये और सिलसिलेवार व्याख्यान आरम्भ हुए। यहां के व्याख्यान पं० पूर्णचन्द्रजी दक ने लिखित बद्ध किये। जो अभी कच्चे रूप में हैं। महाराज श्री के नित्य प्रति प्रभावशाली दर्शन विशुद्ध आत्मक प्रवचनों को श्रवण कर यहां के हजारों स्त्री पुरुषों ने जड़ोपासनारूप मिथ्यात्व का परित्याग कर समकित शुद्ध की।

मध्याह्नकाल में गोंड़ल सम्प्रदाय के मुनि अमरचन्दजी और समरथबाई आदि महासतियों ने महाराज श्री से भगवती सूत्र के बीस शतकों का वाचन लिया। राजकोट की म्युनिसिपल्टी कमेटी की तरफ से राजकोट में रहने वाले हजारों कुत्तों की जाति को मारने की आज्ञा जारी की गई। इस बात को सुनकर महाराज श्री को बहुत ही खेद हुआ। आप श्री ने इसके विरोध में अपने प्रवचनों द्वारा और समाचार पत्रों में प्रवचनों के प्रकाशन द्वारा जबरदस्त आन्दोलन प्रारम्भ किया। जनता को बतलाया कि कुत्ता

ऐसा प्राणी है जो मानव जाति के साथ ही साथ रहता आया है। ये कोई जंगली जानवर नहीं हैं। यह स्वामी भक्त और वफादार प्राणी है। उधर जनता की तरफ से भी इस विषय में भारी आन्दोलन हुआ। कमेटी की तरफ से भंगियों को (हरिजनों को) कुत्ते मारने के लिए कहा गया। उन्होंने भी इस महापाप को करने से इन्कार कर दिया। इस आन्दोलन में गोविन्द काका जैन का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। फलतः कमेटी को यह आज्ञा वापस लेनी पड़ी। उन मूक प्राणियों को राहत मिली। महाराज श्री के प्रवचन अनेक विषयों पर होते थे। ता० २१-८-५४ शनिवार श्रीकृष्ण जन्माष्टमी के रोज भक्त और भगवान विषयक आपका एक विशेष प्रभावशाली प्रवचन हुआ। इस व्याख्यान को अति उपयोगी समझकर भाई चुन्नीलाल वोरा की तरफ से प्रेम-वाणी नामक पुस्तिका के रूप में प्रकाशित किया गया। इस व्याख्यान में महाराज श्री ने प्रभावशाली वचनों में फरमाया था कि यदि आप लोग भगवान को देखना चाहते हैं तो पहले भगवान के दुःखी भक्तों को देखो, जिन्हें ३॥ हाथ का दुःखित साकार मानव नजर नहीं आता, उन्हें निराकार भगवान कैसे नजर आ सकता है। आज मनुष्य परिग्रह संग्रहवृत्ति में लगा हुआ है। धर्म के नाम पर मन्दिरादि धर्म स्थानों में लाखों करोड़ों का द्रव्य पड़ा है! यदि वह दीन दुखियों के काम आये तो हजारों दुःखियों को दुःख से राहत मिल सकती है। जो द्रव्य मंदिरों में देव-द्रव्य नाम से पड़ा है, वह देव-द्रव्य कैसे हो सकता है? जैनागमों में तीर्थंकर

देव निष्परिग्रही माने गए हैं। जैन मूल आगमों में कहीं पर भी देव-द्रव्य का उल्लेख नहीं है। फिर भी उनके नाम से देव-द्रव्य संग्रह किया जाता है, जो उचित नहीं है। इस देव-द्रव्य विषयक प्रकरण को लेकर राजकोट के स्थानीय मूर्तिपूजक जैनों ने बहुत बड़ा विरोधात्मक आन्दोलन चलाया और कहा कि देव नाम से संगृहीत द्रव्य मन्दिरादि खर्च में ही आ सकता है। यह द्रव्य सार्वजनोपयोगी नहीं हो सकता। अनेक स्थानों से टेलीफोन, तार, पत्र आने लगे कि प्रेमचन्द्रजी महाराज देव-द्रव्य विषयक प्रेम-वाणी में प्रकाशित अपने शब्दों को वापस लें। किन्तु महाराज श्री ने विचार पूर्वक शास्त्र-सम्मान जो वचन कहे थे, उन्हें वापस लेने का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता था। 'सत्यमेव जयते' इस सिद्धान्त को लेकर आप अपना धर्म-प्रचार खूब जोर-शोर से करते रहे। फलतः मूर्तिपूजक साधु और गृहस्थों की ओर से पत्र आने लगें। जिन पत्रों में प्रकट किया गया था कि श्री प्रेमचन्जी महाराज के देव-द्रव्य विषयक प्रेम-वाणी में जो भाव छपे हैं, वह ठीक ही हैं। उनमें कोई विरोध करने की चीज नहीं है। वे पत्र अब भी सुरक्षित हैं। इस प्रकार महाराज श्री को इस विषय में विजय मिली। यदि देव-द्रव्य विषयक प्रकरण को विशेष रूप से कोई जानना चाहे तो राजकोट संघ की तरफ से जो प्रेम-वाणी विषयक स्पष्टीकरण छपा है, उसे देखने का कष्ट करें। जिसमें मूर्तिपूजक साधुओं और पण्डितों के उल्लेख हैं। जिनमें स्पष्टतया सिद्ध किया गया है कि देव-द्रव्य कोई शास्त्र-सिद्ध अनादि चीज

सार्वजनिक व्याख्यान हुए। यहाँ पर आपके चातुर्मास की विनती के लिए अलवर और जोधपुर के शिष्टमण्डल आये। और चातुर्मास की विनती की आपने फरमाया कि जोधपुर फरशाने के भाव है। वहाँ जाने पर चातुर्मास का निर्णय किया जा सकेगा। पाली से विहार कर रास्ते में धर्म प्रचार करते हुए आप जोधपुर पधारे।

घानेराव सादड़ी का संघ भी यहाँ पर चातुर्मास की विनती के लिए आया, किन्तु जोधपुर संघ का अति आग्रह और द्रव्य क्षेत्र काल भाव को देखते हुए सुखे समाधे जोधपुर का चातुर्मास स्वीकार कर लिया। जोधपुर में अनुमानतः १ मासपर्यंत धर्म प्रचार किया और आर्यकन्या पाठशाला में जैनों के सभी सम्प्रदायों की तरफ से बड़े समारोह के साथ सामूहिक रूप से श्री महावीर जयन्ती मनाई गई। जिसमें आपका भगवान् महावीर जीवन जियन विषयक एक विशेष प्रभावशाली व्याख्यान हुआ।

वहाँ से विहार कर आप सरदारपुर पधारे। वहाँ पर श्री पूर्णवावाजी महाराज भी ठा.णे ३ पधार गये। सरदारपुरा में अनुमानतः ६-१० व्याख्यान फरमाकर आप महामन्दिर पधारे। वहाँ पर आपके १ सप्ताह तक सार्वजनिक व्याख्यान धर्मशाला में हुए। विहार कर विचरते हुए आप पीपाड़ पहुँचे। २२-२३ रोज विराजकर धर्मोपदेश दिया। फिर रास्ते में धर्म प्रचार करते हुए भोपालगढ़ (बड़लू) पधारे। वहाँ २४-२५ रोज विराजे। बाजार

में २ सार्वजनिक व्याख्यान हुए। यहाँ पर लोगों में अच्छी श्रद्धा है। दर्श-विशुद्धि विषयक प्रवचनों से प्रभावित होकर कितने ही लोगों ने मिथ्यात्व का परित्याग किया। यहाँ पर एक जैन विद्यालय चलता है, जिसके विद्यार्थी सामायिकादि अच्छे रूप में करते हैं।

यहाँ से विहार कर आप पुनः महा मन्दिर पधारे। ५-६ दिन महामन्दिर विराज कर, फिर चातुर्मासार्थ जोधपुर पधारे। यहाँ पर आपके सिलसिलेवार प्रवचन प्रारम्भ हुए। जनता भारी संख्या में आपके प्रवचनों का लाभ उठाने लगी। जनता पर आपके प्रवचनों का इस प्रकार प्रभाव पड़ा कि व्याख्यान में किसी प्रकार का कोलाहल और विक्षुब्ध वातावरण नहीं हो पाता था। आपने प्रातः काल के व्याख्यान में श्री प्रश्न व्याकरणजी सूत्र की व्याख्या इस प्रकार गुत्थियें खोल २ कर की जिसे साधारण से साधारण व्यक्ति भी सहज में ही समझ सकता था। प्रवचन करते हुए जनता को बतलाया कि इस शास्त्र के पहले प्राणातिपात नामक आश्रवद्वार में भगवान् श्री महावीर ने स्पष्टतया फरमाया है कि धर्म हेतु या चैत्य हेतु जो लोग पृथ्वी कायादि छः कायिक जीवों का हिंसा करते हैं उन्हें भविश्य में उसका अहित और अबोधरूप महान् कटुफल मिलता है।

जनता ने इस प्रकार के हृदय-स्पर्शि प्रवचनों को सुन कर भारी संख्या में मिथ्यात्व का त्याग किया और समकित की शुद्धि

नहीं है। यह तो पीछे से चालू किया गया है। आनन्द पूर्वक स० २०११ राजकोट का चातुर्मास पूर्ण कर बड़े समारोह के साथ आप बाहर जैन बोर्डिंग में पधारे। दो व्याख्यान देकर फिर गोविन्द काका के व्याख्यान भवन में पधारे। यहाँ पर आपके पैर में चोट आने के कारण एक सप्ताह रुकना पड़ा। व्याख्यान वाणी की खूब रानक रही। प० श्री घासीलालजी महाराज का पत्र आया कि मैं आपसे मिलना चाहता हूँ। महाराज श्री पैर की तकलीफ पूर्ण रूप से ठीक न होते हुए भी २४-२५ मील का विहार कर गोंडल पधारे। यहाँ पर विराजित वयोवृद्ध गोंडल सम्प्रदाय के पूज्य श्री पुरुषोत्तमदासजी महाराज के दर्शनों का सौभाग्य प्राप्त हुआ। अनुमानतः ६० मील का लम्बा सफर कर प० श्री घासीलालजी महाराज भी ठाणे ३ से पधार गये। तीनों मुनियों के तेले किये हुए थे। हरएक पखी को आपके साधु सब प्रायः तेले का तप किया करते हैं। परस्पर में बड़ा प्रेम-भाव रहा। श्रमण संघ विषयक कई प्रकार की चर्चाएँ चली। महाराज श्री के शुद्ध हृदय से निकले हुए विचारों को सुनकर प० श्री घासीलालजी महाराज बहुत-सी बातों के लिए सहमत हुए। राजकोट में दो बहिनों की दीक्षा होने वाली थी। पूज्य श्री पुरुषोत्तमदासजी महाराज ने आपको आग्रह भरे शब्दों में कहा कि आपको दीक्षा के समय राजकोट जरूर पधारना होगा। महाराज श्री पुनः दीक्षा के अवसर पर राजकोट पधारे। बड़े समारोह के साथ दोनों दीक्षा हुई। यहाँ पर दरियापुरी सम्प्रदाय के मुनि श्री सायचन्दजी

महाराज व ठाणे २ और लीम्बड़ी सम्प्रदाय के पं० श्री केशवलालजी महाराज ठाणे ३ और मुनि श्री देवराजजी ठाणे २ पूज्य श्री पुरुषोत्तमदासजी महाराज आदि मुनिमण्डल में खब धर्म प्रेम और परस्पर में ज्ञान चर्चा आदि होती रही। खूब ही आमोद प्रमोद रहा। यहाँ से विहार कर विचरते हुए आप वाँकानेर पधारे। वहाँ पर लीम्बड़ी सम्प्रदाय के वयोवृद्ध श्री शामजी स्वामी और श्री मुनि रूपचन्दजी स्वामी ठाणे ५ का समागम हुआ। यहाँ पर महाराज श्री के अति ओजस्वी और प्रभावशाली ३ प्रवचन हुए, जिससे जनता बहुत ही प्रभावित हुई।

यहाँ से विहार कर आप थानगढ़ पहुँचे। यहाँ पर आपके २-३ प्रवचन हुए। फिर विहार कर सुरेन्द्रनगर पधारे। वहाँ एक व्याख्यान देकर वढवाण नगर पधारे। यहाँ पर २-३ व्याख्यान देकर लखतर होते हुए विरम गाम पधारे। वहाँ पर ५-६ व्याख्यान देकर लम्बा मार्ग तय करते हुए आप सिद्धपुर पहुँचे। यहाँ पर २ व्याख्यान देकर पालनपुर पधारे। वहाँ पर ४-५ प्रवचन हुए। फिर लम्बे विहार करते हुए घानराव साःड़ी पधारे। आपका हाईस्कूल में १ सार्वजनिक व्याख्यान हुआ। ५-६ रोज धर्मोपदेश देकर आप जवाली, वूसी आदि गाँवों में धर्मोपदेश देते हुए पाली पधारे। वयोवृद्ध मुनि श्री शार्दूलसिंहजी महाराज ठाणे ५, प० श्री कस्तूरचन्दजी महाराज ठाणे ४ पहिले ही विराजमान थे मुनि मूलचन्दजी और तपस्वी मोहन-मुनिजी भी ठाणे ५ पधार गये। आपके धानमंडी में २

सार्वजनिक व्याख्यान हुए। यहाँ पर आपके चातुर्मास की विनती के लिए अलवर और जोधपुर के शिष्टमण्डल आये। और चातुर्मास की विनती की आपने फरमाया कि जोधपुर स्पर्शने के भाव हैं। वहाँ जाने पर चातुर्मास का निर्णय किया जा सकेगा। पाली से विहार कर रास्ते में धर्म प्रचार करते हुए आप जोधपुर पधारे।

घानेराव सादड़ी का संघ भी यहाँ पर चातुर्मास की विनती के लिए आया, किन्तु जोधपुर संघ का अति आग्रह और द्रव्य क्षेत्र काल भाव को देखते हुए सुखे समाधे जोधपुर का चातुर्मास स्वीकार कर लिया। जोधपुर में अनुमानतः १ मासपर्यंत धर्म प्रचार किया और आर्यकन्या पाठशाला में जैनों के सभी सम्प्रदायों की तरफ से बड़े समारोह के साथ सामूहिक रूप से श्री महावीर जयन्ती मनाई गई। जिसमें आपका भगवान् महावीर जीवन विषयक एक विशेष प्रभावशाली व्याख्यान हुआ।

यहाँ से विहार कर आप सरदारपुर पधारे। यहाँ पर श्री पूर्णचन्द्रजी महाराज भी ठाणे ३ पधार गये। सरदारपुरा में अनुमानतः ६-१० व्याख्यान फरमाकर आप महामन्दिर पधारे। यहाँ पर आपके १ सप्ताह तक सार्वजनिक व्याख्यान धर्मशाला में हुए। विहार कर विचरते हुए आप पीपाड़ पहुँचे। २२-२३ रोज विराजकर धर्मोपदेश दिया। फिर रास्ते में धर्म प्रचार करते हुए भोपालगढ़ (बड़लू) पधारे। यहाँ २४-२५ रोज विराजे। बाजार

में २ सार्वजनिक व्याख्यान हुए। यहाँ पर लोगों में अच्छी श्रद्धा है। दर्श-विशुद्धि विषयक प्रवचनों से प्रभावित होकर कितने ही लोगों ने मिथ्यात्व का परित्याग किया। यहाँ पर एक जैन विद्यालय चलता है, जिसके विद्यार्थी सामायिकादि अच्छे रूप में करते हैं।

यहाँ से विहार कर आप पुनः महा मन्दिर पधारे। ५-६ दिन महामन्दिर विराज कर, फिर चातुर्मासार्थ जोधपुर पधारे। यहाँ पर आपके सिलसिलेवार प्रवचन प्रारम्भ हुए। जनता भारी संख्या में आपके प्रवचनों का लाभ उठाने लगी। जनता पर आपके प्रवचनों का इस प्रकार प्रभाव पड़ा कि व्याख्यान में किसी प्रकार का कोलाहल और विक्षुब्ध वातावरण नहीं हो पाता था। आपने प्रातः काल के व्याख्यान में श्री प्रश्न व्याकरणजी सूत्र की व्याख्या इस प्रकार गुत्थियें खोल २ कर की जिसे साधारण से साधारण व्यक्ति भी सहज में ही समझ सकता था। प्रवचन करते हुए जनता को बतलाया कि इस शास्त्र के पहले प्राणातिपात नामक आश्रवद्वार में भगवान् श्री महावीर ने स्पष्टतया फरमाया है कि धर्म हेतु या चैत्य हेतु जो लोग पृथ्वी कायादि छः कायिक जीवों का हिंसा करते हैं उन्हें भविश्य में उसका अहित और अबोधरूप महान् कटुफल मिलता है।

जनता ने इस प्रकार के हृदय-स्पर्शि प्रवचनों को सुन कर भारी संख्या में मिथ्यात्व का त्याग किया और समकित की शुद्धि

की। मध्याह्नकाल में आप श्री से कई श्रावक श्राविकाओं ने पूर्ण भगवती सूत्र का वाचन लिया। मेरवाड़ा, मारवाड़, मेवाड़, मालवा, खानदेश, महाराष्ट्र गुजरात, सौराष्ट्र, आदि देशों में चार वर्ष के काल में विचर कर जिन वाणी का खूब प्रचार किया और जिन शासन की उन्नति की।

पं० श्री घासीलालजी महाराज द्वारा रचित और समर्पित

पञ्जाबकेशरी—पण्डितप्रवर श्री प्रेमचन्द्रजी महाराजाष्टकम्

(भुजङ्गप्रयातम्)

अतन्द्रोगुणैः सिद्ध हस्तो मुनीन्द्रो,
नरेन्द्रादिभिः सेवितांह्रिद्वयाब्जः ।
मुनिः प्रेमचन्द्रो यशः शुद्धमेति,
ततः केशरीति प्रसिद्धिं प्रयातः ॥१॥

(हरिगीतिकाच्छन्दः)

यह वीततन्द्र गुणावली से सिद्धहस्तमुनीन्द्र हैं,
जिनके चरणयुगकमल में नमते विनम्र नरेन्द्र हैं ।
श्री प्रेमचन्द्र मुनीश निर्मलकीर्ति से विख्यात हैं ।
इससे मुनीश्वर केसरीपद से हुए प्रख्यात हैं ॥१॥

(२)

क्षमाखड्गमादाय शिष्टानुचारी,
विहारीविचारी सदाचारधारी ।
सुधर्माभिरामे वने यद् विहारी,
ततः केशरीति प्रसिद्धिं प्रयातः ॥२॥

लेकर क्षमा तलवार शिष्टाचार करते आप हैं,
संयम-विहार-विचार-साध्वाचारकारी आप हैं ।

जिससे मनोहर धर्मरूपी वनविहारी ख्यात हैं,
इससे मुनीश्वर केसरीन्द से हुए प्रख्यात हैं ॥२॥

(३)

अपूर्वप्रभाव जिनेन्द्रोक्ततत्त्व,
मनेकान्तवाद निराबाधतत्त्वम् ।
प्रवक्तीह लोके विशुद्धाच्च भावात्,
ततः केशरीति प्रसिद्धि प्रयातः ॥३॥

जिनवर कथित अतिमहिमशाली तत्व जो निर्बाध हैं,
मुनिराज ! इस स्याद्वाद के वक्ता अतीव अगाध हैं ।
इस लोक में शुभभाव से मुनिनाथ अति विख्यात हैं,
इससे मुनीश्वर केसरी पद से हुए प्रख्यात हैं ॥३॥

(४)

अपाकृत्य भाव जनानामशुद्ध,
विशुद्ध तमाविष्करोतीह तेषाम् ।
अपूर्वा रुचि धर्ममार्गे तनोति,
ततः केशरीति प्रसिद्धि प्रयातः ॥४॥

हर एक जनका भाव दूषित हर उसे फिर शुद्ध भी,
करते सदा मुनिराज आप स्वय हृदय को शुद्ध भी ।
फिर धर्म में रुचि भी जगाते रुचिरतर विख्यात हैं,
इससे मुनीश्वर केसरी पद से हुए प्रख्यात हैं ॥४॥

(५)

विहीनं जनं ज्ञानमुख्यैर्गुणैस्तं,
करोति प्रकृष्टं विशिष्टं पुनस्तैः ।
परस्योपकारं करोत्यत्युदारं,
ततः केशरीति प्रसिद्धिं प्रयातः ॥५॥

ज्ञानादि गुणगण से रहित जन को गुणों से पूर्ण हैं,
करते अधिकतर आप खुद सब सद्गुणों से पूर्ण हैं ।
फिर और के उपकार करने में महाविख्यात हैं,
इससे मुनीश्वर केसरी पद से हुए प्रख्यात हैं ॥५॥

(६)

निराधारजन्तोः सदाधारभूतो,
भवारण्ययातस्य मार्गोपदेष्टा ।
महामोहनिद्रागतस्य प्रबोधी,
ततः केशरीति प्रसिद्धिं प्रयातः ॥६॥

आधार रहित समस्त जनके सर्वदा आधार हैं,
भव रूप वन में घूमते को मार्ग दर्शक सार हैं ।
अतिमोह निद्रागत जनों के बोधने में ख्यात हैं,
इससे मुनीश्वर केसरी पद से हुए प्रख्यात हैं ॥६॥

(७)

यथा भाति नक्षत्रवृन्देन चन्द्र-
स्तथा शिष्यसंघेन सम्यग्विभाति ।

सदा शास्त्र रूपाटवी चारिचित्त:;
तत: केशरीति प्रसिद्धिं प्रयात: ॥७॥

नक्षत्र गरण से शोभते हैं चन्द्रमा नभ में यथा,
निज शिष्यगरण से गच्छ में हैं शोभते अतिशय यथा।
फिर शास्त्र वन विहरण परायरण हृदय से विख्यात हैं;
इससे मुनीश्वर केसरी पद से प्रख्यात हैं ॥७॥

(८)

विहारं विहारं सदानेक देशान्;
जनस्योपकारं महान्तं करोति।
प्रचार च धर्मस्य सर्वोत्तमस्य,
तत: केशरीति प्रसिद्धिं प्रयात: ॥८॥

फिर उग्र उग्र विहार कर जो सर्वदा प्रति देश में,
जन जात के उपकार कर्त्ता मग्न हैं मुनिवेष में ॥
सब से रुचिर जो धर्म है उसके प्रचारक ख्यात हैं,
इससे मुनीश्वर केसरी पद से हुए प्रख्यात हैं ॥८॥

(९)

चासीलालकृतं स्तोत्रं, य: पठेच्छ्रणुयादपि।
प्राप्नोति सुलभ बोधिं, सर्वथा सर्वभावत: ॥९॥

॥ श्री रस्तु ॥

दृश्य और द्रष्टा

सुखाभिलाषी भव्यात्माओ !

यह बात सर्वसम्मत, निर्विवाद और निश्चित है कि विश्व के सब चराचर प्राणी विकास के अभिलाषी हैं। सब प्राणी अपने-आपको उन्नत, विकसित और सर्वोपरि देखना चाहते हैं। जीवन का उत्तरोत्तर विकास प्रत्येक प्राणी का उद्देश्य और लक्ष्य होता है। आत्मा अपने सहज स्वरूप से ऊर्ध्वगामी है। अतएव प्रत्येक आत्मा में उन्नति, अभ्युदय और उत्थान की उत्कंठा होती है। यह उत्कंठा, यह आकांक्षा, यह भावना और यह विकास की तड़फ सर्वथा स्वाभाविक है क्योंकि यह अन्तर की तरंग है। प्रत्येक प्राणी के अन्तःस्थल में विकास की तरंग उठती है। हर श्वास के साथ विकास की कामना रही हुई है। दूसरे रूप में कहा जाय तो विकास ही जीवन का प्रतिभास है।

यद्यपि विकास की कामना और भावना प्रत्येक प्राणी में बलवती होती है तदपि सबका विकास नहीं हो जाता। चाहने मात्र से किसी वस्तु की प्राप्ति नहीं होजाया करती। चाह का होना और चीज है और जीवन को उन्नत करना दूसरी चीज है। चाह करने में कोई जोर नहीं पड़ता। परन्तु विकास करने के लिए

उचित पुरुषार्थ की आवश्यकता होती है। हतोत्साही, निराश, पुरुषार्थविहीन और आलसी व्यक्ति पड़े-पड़े केवल चाह किया करते हैं; वे वस्तु की प्राप्ति के हेतु उद्योग नहीं करते तो उन्हें वह इष्ट वस्तु प्राप्त नहीं होती। जिसके जीवन में पुरुषार्थ है, प्रयत्न-शक्ति है वही इष्ट वस्तु की प्राप्ति कर सकता है और उसका उपभोक्ता हो सकता है। किसी पुरुषार्थविहीन आलसी को कोई वस्तु देदी जाय तो भी वह उसका ठीक उपभोग नहीं कर सकता। किसीने उसे खाने के लिए भोजन और पहनने के लिए वस्त्र दे दिया परन्तु खाना चबाना और वस्त्र पहनने का उद्यम करना तो उसका ही काम है। जो व्यक्ति उद्यमी नहीं है वह वस्तुतः उपभोक्ता भी नहीं होता। तात्पर्य यह है कि जीवन को विकसित करने के लिए पुरुषार्थ करने की आवश्यकता है। बिना पुरुषार्थ और प्रयत्न किये जीवन विकसित नहीं होता। अतएव विकास के अभिलाषी आत्माओं को उचित पुरुषार्थ का अवलम्बन लेना चाहिए।

भव्य आत्माओ! विकासोन्मुख चेतना के धारको ! यह पुरुषार्थ कहीं बाहर से नहीं लाना है। आप में पुरुषार्थ और शक्ति का अनन्त और अक्षय स्रोत है। प्रत्येक आत्मा में उत्थान, कर्म, पुरुषकार और बलवीर्य है। उसे प्रकट करने की आवश्यकता है। महापुरुष अपने बल से ही उत्तरोत्तर आगे बढ़े हैं और अपने जीवन-स्तर को ऊँचा उठाया है। जिन अर्हन्त देव की प्रारम्भ में हम सबने स्तुति की है उन्होंने भी

अपने पुरुषार्थ को प्रकट करके ही इतनी उच्च भूमिका प्राप्त की है। वे भी किसी समय साधक और आराधक थे परन्तु अपने प्रबल पुरुषार्थ को प्रकट करने से वे इतनी सर्वोच्च स्थिति पर पहुँच गये कि वे स्वयं आराध्य बन गये। हम सबके लिए वे पूज्य, आराध्य और स्तुत्य बन गये। हम सब उनकी स्तुति करते हैं, उनका गुणगान करते हैं। यह भी अपने जीवन को उन्नत बनाने का एक साधन है। जीवन के विकास में विकसित और प्रबुद्ध आत्माओं की स्तुतिरूप ध्वनि का बड़ा महत्व है। ऐसी ध्वनियों से—ऐसी वाणी से जीवन प्रशस्त और उन्नत बनता है।

जीवन के विकास में वाणी का भी विशेष महत्व है। वाणी में वह शक्ति है जो मुर्दे दिलों में नव जीवन का संचार कर देती है, जो कर्मक्षेत्र से भागते हुए व्यक्तियों में आशा और उत्साह की लहर पैदा कर देती है, जो भोग-वासनाओं के कीचड़ में फंसे हुए मनुष्यों के हृदयों में वैराग्य के अंकुर प्रकट कर देती है। वाणी और पानी का असर आये बिना नहीं रहता। जहां अच्छी श्रुतियां, ललित शब्दावलियां और मनोहर सूक्तियां सुनाई पड़ती हैं वहां हृदय में प्रशस्त भाव पैदा होते हैं इसीलिए तो धर्म-स्थानकों में प्रभु की प्रार्थना और धर्मोपदेश होता है। यह प्रार्थना और उपदेश रूप ध्वनियां जीवन को उन्नत और प्रशस्त करने वाली होती हैं।

जिस प्रकार शरीर पर स्निग्ध या रूक्ष भोजन का असर होता है उसी तरह हृदय पर शुभ या अशुभ वाणी का असर होता है।

शरीर में मुखमार्ग से पौष्टिक पदार्थ जाते हैं तो शारीरिक बल और मस्तिष्क-बल की वृद्धि होती है। सूखे-लूखे पदार्थों से पेट भर जाता है परन्तु पौष्टिकता नहीं आती। कई पदार्थ ऐसे भी होते हैं जो शरीर में प्रविष्ट होकर विकृति पैदा करते हैं। मतलब यह है कि मुख-मार्ग से जैसा भोजन शरीर को प्राप्त होता है वैसा अच्छा या बुरा असर शरीर पर पड़ता है। इसी तरह वाणी-श्रवण का द्वार कान है। कान के द्वारा वाणी हृदय में प्रवेश पाती है। पौद्गलिक तत्त्व भोजन शरीर में प्रवेश पाकर अपना असर बतलाता है तो कर्ण-विवरों से हृदय में पहुँचने वाले शब्द हृदय पर अवश्य अपना प्रभाव डालते हैं। भोजन-पानी का असर शरीर पर होता है तो वाणी का असर हृदय पर होता है। कभी कभी ऐसा भी होता है कि पौष्टिक पदार्थ खाने पर भी कोई-कोई व्यक्ति कमजोर बना रहता है। वे पौष्टिक पदार्थ उसको माफिक (अनुकूल) नहीं होते। इसका अर्थ यह नहीं कि पौष्टिक पदार्थों में कुछ दोष है। यह तो उस व्यक्ति के शरीर में रही हुई व्याधि का अथवा पाचन-शक्ति की न्यूनता का परिणाम होता है। जिसमें पाचन करने की शक्ति होती है उसके लिए ही पौष्टिक पदार्थ पुष्टिकर होते हैं। शक्ति को शक्ति मिलती है, बल को बल मिलता है, माया को माया मिलती है।

प्रत्येक क्षेत्र में बल की आवश्यकता होती है। चाहे कर्म-साधना का क्षेत्र हो चाहे धर्म-साधना का-सर्वत्र बल की दरकार है। शक्ति के बिना न व्यावहारिक प्रयोजन की सिद्धि होती है और न

धार्मिक सिद्धि ही प्राप्त की जा सकती है। इसीलिए कहा जाता है:—

पहला सुख निरोगी काया, दूजा सुख घर में माया

जिसका शरीर रोग-रहित और स्वास्थ्य सम्पन्न है तो भले ही उसके पास धन के भण्डार न हों, शाही महल न हों, ऐश के सामान न हों वह स्वस्थ व्यक्ति सुखमय जीवन जी सकता है और धर्म-कर्म की समुचित साधना कर सकता है। इसके विपरीत, घर में धन के भंडार भरे हों, शाहीमहल रहने के लिए हो, विम्बोष्ठियाँ मनोरंजन करने वाली हों, भोगोपभोग के सब साधन विद्यमान हों, "खम्मा खम्मा" की आवाज लगाने वाले नौकर-चाकर सेवा में खड़े हों परन्तु घर का स्वामी बीमार होकर खाट पर पड़ा हो तो कहिये क्या वह सब सामग्री उसके लिए सुखरूप होगी ? नहीं। वह इन्द्रिय-सुखों की सामग्री, वह सुख के स्रोत समझे जाने वाले साधन उसके लिए दुःख-वृद्धि के साधन बन जाते हैं। उन साधन-सामग्रियों को देख-देख कर वह झूरता है। बड़ी उमंग और प्रयत्न से जुटाई हुई सामग्री का भोग करने में जब वह अपने आपको असमर्थ पाता है तो उसे मार्मिक पीड़ा होती है। वह सतृष्ण दृष्टि से उस साधन-सामग्री को देख-देख कर दुखी होता है। वह सोचता है-मैंने बड़े प्रयत्न और उत्साह से ऐश-आराम के ये साधन जुटाये परन्तु हाय, मैं इनका उपभोग नहीं कर सकता ! मुझ से वह मजदूर अच्छा और सुखी है जो तन्दुरुस्त है, समय पर खाता-कमाता है। तात्पर्य यह है कि शरीर में रोग होने पर

सुखोपभोग के सब साधन उस रोगी के हृदय म टीस और कसक पैदा करते हैं। वस्तुत पदार्थों में सुख-दु ख नहीं रहा हुआ है। सुख-दु ख की अनुभूति का आधार चित्त-वृत्ति है। दुनियाँ पदार्थों मे सुख मान कर उन्ह जुटाने के लिए जी जान से पीछे पड़ी हुई है परन्तु भोली दुनिया यह नही समझती कि जिसने प्रभूत साधन जुटा लिये वह इन विपुल ऐश-आराम के साधनों के बावजूद भी अपने आपको अनाथ, अशरण और दुखी अनुभव करता है। यह है धन-दौलत, ऐश-आराम के पदार्थों की अशरणता और अनाथता। कुटुम्ब-परिवार, स्वजन परिजन आदि टुकुर-टुकुर देखते हैं परन्तु वे भी उस व्याधिग्रस्त व्यक्ति की पीडा को मिटाने म समर्थ नही होते। अतएव तन-धन और जन कोई भी शरण रूप नहीं त्राणभूत नहीं। इनको प्राप्त कर लेने पर भी प्राणी अनाथ और अशरण बना रहता है।

अनाथी मुनि का उदाहरण सामने है। मुनि बनने से पहले उन्हें किसी भी प्रकार के सासारिक सुख-साधनों की कमी न थी। उनके पिता का नाम प्रभूत धन सचय था। सचमुच उन्होंने विपुल धन राशि उपार्जित और सचित कर रखी थी। उनके पास इतने विपुल प्रमाण में हीरे जवाहरात रत्नादि थे कि उनसे कई हाथी ढँके जा सकते थे। ऐसे प्रभूत धन सचय सेठ के उत्तराधिकारी को भला किस वस्तु की कमी हो सकती थी? सब साधन सुलभ थे। सयोगवशात् उनकी आँख में विपुल पीडा उत्पन्न हो गई। अक्षि-पीड़ा से वे पीड़ित व्यथित और उद्विग्न हुए। भाँति भाँति

के उपचार किये गये। भला ऐसे समृद्ध परिवार में इकलौते पुत्र की व्याधि के उपचार में किस बात की कमी रह सकती थी! पिता ने पानी की तरह पैसा बहाया! वैद्यों हकीमों और चिकित्सकों से कह दिया था कि मैं उसे सर्वस्व दे दूंगा जो मेरे पुत्र को व्याधि से मुक्त कर दे। मैं विदेश चला जाऊँगा, भीख माँग लूंगा, सर्वस्व अर्पण कर दूंगा उसके चरणों में जो मेरे पुत्र की पीड़ा को मिटा दे।

सब तरह के उपाय आजमा लिये गये। कोई कारगर नहीं हुआ। ज्यों ज्यों दवा की मर्ज बढ़ता ही गया! विपुल वेदना होती थी। सब माता-पिता, पत्नी आदि स्वजन, कुटुम्बीजन, दास दासी रोते थे परन्तु कोई उनकी व्याधि को मिटाने में समर्थ नहीं हुआ। सब टुकुर-टुकुर दुःख भरी दृष्टि से देखते थे परन्तु सब लाचार थे। सब असमर्थ थे। सब अपने आपको अनाथ और अशरण मानते थे। विपुल धन के भाण्डार किसी काम में नहीं आये, स्वजन-परिजन कुछ न कर सके, वैद्य हकीमों ने हाथ टेक दिये। उस अवस्था में उन्हें भान हुआ कि मैं धन-दौलत के अखूट भण्डारों के होने पर भी अनाथ हूँ, पिता-माता पत्नी आदि स्वजनों के रहते हुए भी अनाथ हूँ, यह धन-दौलत, यह परिवार त्राण रूप नहीं, शरण रूप नहीं। मैं अनाथ हूँ, कोई मुझे इस पीड़ा से मुक्त करने में समर्थ नहीं है।

इस प्रकार तन-धन-जन की अनाथता का भान हुआ। अनाथता का भान होने के साथ ही सनाथ बनने की प्रबल उत्कंठा

ना उत्पन्न हुई। विचारधारा ने मोड़ खाया। "तन-धन-जन आदि बाह्य पदार्थ मेरे त्राण-शरण भूत नहीं हो रहे हैं तो मैं क्यों न आभ्यन्तर वस्तु की शरण लूँ? क्यों मैं दूसरे की आशा करूँ? क्यों मैं दूसरे की सहायता चाहूँ? मैं अब तक यह मानता था कि कोई दूसरा मुझे इस पीड़ा से मुक्त कर देगा परन्तु यह भ्रमणा थी। मैं स्वयं अपना नाथ बनूँ। ये सब स्वयं अनाथ हैं। ये क्या मेरी सहायता कर सकेंगे? मुझे स्वयं अपना नाथ बन जाना है। यदि मैं इस पीड़ा से मुक्त हो जाऊँ तो इन बाह्य पौद्गलिक अशरणभूत धन जन के बन्धनों को तोड़ कर शान्त-दान्त आत्म गवेषक मुनि बन जाऊँगा।" इस प्रकार के विचार होते ही पीड़ा शान्त हो गई और आराम की नींद आ गई। भौतिक उपाय व्यर्थ सिद्ध हुए और आन्तरिक औषधि शुद्ध भावना ने चमत्कार बताया। प्रभूतधन सम्पन्न सेठ के उत्तराधिकारी अनाथी मुनि बन गये। वे अनाथ से सनाथ हो गये। आत्म-भावना में लीन हो गये।

किसी समय विशाल मगध साम्राज्य का अधिपति सम्राट श्रेणिक विहार यात्रा के लिए निकला। मार्ग में उसने आम [illegible] में ध्यान मग्न अनाथी मुनि को देखा। मुनि के अनुपम लावण्य, तप की जाज्वल्यमान ज्योति, और प्रसादमयी सौम्य एवं शान्त मुख-मुद्रा को देखकर राजा श्रेणिक बहुत प्रभावित हुआ। वह उस अनुपम रूप को देखकर रुक जाता है। त्याग एवं तपश्चर्या में बड़ी शक्ति है। बड़ी बड़ी शक्तियाँ भी यहां रुक जाती हैं। [illegible] तक शक्ति के आगे सब भौतिक शक्तियाँ पराजित हो

जाती हैं। आत्मिक लावण्य के सामने पौद्गलिक लावण्य किसी गिनती में नहीं। आत्मिक सौन्दर्य में कोई अनूठा आकर्षण होता है। यह दृश्य बड़ा अलौकिक और अनुपम होता है। इस अलौकिक दृश्य को देखने वाला दृष्टा भी अलौकिक होना चाहिए।

सिनेमा के शौकिन लोग विविध दृश्य (नज़ारे) देखते हैं। फिल्म भी नई हो और देखने वाला भी होश-हवास में हो तो उसका आनन्द आता है। तन्मय और तल्लय हुए बिना दृश्य का आनन्द नहीं आता। आँखों से दृश्य दिखलाई पड़ते भी यदि ध्यान कहीं अन्यत्र है तो उस दृश्य से कोई आनन्द प्राप्त नहीं होता। प्लेटें गुज़र रही हैं, नज़ारे बदल रहे हैं, चर्म चक्षु उन्हें देख रहे हैं परन्तु अन्दर की आँखें यदि अन्यत्र हैं तो उस दृश्य से आनन्द नहीं प्राप्त किया जा सकता। स्थूल दृश्य के सम्बन्ध में भी तन्मयता और तल्लयता की आवश्यकता है तो रूहानियत (आध्यात्मिकता) के सूक्ष्म दृश्यों का आनन्द लेने के लिए कितनी तन्मयता होनी चाहिए। तन्मयता के बिना किसी भी वस्तु से आनन्द नहीं प्राप्त किया जा सकता। प्रत्येक विषय का आनन्द मनोवृत्ति पर निर्भर है। भोजन स्वादिष्ट हैं परन्तु खाने वाले का ध्यान बम्बई की दुकान पर है तो उसे क्या भोजन का आनन्द आएगा ? धन वालों और अधिक धंधे वालों पर बड़ी बुरी गुज़रती है। इधर भोजन की थाली परोसी हुई है और उधर टेलीफोन की घन्टी होती है। थाली छोड़कर टेलीफोन संभालना पड़ता है ! ज़बान भोजन का स्पर्श कर रही है परन्तु ध्यान अन्यत्र है तो

भोजन का आनन्द अनुभव नहीं होगा। इसको जानना जबान का विषय है परन्तु जबान तो मुर्दे के भी होती है। मुर्दे की जीभ पर चीज रखने से वह रस का अनुभव नहीं कर सकती। इससे स्पष्ट है कि इन्द्रियों के साथ बाह्य पदार्थों का सम्बन्ध होने पर भी यदि चित्तवृत्ति दूसरी तरफ है तो उनका अनुभव और आनन्द नहीं प्राप्त हो सकता है। भौतिक पदार्थों का आनन्द भी मन लगाये बिना नहीं आता तो आत्मा का आनन्द तन्मय और तल्लीन हुए बिना कैसे प्राप्त हो सकता है?

आध्यात्मिक आनन्द का अनुभव करने के लिए आभ्यन्तर इन्द्रियों की जागृति होनी चाहिए। अन्दर की आँखें खोले बिना यह अनुपम दृश्य नहीं देखा जा सकता। बाहरी फिल्म गाना गा देगी, गाना तराना सुना देगी परन्तु समझ और समझा कौन सकता है? वह जड़ मशीन समझ और समझा नहीं सकती। समझने और समझाने वाला चेतन ही हो सकता है। हाँ, तो दृश्य भी अलौकिक चाहिए और द्रष्टा भी अलौकिक होना चाहिए। ऐसे अलौकिक दृश्य, ऐसी अनूठी मिनेरी बहुत विरल होती है! दर्शक और तमाशबीन बनना सरल है परन्तु स्वयं दृश्य बन जाना आसान नहीं है। कवि कहता है:—

'एक गुल पर हो फिदा बुलबुल! तू हरजाई न बन।
खुद तमाशा बन मगर दुनिया तमाशाई न बन॥

कवि रूहानियत की उड़ान लगाकर गजब कर गया! मस्तिष्क रूपी महासागर से न जाने कब कोई अनमोल मोती निकल आता

है! कवियों की बात कुछ निराली ही होती है। ये नदी-नालों, पहाड़ों और पक्षियों से भी बातें कर लेते हैं। कवि बुलबुल को लक्ष्य करके कहता है—

अये खिले हुए फूलों पर चहचहाने वाली बुलबुल! तू गुलाब के फूल पर आ गई है तो अब अन्यत्र जाने की चाह मत कर। ए बुलबुल! तू हर जगह भटकने वाली न बन; एक फूल पर फ़िदा हो जा। फ़िदा होने के पहले बाग-बगीचों में घूम-घूम कर खूब देख ले, परख ले; जब तुझे विश्वास हो जाय कि यहाँ सुगन्ध भी है और सौन्दर्य भी है तो तू उस पर न्यौछावर हो जा! फिर तमाशबीन की तरह दूसरी जगह भटकने की इच्छा न कर। खुद तमाशा बन जा।

सज्जनों! तमाशबीन (दर्शक) बनने का कोई खास महत्त्व नहीं है। महत्त्व तो है तमाशा बन जाने में। तमाशबीन बनने में केवल आठ आना, बारह आना, रुपया दो रुपया लगता है परन्तु तमाशा बनने-बनाने में (फिल्म तैयार करने में) लाखों रुपया लगता है। तमाशबीन को आराम-विराम नहीं मिलता। उसे तमाशा के पास जाना पड़ता है। क्या ही अच्छा हो यदि खेल देखने में दो चार रुपये हरबार के खर्च को बचा कर और घर के मिला कर टॉकीज़ तैयार किया जाय। टॉकीज़ बन जाने पर उसे कहीं जाने की जरूरत नहीं रहती। लोग उसके पास आते हैं। दृश्य बन जाने पर दर्शक लोग देखने के लिए उसके पास जाते हैं। दृश्य को कहीं जाने की जरूरत नहीं पड़ती।

जब आत्मा स्वयं दृश्य (टॉकीन) बन जाता है तो इसे कहीं जाने की जरूरत नहीं रहती। लोकालोक के दृश्यों का रेकार्ड स्वयं उसमें भरा जाता है। आत्मा जब दृश्य बन जाता है तो उस गुण पूर्ण आत्मा को देखने के लिए मनुष्य ही नहीं, इंद्र देव, दानव, गंधर्व यक्ष किन्नरादि भी उपस्थित होते हैं। उस शुद्धाचारी शुद्ध व्यवहारी और शुद्ध विचारी आत्मा का सब अभिनन्दन और अभिनन्दन करते हैं। तमाशबीन को अच्छी नजर से नहीं देखा जाता। भगवान् महावीर तमाशबीन न रह कर स्वयं टॉकीन (दृश्य) बन गये। यह फिल्म साल भर में तैयार नहीं हुई। इस फिल्म को बनाने में और रेकार्ड भरने में बारह वर्ष से अधिक समय लगा है।

भगवान् महावीर ने अपने जीवन रूपी फिल्म का निर्माण जिस अनूठी शैली से किया उसका मुकाबिला संसार का कोई भी साधारण व्यक्ति नहीं कर सकता। भौतिक विज्ञान की दृष्टि से अमेरिका लंदन आदि देश पर्याप्त समृद्ध समझे जाते हैं परन्तु भौतिक दृश्यों से ही काम चलने वाला नहीं है। बाहर बाहर की चीजों से स्थायी समस्या का समाधान होने वाला नहीं है। आभ्यन्तर को अपनाये बिना वास्तविक शान्ति और समाधान संभव नहीं है। भौतिक पदार्थों का चित्र भौतिक पदार्थों से लिया जा सकता है। निराकार चीजों का नक्शा उतारने के लिए और ही मशीन चाहिए भौतिक स्थूल कैमरों से फूल का फोटो लिया जा सकता है परन्तु फूल के सुगंध का फोटो लेने वाले यंत्र का

आविष्कार नहीं हुआ। फूल का चित्र ले लिया तो क्या हुआ? उसमें सुगंध नहीं आई तो उससे मकान आदि सजाने के सिवाय और क्या लाभ है? कोई आकृति घड़ के बना ली या बनी बनाई का फ़ोटो ले लिया—दोनों में सुगंध नहीं होती। सुगंध तो सच्चे फूल में है। उसके दीवाने, मस्ताने, परवाने बनो। इससे ही आत्मा सुगन्धमय बन सकेगी। जड़ को छोड़कर चैतन्य की उपासना करने से ही आत्मा सद्गुणों के सौरभ से सुगंधित हो सकेगी। भगवान् महावीर वह टॉकीज़ बन गये जिसमें लोकालोक के जड़-चेतन के चित्र अंकित हो गये। जब वे अनुपम दृश्य बने तो सारी दुनिया उनको देखने लगी। इसलिए सज्जनों! वास्तविक दृश्य बनने की आवश्यकता है। नकली दृश्यों से काम चलने वाला नहीं है। कागज के नकली फूलों से कभी सुगंध आ नहीं सकती। नकली फूल यों ही धूल में मिल जाते हैं। वैसे तो असली फूल भी भौतिक-शरीर से नाशवान् हैं तदपि नष्ट होते होते भी वह वास्तविक फूल अपनी सुगन्ध फैलाये बिना नहीं रहता। क्या हुआ यदि फूल खिर गया, झड़ गया; उसके जर्रे जहाँ भी जाएँगे सुगन्ध फैलाएँगे। दुनिया की कोई भी वस्तु स्थिर नहीं है। प्रत्येक पदार्थ परिवर्तन-शील है। कोई भी वस्तु सदा एक रूप में नहीं रहती। कहा है:—

मान करना नहीं। सुपन संसार है,
रहना दिन चार है, मान करना नहीं।
फूल फूला जो भँवरे भी आने लगे,
लूटने के लिए गीत गाने लगे।

फूल था भूल में, मिल गया धूल में,
मान करना नहीं ॥

सज्जनों ! समय कभी एक-सा नहीं रहता। कभी दिन है तो कभी रात है। कोयल हमेशा नहीं बोलती। यौवन कभी शाश्वत नहीं रहता। सब दिन सरीखे नहीं होते। ऐसा कौनसा फूल है जो फूला हो और धूल में न मिला हो ? अरे, बहुतेरे फूल तो पूरे खिलने भी नहीं पाते। खिलने के पूर्व ही वे धूल में मिल जाते हैं। मानवीय जीवन भी क्षणभंगुर है। दीपक की शिखा की तरह यह चचल है। जहाँ रोशनी है वहाँ अंधेरा होते देर नहीं लगती। जहाँ रंगराग-नाटक हो रहे हैं, दिल बहला रहे हैं, राग-रंग उड़ रहे हैं वहीं थोड़े ही क्षणों के बाद रुदन, विलाप और क्रन्दन सुनाई पड़ता है। नक्शे बदल जाते हैं। जो रोते हैं वे हँसने लगते हैं और हँसने वाले रोते सुने जाते हैं। एक सरीखी स्थिति आज तक न किसी की रही है और न रहने वाली है। जीवन चंचल है। बार-बार सुन्दर अवसर प्राप्त होने वाला नहीं है अतएव मिले हुए मानवीय जीवन की कीमत आँकना चाहिए।

चेतन ! यह तो नरतन फेर मुश्किल पाना ।
यह जो मनुष्य देह पाई, कर नेक कमाई,
शिक्षा मान भाई मनको विषयों से घेर ॥
तन धन यौवन जानो, रंग पतंग समानो,
ओस बिन्दु कहानो ढलने लगदी न देर मुश्किल ॥

भव्यात्माओं ! असीम पुण्य के प्रताप से मानवीय-जीवन की प्राप्ति होती है। आप प्रत्यक्ष देखते हैं कि न जाने कितनी जीव श्रेणियाँ हैं। छोटे २ कीट-पतंगों की योनि के अतिरिक्त असंख्य स्थावर काय की जीव श्रेणियां हैं। यह आत्मा इन असंख्य श्रेणियों में अनन्तबार उत्पन्न हुआ है। एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय की श्रेणियों और घाटियों को पार करने के पश्चात् जीव को प्रकर्ष पुण्य के योग से मनुष्य-जीवन की प्राप्ति होती है। अतएव इस दुर्लभ जीवन को प्राप्त कर इसका सदुपयोग करना चाहिए।

मानव-जीवन, उच्चगोत्र और धन-जन आदि साधन साम-ग्रियों को पाकर अविवेकी जन फूले नहीं समाते। इतना ही नहीं अभिमान के मद में चूर होकर दूसरे व्यक्तियों का अपमान और तिरस्कार करने से बाज़ नहीं आते; परन्तु उन्हें यह याद रखना चाहिए कि वे भी अनन्तवार नीचगोत्र में और एकेन्द्रिय आदि जघन्य जातियों में उत्पन्न हो चुके हैं। जाति का अभिमान रखना वृथा है। कई लोग जातिवाद के मद में इतने मशगूल हैं कि उन्हें अपने समान आचार-विचार, खान-पान, रहन-सहन और रीति-रिवाजों तथा समान धर्म का पालन करने वालों के साथ सम्बन्ध स्थापित करने में भी हिचकिचाहट होती है। ऐसा करने में वे अपनी आन-शान में बट्टा लगना समझते हैं। यह भयंकर भूल है। दसा, वीसा, तीसा, चालीसा के ये भेद वेबुनियाद हैं। इन भेदों को और इन नम्बरों को बनाये रखने में कोई बुद्धिमानी नहीं है।

जमाना बदल चुका है और बदलता जा रहा है। इस युग में संगठन से जीवित रहा जा सकता है। फूट के चंगुल में फंसी हुई जातियाँ उत्थान नहीं कर सकतीं। छोटे-बड़े बेबुनियाद भेदों को मिटा कर संगठित रूप से आगे बढ़ना चाहिए।

सज्जनों! इन नम्बरों और भेदों की दीवारों के पीछे कोई महत्त्वपूर्ण बुनियाद भी तो नहीं है। आत्मा तो नम्बरों से परे है। न वह दसा है, न बीसा है। मानव के अहंकार ने ही इन नम्बरों और भेदों की दीवारें खड़ी की हैं। आप भगवान् महावीर के अनुयायी हैं। आप उनके नाम की माला जपते हैं। उन्हें सर्वज्ञ और सर्वदर्शी मानते हैं। उनके प्ररूपित सिद्धान्तों को तथ्य और सत्य मानते हैं। वे आपके और हमारे लिए प्रमाणभूत हैं। उनकी वाणी पर नजर डालिए, उनके सिद्धान्तों पर विचार कीजिए। वे कहते हैं कि—

सक्खं खु दीसई तवो विसेसो न दीसई जाइविसेस कोवि।
सोवागपुत्तो हरिएस साहू जस्सेरिसा इड्ढी महाणुभागा॥

जाति का कोई महत्त्व नहीं है। सदाचार और तप-संयम की महत्ता है। हरिकेशी मुनि चाण्डाल कुल में उत्पन्न हुए थे परन्तु तप-संयम का आचरण करके वे न केवल मानव के लिए ही अपितु देवों के लिए पूजनीय हो गये। बड़े२ जाति का अभिमान रखने वाले महामहोपाध्याय और सरस्वती-कंठाभरण पण्डित उनके चरणों में झुके और उनसे वास्तविक धर्म-कर्म का मर्म समझा।

भगवान् स्पष्ट संदेश दे रहे हैं कि उच्चकुल में जन्म ले लेने मात्रसे कोई श्रेष्ठ या नीच कुल में जन्म लेने मात्र से कोई नीच नहीं हो जाता। उच्चता और नीचता का आधार जाति-जन्म-नहीं अपितु व्यक्ति के कर्म हैं। तिलक-छापा लगा लेने से कोई ब्राह्मणत्व का दावा नहीं कर सकता। तलवार बाँध लेने मात्र से कोई क्षत्रिय नहीं हो जाता। ब्राह्मण के योग्य पठन-पाठन, चिन्तन-मनन आध्यात्म-साधन आदि कर्मों से ब्राह्मणत्व की प्राप्ति होती है। अन्याय का प्रतिकार और देश की सुरक्षा करने से क्षात्र धर्म का पालन होता है। न्यायोचित क्रय-विक्रय और विनिमय द्वारा सर्व-साधारण को जीवनोपयोगी साधन सामग्री सुलभ करना वैश्य का धर्म है। इसी प्रकार सेवामय जीवन जीना शूद्र का कर्त्तव्य है। इनमें कोई ऊँचा या नीचा नहीं है। यह तो समाज की सुव्यवस्था के हेतु कार्य का विभाजन है। कोई भी कार्य अपने-आप में न ऊँचा है और न हलका है। अतएव ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों का सामाजिक दृष्टि विन्दु से समान महत्त्व है। यह ऊँच नीच की भावना, स्पृश्यास्पृश्य का भेद मौलिक नहीं किन्तु वर्ण-व्यवस्था में घुसा हुआ विकार है। इस विकार को दूर करना ही चाहिए। यह भेद, यह छूआछूत की भावना मानव के लिए कलंक है।

तात्पर्य यह है कि जाति का महत्त्व नहीं है अपितु कर्म का महत्त्व है। ब्राह्मण कुल में जन्म ले लेने पर भी एक व्यक्ति कर्म से चाण्डाल हो सकता है और चाण्डाल कुल में जन्म लेने पर भी एक व्यक्ति सत्कार्यों से ब्राह्मण हो सकता है। इसीलिए कहा गया है कि:—

सर्वजातिषु चाण्डालाः, सर्वजातिषु ब्राह्मणाः ।

सब जातियों में ब्राह्मण भी हैं और चाण्डाल भी हैं। कौनसी दूध की धुली जाति है जिसमें सब अच्छे ही हों ? या कौनसी ऐसी जाति है जिसमें सब बुरे ही हों। कई एक व्यक्ति साधारण कुल में पैदा होकर भी उच्च होते हैं और कई एक व्यक्ति उच्च कुल में पैदा होकर भी निन्दनीय आचरण करता है, ब्लेक मार्केट करता है, अण्डा-मांस खाता है, कंजरों के पास जाता है और भाइयों में द्वेष फैलाता है। मतलब यह है कि जाति-पांति का कोई खास महत्त्व नहीं है। व्यक्ति के सद्गुणों और सदाचार का महत्त्व है। प्रत्येक व्यक्ति अपने कर्म से ऊँच या नीच गिना जाना चाहिए। गुणों की पूजा होनी चाहिए; जाति, लिंग या वेश की नहीं।

भगवान् महावीर ने जातिवाद का डटकर मुकाबला किया। परम्परा से चले आते हुए जातिगत रूढिवाद के विरुद्ध उन्होंने आन्दोलन उठाया। उनके समय में जातिवाद का खूब बोल बाला था। क्रियाकाण्डी ब्राह्मणों ने अपना आडम्बर और पाखण्ड खूब बढ़ा लिया था। ऐसे समय में भगवान् महावीर ने अपने प्रबल आत्मिक तेज से उस रूढ परम्परा का बहुत ज़ोर से डट कर विरोध किया। उन्होंने खुली उद्घोषणा की कि "जाति की दीवारें मानव को धर्माराधन से वंचित नहीं रख सकती। धर्म का सम्बन्ध जाति पांति से नहीं। जाति-पांति की दीवारें मानव ने अपने अहंकार के पोषण के लिए खड़ी की हैं। इनकी वास्तविकता या मौलिकता कुछ

भी नहीं। प्रत्येक मानव को धर्मसाधना का अधिकार है। जाति से कोई श्रेष्ठ नही हो सकता। गुणों से श्रेष्ठता और महत्ता होती है।"

भगवान् ने तात्त्कालिक परिस्थिति के अनुसार जातिवाद के विरोध में आन्दोलन चलाया। परिस्थिति के अनुसार नीति का अवलम्बन लिया जाता है। नीति कहती है इतने मीठे न बनो कि दुनिया खा जाय और इतने कडुवे न बनो कि दुनिया थू थू करे। मौसम ठंडी हो तो मक्खन निकालने के लिए छाछ में गर्म पानी डाला जाता है और मौसम गर्म हो तो ठंडे पानी से मक्खन निकल आता है। टेम्प्रेचर ज्यादा चढ़ जाय तो भी खतरा है और टेम्प्रेचर अधिक डाउन हो जाय तो भी खतरा है। इसलिए समय और परिस्थिति को देखकर आचरण करना चाहिए। संभल कर चलो परख कर चलो। जमाने की रुख और रफ्तार को समझने की आवश्यकता है जातिगत छोटे-बड़े झगड़ों के दलदल में फँसे रहने का समय नहीं है। दुनियाँ ने नई करवट ली है। आपको भी संभलना है, जागना है और आगे बढ़ना है। इसलिए अपने जाति बन्धुओं को अपनाना सीखो। तिरस्कार न करो। प्राचीन इतिहास तो बताता है कि चक्रवर्तियों ने अनार्य देश की कन्याओं को भी स्वीकार किया। अनार्यों को आर्य बनाने के कई उदाहरण हैं। अतएव अपने दिमाग के दायरे को विस्तृत रखकर पांचे-दसे-बीसे के नगण्य भेद को भुलाकर संगठन के सूत्र में आबद्ध होकर [illegible] करो।

जैनधर्म जातिवाद का पक्षपाती नहीं है। इसके द्वार सबके लिए खुले हैं। इसीलिए साधु-संस्था में सब ओसवाल ही हों सो बात नहीं है। इसमें ओसवाल, क्षत्रिय, सुनार, ब्राह्मण आदि कई जातियों के व्यक्तियों ने प्रवेश पाया है और वे संयम की यथाशक्ति आराधना कर रहे हैं। अतएव जातिवाद का चश्मा आँख से उतार कर यथार्थ स्थिति का अवलोकन करना चाहिए। समाज और जाति को क्षत-विक्षत न करते हुए संगठन की ओर अग्रसर होना चाहिए।

हाँ, प्रसंगवश मैं जरा इधर-उधर हो गया। विषय चल रहा है दृश्य और द्रष्टा का। अनाथी मुनि ध्यान स्थित हैं। अजब-गजब की सीनरी (दृश्य) है। बड़ी मनोहर और भव्य मुखमुद्रा है। आभ्यन्तर की शान्ति और सौम्यभाव मुखमुद्रा पर स्पष्ट झलक रहे हैं। मगध सम्राट् श्रेणिक उस भव्य दृश्य को देख कर चकित रह जाता है। थोड़े समय के लिए वह स्तम्भित हो जाता है। वह वहाँ रुक जाता है और मुनि के पास आता है। मुनि के लावण्य और तारुण्य ने उसे विमुग्ध कर लिया। मुनि के पास आकर वन्दन-नमस्कार कर वह बोला—भंते! आपकी तरुण अवस्था है, आपका रूप बड़ा मनोहर है, आपका वर्ण बड़ा आकर्षक है, आपकी भव्य रूपराशि आपकी कुलीनता और समृद्धिशालिता को प्रकट करती है। आपने भला इस भर जवानी में भोगों को ठुकरा कर योग का आश्रय क्यों लिया है?

मुनि बोले—राजन्! मैं अनाथ था!

राजा को आश्चर्य हुआ। उसने कहा—अच्छा, आप अनाथ थे! इसीलिए आपने असमय में योग को अपनाया है। आपको मैं आमंत्रित करता हूँ कि आप मेरे साथ मेरे राजमहलों में पधारिये। लावण्य और तारुण्य का आनन्द लीजिए। मैं मगध का सम्राट् श्रेणिक हूँ। मेरे यहाँ भोगोपभोग की सब साधन सामग्री विद्यमान है। आप मेरे साथ चलिये। मैं आपका नाथ बनता हूँ।

मुनि बोले—राजन्! तू स्वयं अनाथ है! तू मेरा नाथ क्या बन सकेगा?

अप्पणावि अणाहोसि सेणिया! मगहाहिवा!
अप्पणा अणाहो सन्तो कहं नाहो भविस्ससि?

राजा यह सुनकर आश्चर्य-चकित हो गया। वह बोला—भंते! मैं अनाथ कैसे? मैं मगध के विशाल साम्राज्य का अधिपति हूँ। मेरे भण्डार अक्षय और अखूट हैं। मेरे स्वजन परिजनों का विशाल समूह है। यह सब होते हुए भी आपने मुझे अनाथ कैसे कहा? मालूम होता है आपने मुझे पहचाना नहीं?

मुनि बोले—राजन्! तूने सनाथ-अनाथ के स्वरूप को नहीं समझा है। मेरे यहाँ भी धन के अखूट भण्डार थे। स्वजन-परिजनों की कमी नहीं थी। भोगोपभोग के साधनों की बहुलता थी। किसी समय मेरी आँख में वेदना उत्पन्न हुई। प्रचुर चिकित्सा की गई। परन्तु वेदना उत्तरोत्तर बढ़ती ही गई। मेरे पिता ने पानी की तरह धन बहाया। वैद्यों और हकीमों को मनमाना धन दिया।

परन्तु कोई मेरी वेदना दूर न कर सका। मेरे पिता अपना राज्य तक उस व्यक्ति को देने के लिए तत्पर थे जो मेरी वेदना को मिटा देता! परन्तु कोई मेरे दुःख को दूर करने में समर्थ नहीं हुआ। मेरी माता और मेरी पत्नी तथा दूसरे स्वजन-परिजन मेरे चारों ओर बैठे-बैठे रोते थे परन्तु मेरी वेदना को कोई मिटा नहीं सके। सब लाचार थे, विवश थे, असमर्थ थे। उस समय मुझे भान हुआ कि धन शरण रूप नहीं, रक्षक नहीं, त्राण करने वाला नहीं, माता-पिता पत्नी आदि परिवार भी मुझे दुःख से बचा नहीं सकते! मैं अनाथ हूँ। मुझे अनाथता का भान हुआ! दूसरी तरफ मुझे सनाथता का उपाय भी सूझ गया। मैंने विचार किया—दूसरी कोई चीज त्राण-शरण रूप नहीं है, तेरी आत्मा ही त्राण-शरण रूप है। अतएव बाह्य संयोगों को ठुकरा कर तू आत्मा की शरण में जा। मैंने सकल्प किया यदि मैं इस वेदना से मुक्त हो जाऊँ तो शान्त दान्त मुनि बन जाऊँगा। राजन! इस सकल्प ने चमत्कार बताया और सचमुच उसी रात्रि में सयोगवश मेरी वेदना दूर हो गई। मैं सकल्प के अनुसार मुनि बन गया और अपना नाथ भी बन गया। यह मेरी कहानी है। राजा श्रेणिक इस वक्तव्य को सुनकर अत्यन्त प्रभावित हुआ। उसने मुनि से क्षमा-याचना की। भक्तिपूर्वक मुनि को वन्दन करके वह आगे चला। मुनि आत्म साधना में लीन हो गये। अनाथी मुनि स्वय दृश्य बन गये। राजा श्रेणिक सरीखे दर्शक बनकर उनकी सेवा में उपस्थित हुए। अतएव यह प्रयत्न कीजिए कि आपकी आत्मा भी

एक अलौकिक दृश्य बन जाय और यह दुनियां उस अनूठे दृश्य को देखने के लिए उत्कंठित रहे।

लोकाशाह जयन्तीः— सज्जनों! एक और अनूठा दृश्य आपके सामने उपस्थित करता हूँ। आज लोकाशाह की जयन्ती का पवित्र दिवस है। कोई समय आया था जब कुगुरुओं ने ऊधम मचाया था। सत्पथ से जनता को भटकाया था। जनता के दिल में जड़ोपासना भर दी गई थी। वास्तविक चैतन्य धर्म और देवगुरु धर्म के स्वरूप को लोग भूल-से गये थे। मिथ्यात्व का ताण्डव नृत्य हो रहा था। पाखण्ड और आडम्बर का सर्वत्र जोर-शोर था। मानव, अपने में रहे हुए भगवान् को भूल गया था। शुद्ध, सनातन एवं वास्तविक धर्म में विकृति आ गई थी। धर्मगुरु व्यक्तिगत मान-पूजा और प्रतिष्ठा के लोभ में पड़ गये थे। भगवान् महावीर के निर्वाण के पश्चात् भयंकर दुष्काल पड़े। ऐसा विकट समय आ गया था कि जवाहरात देने के बदले सेर जुवार नहीं मिलती थी। बारह वर्ष का लम्बा दुष्काल पड़ा। साधु-सन्तों को निर्दोष आहार मिलना कठिन हो गया। ऐसी स्थिति में धर्म को प्राणों से अधिक प्रिय मानने वाले ७४८ सन्तों ने प्राणों की बाजी लगा दी और संथारे कर लिए। वे अपने शुद्ध आचार धर्म से तनिक भी इधर-उधर नहीं हुए। उन्होंने समझा था—जीना है धर्म के लिए और मरना भी धर्म के लिए। मरकर भी वे जिन्दा हैं जो धर्म के लिए मरे।

जिन साधुओं का आत्म-बल इतना विकसित न था उन्होंने देश और काल की परिस्थिति के अनुसार अपने नियमों में परिवर्तन कर लिये। धीरे २ आचार धर्म की मर्यादाएँ शिथिल पड़ गई। जहाँ एक कमजोरी घुस जाती है वहाँ दूसरी कमजोरियों को भी सहज स्थान मिल जाता है। धीरे २ साधु-सघ में अनेक विकृतियाँ आ गईं। मठ बनने लगे। चैत्यवाद का श्रीगणेश हुआ। स्मारक छत्रियाँ, पगलिये चुने जाने लगे। जड़ पूजा को स्थान मिला। चढ़ावा लिया जाने लगा। मंत्र, तन्त्र, जादू टोना और चमत्कारों का आश्रय लिया जाने लगा। वैद्यगिरी और भविष्य फल द्वारा निर्वाह किया जाने लगा। यतियो ने जायदाद रखना आरम्भ कर दिया। राजसभाओं में जाकर चमत्कार बता कर पालखी और अ य राज्यसन्मान प्राप्त किये जाने लगे। धर्म के नाम पर व्यक्तिगत पूजा और पाखण्ड तथा आडम्बर खूब फैल गया। धर्मगुरुओं ने खूब मनमानी मचाई। लोगो को गलत रास्ता बतलाया। साधु इतने शिथिलाचारी हो गये कि न पूछो बात। ग्यारहवीं शताब्दी में खरतरगच्छ के संस्थापक श्री जिनचन्द्रसूरि ने उस समय के साधुओं, यतियो के शिथिलाचार के विरुद्ध आवाज उठाई। परन्तु वह विशेष फलीभूत नहीं हुई। परम्परा के विरुद्ध कार्य करने के लिये अदम्य आत्मबल, अडोल श्रद्धा और सकल्प, दृढता और सहनशीलता की आवश्यकता होती है। उस समय शिथिलाचार का खूब दौर-दौरा था। अतएव जिनचन्द्रसूरि के विरोध का समुचित असर नहीं हुआ। शिथिलाचार उत्तरोत्तर

बढ़ता गया। स्थिति असह्य हो गई। धर्मगुरुओं की मनमानी बढ़ती चली गई। शिथिलाचार चरम सीमा पर पहुँच गया। धर्म का प्रकाश पाखण्ड के पर्दे से मंद हो गया। ऐसे समय में अन्धकार में प्रकाश करने वाले लोकाशाह का आविर्भाव हुआ। कितना विराट रूप है इस नाम का? लोक का शाह। सचमुच वह किसी स्थान विशेष का शाह न होकर समस्त संसार का शाह बन कर आया। जीवन की सुन्दर कड़ियाँ और लड़ियाँ लेकर वह आया। वह आत्मोत्क्रांति, मानवोद्धार की उदात्त भावना के साज-बाज के साथ आया!

लोकाशाह आये और ठीक समय पर आये। वह बावड़ी, कुआ या तालाव बन कर नहीं आये परन्तु मेघ बन कर आये। मेघ लाते हैं पानी और यह लाया भगवद्वाणी। ऐसा था वह अलौकिक प्राणी!!

लोकाशाह के हम क्या गुण गाएँ? जितना उनका उपकार माने उतना थोड़ा है। उन्हें हम जान कहें, धर्म प्राण कहें, जीवनाधार अन्न कहें, पानी कहें या आँख की उपमा दें तो वह यथार्थ है। सचमुच लोकाशाह धर्म के प्राण बन कर आये। उन्होंने धर्म के मृतप्राय शरीर में नव चेतना का संचार कर दिया। वे संजीवनी बनकर आये। वे वैद्य और सच्चे चिकित्सक बनकर आये!!

कोई रणवीर बन कर आते हैं, कोई कर्म-वीर बन कर आते हैं, लोकाशाह आये धर्मवीर बन कर। आये धर्मवीर, लाये शुद्ध

श्रद्धा के तीर। जिन तथाकथित गुरुओं के हृदयों पर विषय-वासना का जंग चढा हुआ था उसे भंग करने के लिए लोकाशाह आये। जो जनसमुदाय जडोपासना में भूल रहा था और चैतन्योपासना को भूल रहा था उसे सच्ची राह बताने के लिए भगवान् महावीर का संदेश-उपदेश लेकर लोकाशाह अवतरित हुए।

अन्य धर्मावलम्बियों के महापुरुष पापियों का संहार करने के लिए आते हैं परन्तु हमारे महापुरुष संहार के लिए नहीं अपितु उद्धार के लिए आते हैं। वे मारने के लिए नहीं बल्कि तारने के लिए आते हैं। दो चिकित्सक हैं। एक ऐसी औषधि देता है जो बीमार को मार देती है। एक ने बीमार को नहीं किन्तु बीमारी को मार भगाया। कहिये, कौनसा वैद्य कुशल समझा जावेगा? वैद्य की कुशलता बीमार को मारने की नहीं किन्तु बीमारी को दूर करने में है। लोकाशाह वैद्य बन कर बीमारी को मारने आये और बीमार को तारने आये।

पाखण्ड और आडम्बर रूपी अमावस्या ने शुद्ध सनातन जैनधर्म के चन्द्र को ग्रस लिया था। अमावस्या के बाद पूर्णिमा भी आती है। संवत् १४७२ कार्तिक शुक्ला पूर्णिमा की रात्रि में जबकि गगन मण्डल में चन्द्रमा अपनी सम्पूर्ण कलाओं से उद्योत कर रहा था, इधर गंगा समान पवित्र माता गंगा देवी की कोख से एक नवीन चन्द्रका उदय हुआ। लौकिक चन्द्रमा का उदय रात्रि के स्थूल अंधकार को नष्ट करने के लिए होता है तो इस नवीन

उदीयमान लोकचन्द्र का उदय धर्म के क्षेत्र में फैले हुए अन्धकार को दूर करने के लिए हुआ।

जिसकी माता गंगा देवी यथा नाम तथा गुण वाली हो और पिता हेम (स्वर्ण) हो उस बालक की विशेषता, विलक्षणता और विचक्षणता के सम्बन्ध में विशेष कहने की आवश्यकता नहीं रहती। योग्य माता-पिता की सन्तति प्रायः सुयोग्य ही होती है। यह लोकचन्द्र सचमुच लोक के लिए चन्द्र रूप ही सिद्ध हुआ।

लोकचन्द्र के जन्म से दम्पति को अपार हर्ष हुआ। चारों ओर से बधाइयाँ आने लगीं। खुशियाँ मनाई गईं। प्रतिपदा के चन्द्र की तरह यह लोकचन्द्र भी बढ़ने लगा। यथासमय बाल-लीला को पूर्ण कर पढ़ने के लिए पाठशाला में प्रविष्ट हुए। अभ्यास किया। लेखन में विशेष कुशलता प्राप्त की। मोती सरीखे अक्षर लिखने लगे। योग्य अवस्था आने पर अपना पैतृक व्यवसाय करने लगे और उसमें निपुणता प्राप्त की। योग्य व्यक्ति जिस किसी क्षेत्र में उतर पड़ता है उसमें सफलता प्राप्त करता है। थोड़े ही दिनों में लोकाशाह की गिनती प्रसिद्ध जौहरियों में होने लगी।

उन दिनों में अहमदाबाद का शासक महमदशाह था। उसे जवाहरात का बड़ा शौक था। वह जौहरियों का बड़ा आदर करता था। किसी समय उसके पास सूरत के दो जौहरी आये। वे दो मोती लाये। उसका मूल्य लाख-लाख रुपया बताया। बादशाह ने जौहरियों को बुलाकर परीक्षा करवाना चाहा। शाही दरबार

श्रद्धा के तौर। जिन तथाकथित गुरुओं के हृदयों पर विषय-वासना का जग चढ़ा हुआ था उसे भग करने के लिए लोंकाशाह आये। जो जनसमुदाय जड़ोपासना में भूल रहा था और चैतन्योपासना को भूल रहा था उसे सच्ची राह बताने के लिए भगवान् महावीर का सदेश-उपदेश लेकर लोंकाशाह अवतरित हुए।

अन्य धर्मावलम्बियों के महापुरुष पापियों का सहार करने के लिए आते हैं परन्तु हमारे महापुरुष सहार के लिए नहीं अपितु उद्धार के लिए आते हैं। वे मारने के लिए नहीं बल्कि तारने के लिए आते हैं। दो चिकित्सक हैं। एक ऐसी औषधि देता है जो बीमार को मार देती है। एक ने बीमार को नहीं किन्तु बीमारी को मार भगाया। कहिये, कौनसा वैद्य कुशल समझा जावेगा? वैद्य की कुशलता बीमार को मारने की नहीं किन्तु बीमारी को दूर करने में है। लोंकाशाह वैद्य बन कर बीमारी को मारने आये और बीमार को तारने आये।

पाखण्ड और आडम्बर रूपी अमावस्या ने शुद्ध सनातन जैनधर्म के चन्द्र को ग्रस लिया था। अमावस्या के बाद पूर्णिमा भी आती है। सवत् १४८२ कार्तिक शुक्ला पूर्णिमा की रात्रि में जबकि गगन मण्डल में चन्द्रमा अपनी सम्पूर्ण कलाओं से उद्योत कर रहा था इधर गगा समान पवित्र माता गगा देवी की कोख से एक नवीन चन्द्रका उदय हुआ। लौकिक चन्द्रमा का उदय रात्रि के स्थूल अधकार को नष्ट करने के लिए होता है तो इस नवीन

उदीयमान लोकचन्द्र का उदय धर्म के क्षेत्र में फैले हुए अन्धकार को दूर करने के लिए हुआ।

जिसकी माता गंगा देवी यथा नाम तथा गुण वाली हो और पिता हेम (स्वर्ण) हो उस बालक की विशेषता, विलक्षणता और विचक्षणता के सम्बन्ध में विशेष कहने की आवश्यकता नहीं रहती। योग्य माता-पिता की सन्तति प्रायः सुयोग्य ही होती है। यह लोकचन्द्र सचमुच लोक के लिए चन्द्र रूप ही सिद्ध हुआ।

लोकचन्द्र के जन्म से दम्पति को अपार हर्ष हुआ। चारों ओर से बधाइयाँ आने लगीं। खुशियाँ मनाई गईं। प्रतिपदा के चन्द्र की तरह यह लोकचन्द्र भी बढ़ने लगा। यथासमय बाल-लीला को पूर्ण कर पढ़ने के लिए पाठशाला में प्रविष्ट हुए। अभ्यास किया। लेखन में विशेष कुशलता प्राप्त की। मोती सरीखे अक्षर लिखने लगे। योग्य अवस्था आने पर अपना पैतृक व्यवसाय करने लगे और उसमें निपुणता प्राप्त की। योग्य व्यक्ति जिस किसी क्षेत्र में उतर पड़ता है उसमें सफलता प्राप्त करता है। थोड़े ही दिनों में लोकाशाह की गिनती प्रसिद्ध जौहरियों में होने लगी।

उन दिनों में अहमदाबाद का शासक महमदशाह था। उसे जवाहरात का बड़ा शौक था। वह जौहरियों का बड़ा आदर करता था। किसी समय उसके पास सूरत के दो जौहरी आये। वे दो मोती लाये। उसका मूल्य लाख-लाख रुपया बताया। बादशाह ने जौहरियों को बुलाकर परीक्षा करवाना चाहा। शाही दरबार

लगा। जौहरियों ने मोतियों को देख कर लाख लाख का मूल्य ठहराया। लोकाशाह ने मोतियों को देखा। परीक्षा करके उन्होंने कहा—जहाँपनाह! इसमें एक मोती तो सचमुच अमोल है पर तु दूसरा कौड़ी का भी नहीं है। इसमें पानी नहीं है। पानी से ही मोती की, जिन्दगी की और कुए की कीमत है। जिस कुए में पानी नहीं, जिस जिन्दगी में पानी (इज्जत) नहीं और जिस मोती में पानी (आब) नहीं वह किसी काम का नहीं? बादशाह ने दूरबीन से जाँच करवाई तो लोकाशाह की परीक्षा सत्य प्रतीत हुई। लोकाशाह के प्रति बादशाह की विशेष अभिरुचि हो गई। लोकाशाह का सन्मान खूब बढ गया। अभी तक तो लोकाशाह रत्नों—पत्थरों के परीक्षक रहे परन्तु उस समय क्या पता था कि यह रत्नों का पारखी आगे चलकर इन्सानों का परीक्षक होगा और वास्तविक धर्म रत्न की परीक्षा करेगा!

बादशाह के साथ नजदीक का सम्पर्क होने के कारण राज-परिवार की समस्त घटनाओं का हाल लोकाशाह को विदित रहता था। कालान्तर में ऐसी घटना घटी जिसने लोकाशाह के जीवन की दिशा को नवीन मोड़ दिया। दुनियाँ में सत्ता और धन ऐसी बुरी बला है कि इसके कारण अनेकों को प्राणों से हाथ धोने पड़े। सत्ता और धन के लोभ मे आकर इन्सान अपना-पराया कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य सब भूल जाता है। न वह स्वजन की परवाह करता है और न नीति-अनीति की। बादशाह के परिवार के लोगों ने ही बादशाह की हत्या कर डाली। दुनियाई रिश्तों की कैसी मिथ्या

भ्रमणा ! कितनी स्वार्थपूर्ण है यह रिश्तेदारी ! हाय री मतलबी दुनिया ! लोकाशाह को जब इस घटना का वृत्तान्त विदित हुआ तो उन्हें मार्मिक आघात पहुँचा। दुनियादारी से उनका चित्त एकदम खिन्न हो गया ! सब कारोबार को समेट कर वे निवृत्त जीवन व्यतीत करने लगे। वे किसी ऐसे अवसर की प्रतीक्षा में थे जिसे हस्तगत कर वे मानव-सेवा के कार्य में जुट पड़ें। संयोगवश ऐसा संयोग भी आ गया !

एकबार लोकाशाह कुछ लेखन कर रहे थे कि ज्ञानचन्द्र नामक यति उनके यहाँ पहुँचे। यतिजी ने लोकाशाह के मोती सरीखे अक्षर देखे। सुन्दर अक्षरों को देख कर यतिजी ने सोचा—मेरे पास शास्त्रों की प्रतियाँ जीर्ण हो गई हैं क्या ही अच्छा हो यदि मोती सरीखे इन अक्षरों में ये पुनः लिख ली जाएँ। यतिजी ने कहा—श्रावकजी ! आपके अक्षर तो बड़े सुन्दर हैं, परन्तु हमारे किस काम के ?

लोकाशाह ने कहा— आप मुझ से क्या चाहते हैं ?

यति—मेरे पास जीर्ण-शीर्ण शास्त्र की प्रतियाँ हैं उन्हें तुम तुम्हारे मोती जैसे अक्षरों में लिपिवद्ध करदो तो बड़ी भारी श्रुत-सेवा होगी। लोकाशाह ने लेखन-कार्य करना स्वीकार कर लिया। यतिजी से शास्त्र लाते और उसका लेखन करते। कहते हैं कि दवाई देते २ कम्पाउन्डर डाक्टर के समान अनुभवी बन जाता है और लिखने-सुनने वाला कालान्तर में पण्डित बन जाता है।

शास्त्रों का मनन करते २ विचक्षण बुद्धि वाले लोंकाशाह को शास्त्रों का मर्म समझ में आने लगा। दशवैकालिक का आलेखन करते समय साधु के आचार की मर्यादाओं का वर्णन उनके पढ़ने में आया! उन्होंने विचार किया—कहाँ तो साधु-मुनियों के लिए शास्त्रों में बताई गई रीति-नीति और कहाँ आजके साधु कहलाने वाले व्यक्तियों के आचरण? दोनों में आकाश-पाताल का अन्तर है! शास्त्र कितनी उच्च-मर्यादाओं का प्रतिपादन करते हैं और गुरू नाम धारी साधु कहाँ उनका पालन करते हैं? शुद्ध चारित्र धर्म का लोप हो रहा है, यह नितान्त अवाञ्छनीय है। महावीर प्रभु का शुद्ध सनातन धर्म मिथ्या आडम्बरों, वहमों और पाखण्ड से दूषित किया जा रहा है। धर्म की रक्षा करने की बागडोर जिनके हाथ में है वे ही गुमराह हो रहे हैं और दूसरों को गुमराह कर रहे हैं। परिस्थिति बडी विषम हो चुकी है सर्वत्र जडवाद, आडम्बर, व्यक्तिगत पूजा-प्रतिष्ठा, चमत्कार, जादू-टोना, मन्त्र-तन्त्र, औषध, चेला-चेली, मठ जायदाद आदि का बोलबाला है। वैराग्य, अध्यात्म, एवं आत्म-साधना की झलक भी इनमें नहीं दिखाई देती! मुझे जिन-वाणी को पढ़ने-समझने का यह सुअवसर मिला जिससे मुझे शुद्ध सनातन जैनधर्म के मर्म को समझने का भव्य प्रसंग प्राप्त हुआ और इससे मुझ में जागृति और नवचेतना प्रकट हुई तो मेरा नैतिक कर्त्तव्य हो जाता है कि मैं जनता के सामने शास्त्रों की वास्तविकता को प्रकट करूँ और गलत मार्ग में जाती हुई जनता को शुद्ध धर्म की जानकारी दूँ! निस्सन्देह यह महान् कठिन कार्य है। विराट जनसमूह की रूढिगत

परम्परा के विरुद्ध बोलना साधारण बात नहीं है। इसमें अनेक खतरे हैं, कठिनाइयां हैं। परन्तु कुछ भी हो मुझे जो सत्य-दर्शन हुआ है वह जनता के सामने रखना ही मेरा कर्त्तव्य हो जाता है। इस शुद्ध श्रद्धा के प्ररूपण में भले ही मुझे बलिदान हो जाना पड़े, मैं यह अवश्य करूँगा। लोकाशाह ने दृढ़ संकल्प कर लिया! उन्होंने अपने जीवन कड़ियाँ, लड़ियाँ और घड़ियाँ इस कार्य में लगा दीं। विरोध, कठिनाई और निराशा से व्याकुल न होते हुए उस निर्भीक शेर ने सत्यधर्म का सिंहनाद करना प्रारम्भ कर दिया। उसने खुली उद्घोषणा की—यह जड़ोपासना ही आत्मा का उद्धार करने वाली नहीं है। चैतन्य की उपासना से आत्मा का वास्तविक कल्याण होगा। जड़ोपासना के नाम पर चलाये जा रहे ये सब आडम्बर आभ्यन्तर धर्मसाधना में निरुपयोगी ही नहीं बाधक भी हैं। अतएव आत्म-कल्याण के अभिलाषियों! धर्म के मर्म को समझो। बाह्य क्रियाकाण्ड मात्र से धर्म की आराधना नहीं हो जाती। इस सिंहनाद से चैत्यवाद, जड़वाद की नींव हिल गई। मन्दिरों और मठों के सत्ताधीशों के आसन डोल गये। परम्परागत धारणाओं को आघात लगा। धर्म की ओट में पेट पूर्ति करने वाले और दुकानदारी चलाने वाले लोगों की दाल गलने में बाधा पहुँची। ये सब बौखला उठे। लोकाशाह को नास्तिक, मिथ्यात्वी और निन्हव कहा जाने लगा। उस शेर ने कभी इसकी परवाह नहीं की और अपने संकल्प के अनुसार शुद्ध धर्म के प्ररूपण और प्रचार में वह लीन रहा। वह शेर अकेला ही निर्भय होकर घूमता रहा, झूमता रहा। घूम घूम कर उसने अपने सत्य सिद्धान्त का

प्रचार किया। सचाई, तर्क, और युक्ति के बल पर लोंकाशाह ने धर्म की ओट में परम्परा से चले आये हुए पाखण्ड और आडम्बर के महल को कुछ ही दिनों में धराशायी कर दिया। सत्य का प्रचार और प्रसार होता ही है। सत्य की अन्ततः विजय होती है। लोंकाशाह का प्रभाव उत्तरोत्तर बढ़ता गया। उन्हें अपने कार्य में सफलता मिलती गई। इस वैद्य ने नगर-नगर, गाँव गाँव में घूम कर मिथ्यात्व के रोगियों को दवाई दी। हजारों लाखों रोगियों को दवाई दी। हजारों लाखों रोगियों के रोग को दूर कर उसने शुद्ध श्रद्धा रूप आरोग्य प्रदान किया।

लोंकाशाह को मिलती हुई सफलता, उनके विरोधियों की आँखों की किरकिरी बन रही थी। वे येनकेन प्रकारेण लोंकाशाह को खत्म करने की फिक्र में रहने लगे। उन्होंने मौका पाकर उस धर्म प्राण, धर्मवीर, लोंकाशाह को गुप्त रूप में जहर दे दिया। हाय रे स्वार्थी संसार! जो डाक्टर बन कर जनता के रोग को दूर करने आया था उसे इन स्वार्थियों ने मार डाला। यह धर्मवीर धर्म पर कुर्बान हो गया!

विरोधी यह समझते हैं कि वे ऐसे धर्मवीरों के शरीर को मिटा कर उनका नामोनिशान मिटा देंगे परन्तु वे भयंकर भूल में हैं। शहीदों के बलिदान निष्फल नहीं होते। वे मिट जाते हैं, उनका भौतिक शरीर नष्ट हो जाता है परन्तु उनका कार्य उससे और अधिक चमक उठता है। उनके सिद्धान्तों को और कार्यों को और अधिक बल मिलता है। कुरबानी के बाद दुनियां उन्हें विशेष आदर के साथ याद करती है। कहा है—

शहीदों के मज़ारों पर जुड़ेंगे हर बरस मेले।
धर्म पर मरने वालों का यही बाकी निशां होगा॥

धर्मप्राण लोकाशाह चले गये किन्तु अनेक शताब्दियाँ बीत जाने पर भी लाखों व्यक्ति उनको श्रद्धा के साथ स्मरण करते हैं और प्रतिवर्ष श्रद्धांजलि अर्पित करते हैं। यह उस महान् पुरुष का परम उपकार है कि आज हम भगवान् के द्वारा उपदिष्ट सत्यधर्म को अंगीकार कर यथाशक्ति उसके पालन के लिए कटिबद्ध हैं। उस परमोपकारी महापुरुष के जितने गुण गाए जाएँ, थोड़े हैं। हम उनके प्रति हार्दिक श्रद्धांजलि अर्पित करते हैं।

लोकाशाह केवल दर्शक या तमाशबीन ही नहीं रह गये अपितु वे स्वयं दृश्य बन गये थे। अतएव दुनिया उनके पास आने लगी थी। आप लोग भी दर्शक तो बने ही हैं तथापि दृश्य बनने का प्रयास करेंगे तो आपका कल्याण होगा।

रतलाम }
कार्तिक शु० १५ }

ज्ञान की साधना

णमो अरिहंताणं············

अभी-अभी आपके सामने विश्व-कल्याणकारी ,भय-तापहारी पंच परमेष्टि महामंत्र का उच्चारण किया गया है। इस मंगलमय महामंत्र का सर्व प्रथम उच्चारण क्यों किया जाता है; यह कड़ियाँ बड़ी लम्बी हैं। सामान्य तौर पर और संक्षेप में यही कहना पर्याप्त है कि मंगलमय बनने के लिए मंगलमय महामंत्र का उच्चारण किया जाता है। इस महामंत्र परमेष्टि-नमस्कार मंत्र में उन पाँच महाविभूतियों को वन्दन किया गया है जो मंगल स्वरूप हो चुकी हैं। *मंगलमय आत्माओं को किया जाने वाला नमस्कार, मंगलमय* आत्माओं का स्मरण, उनके प्रति व्यक्त की जाने वाली श्रद्धा-भक्ति और कृतज्ञता भक्त को भी मंगलमय बनाने वाली होती है। मंगलमय आत्माओं का स्मरण, चिन्तन और वन्दन मंगलमय बनाने वाला हो यह स्वाभाविक ही है।

भद्र पुरुषों! सर्वत्र आत्मा का ही साम्राज्य है। आत्मा से ही विश्व का संचालन हो रहा है। विश्व का अस्तित्व यद्यपि जड़-चेतन तत्त्व से सम्बन्धित है तदपि आधिपत्य आत्मा का ही है। सर्वत्र आत्मा का आधिपत्य और साम्राज्य हो, यह सहज स्वाभाविक है क्योंकि आत्मा ज्ञानमय, दर्शनमय,

ीर्यमय और सुखमय है। वस्तु-स्थिति ऐसी होने पर भी दृश्य कुछ और ही दिख रहा है। जहाँ आत्मा का आधिपत्य होना चाहिए था वहाँ जड़ का बोलबाला हो रहा है। साम्राज्य सम्राट् का होना चाहिए परन्तु जब सम्राट् गाफिल बनकर गुलाम को मुँह लगा लेता है तो गुलाम का बोलबाला हो जाया करता है। इसी तरह वस्तुतः विश्व पर आत्मा का साम्राज्य है परन्तु आत्मा रूपी सम्राट् जड़ रूपी गुलाम के झांसे में आ गया इसलिए जड़ का आधिपत्य जमता हुआ दिख पड़ता है। जड़ के झांसे में आकर आत्मा इतना पिछड़ गया कि वह यह समझने लगा कि मेरा अस्तित्व ही जड़ पर है। इसके बिना मेरा जीवन दुशवार होगा। जड़ के प्रति चेतन की यह आसक्ति ठीक उसी तरह की है जैसे बचपन से भेड़ों के बीच पले हुए सिंह की उन भेड़ों के प्रति होती है। जब तक उस सिंह को अपने स्वरूप का भान नहीं हो जाता वहाँ तक ही यह आसक्ति रहती है। जिस दिन सिंह को यह भान हो जाता है कि मैं वन का राजा सिंह हूँ फिर वह भेड़ों के प्रति अपनी आसक्ति को छोड़ कर निर्द्वन्द जंगल का आधिपत्य करता है। इसी तरह जब तक आत्मा अपने भान को भूला हुआ है वहीं तक वह जड़ के अधीन रह सकता है। जिस दिन आत्मा को यह भान और ज्ञान हो जाता है कि हे आत्मन्! तू अनन्त शक्ति का भण्डार है, तू अनन्त बल का धनी है, तेरी शक्ति और गति अपरिमित है, तू स्वतंत्र और अप्रतिहत है, तुझे कोई रोक नहीं सकता, तू अनन्त और अबाध है, तू शाश्वत है, और ध्रुव है तुझे किसी दूसरे के आश्रय की आवश्यकता नहीं, उसी दिन वह

जड़ के आधिपत्य को एक क्षण में उखाड़ फेंकेगा और अपनी सार्वभौमता की उद्घोषणा करेगा। परन्तु अफसोस है कि ऐसी अपरिमित शक्ति का धनी चेतन—आत्मा अपने आपको भूल रहा है। वह विश्व का सार्वभौम चक्रवर्ती भान भूल कर गुलाम की जिन्दगी गुजारता है!! अफसोस, यह कितना अधःपतन है सार्वभौम चक्रवर्ती चेतनराज!!

जो व्यक्ति अपने क्षेत्र को छोड़कर दूसरे के क्षेत्र में प्रवेश करता है तो वह निर्बल और निष्प्रभ हो ही जाता है। जब रजनिपति चन्द्रमा सूर्य के क्षेत्र में आता है तो कैसा निष्प्रभ हो जाता है? जब वह अपने क्षेत्र में रहता है तो कितना उद्योत करता है? चेतन भी जब अपने क्षेत्र में रहता है तो ज्ञान के आलोक से आलोकित रहता है परन्तु जब वह जड़ के क्षेत्र में चला जाता है तो उसका ज्ञान का आलोक मंद हो जाता है। वह निष्प्रभ और निर्बल हो जाता है। अनात्मभाव में रहने वाले आत्मा की यह अधोगति होती है। जब आत्मा परक्षेत्र को छोड़ कर अपने क्षेत्र में आता है तो वह पुनः ज्ञान के आलोक से आलोकित हो उठता है। वह जड़ की दासता से मुक्त होकर सकल विश्व का अधिपति बन जाता है।

आत्मा, जड़ की अपेक्षा अधिक शक्ति शाली है। आत्मा में दो प्रकार की शक्ति है जब कि जड़ में एक ही शक्ति है। आत्मा में शक्ति भी है और ज्ञान भी है। जड़ में केवल शक्ति ही है, ज्ञान नहीं। जिसको अपनी शक्ति का ज्ञान, भान या बोध नहीं

होता वह उसका सदुपयोग नहीं कर सकता। आत्मा में अपनी शक्ति का भान है, अपने आपको विकसित करने का ज्ञान है। आत्मा में ज्ञान है, चेतना है जिससे वह सुख-दुःख, हानि-लाभ आदि को समझता है। ज्ञान और शक्ति होने के कारण आत्मा जड़ पर विजय प्राप्त करता है। आपको मालूम है कि दो पहलवानों की कुश्ती में विजय उसकी होती है जो बलवान् होने के साथ ही दावपेच के तरीके भी जानता हो। अपनी रक्षा और प्रतिस्पर्धी को पछाड़ने की युक्ति का जिसे ज्ञान होता है वही विजयी होता है। जिसमें बल तो है परन्तु कल (युक्ति) नहीं है, जो कुश्ती के दावपेच को नहीं जानता है वह बलशाली होने पर भी दावपेच जानने वाले कम बल वाले से भी परास्त हो जाता है। आत्मा में ज्ञान भी है और बल भी है। जड़ में केवल बल है, कल नहीं। अतएव जड़ और चेतन की कुश्ती में चेतन को ही विजय प्राप्त होनी चाहिए।

परन्तु आश्चर्य है कि एक ओर वह पहलवान है जिसमें बल भी है और ज्ञान भी है; दूसरी ओर वह पहलवान है जिसमें बल ही बल है—कल नहीं फिर भी इस केवल बल वाले पहलवान ने दोनों प्रकार के बल वाले पहलवान को दबा रक्खा है! इसका कारण यह है कि पहला पहलवान मदिरा के नशे में भान भूला हुआ है! चेतन मोह की मदिरा पीकर बेभान बन रहा है इसीलिए जड़ उस पर हावी हो गया है। मोह—मदिरा से मतवाला आत्मा पुद्गल के चक्कर में पड़कर दलित जीवन बिता रहा है। जिस दिन

भी उसे अपना भान होगा, वह शक्ति और युक्ति समझेगा, उसी दिन वह जड़ को पछाड़ कर विजयी बन जाएगा।

आत्मा का क्षेत्र जड़ की अपेक्षा अधिक विशाल और विस्तृत है। परन्तु जड़कर्मों ने आत्मा की शक्ति को आच्छादित कर रक्खा है। कर्म की शक्ति को वैसे तो सब मजहब—जैन, सनातन, आर्य, इस्लाम, बौद्ध आदि स्वीकार करते हैं। यह बात अलग है कि कोई कहाँ तक पहुँचा है और कोई कहीं तक परन्तु कर्म को लेकर सब चले हैं। हर कोई कहता है कि "जैसा करोगे वैसा भरोगे।" कर्म सिद्धान्त का असर इतना प्रबल है कि हरएक क्षेत्र में उसका प्रभाव है।

'*कर्म*' वास्तव में क्या है? इसका ठीक-ठीक पता हरेक नहीं लगा सकता। कर्म-परमाणु इतने सूक्ष्म हैं कि उनका चर्मचक्षुओं के द्वारा प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। फिर भी उनकी सत्ता के सम्बन्ध में इतने स्पष्ट प्रमाण हैं कि हर कोई सर्व-साधारण कर्म के प्रभुत्व को स्वीकार करता है। कर्म का स्फुट रूप से प्रत्यक्ष न होने पर भी उसके कार्यरूप सुख-दुःख का प्रत्यक्ष अनुभव होता है। कार्य को देखकर कारण का ज्ञान किया जाता है। धूम्र को देखकर उससे कारण रूप वह्नि का ज्ञान करना प्रामाणिकजन-सम्मत है। दुनिया के चित्रपट पर गुजरती हुई सुख-दुःख की अवस्थाओं का कोई कारण अवश्य होना चाहिए। कारण के बिना कार्य की निष्पत्ति नहीं हो सकती, यह सब स्वीकार करते हैं। दुनिया के रंगमंच पर सुख-दुःख के न्यारे-न्यारे नजारे दृष्टिगत होते हैं। कोई

जीवन भर बीमार रहता है और दूसरा कभी यह भी अनुभव नहीं करता कि सिर-दर्द क्या होता है। एक सार्वभौम चक्रवर्ती सम्राट है और दूसरा दरदर का भिखारी है। एक ऊँची ऊँची अट्टालिकाओं में निवास करता है और दूसरा घास का छप्पर भी नहीं प्राप्त करता ! यह धनी-निर्धन का भेद, अमीर-गरीब की भिन्नता, पण्डित-मूर्ख की विविधता, सुखी-दुखी की नानारूपता इस बात को प्रकट करती है कि इन कार्यों के मूल में कोई कारण अवश्य है वह कारण 'कर्म' ही हो सकता है।

कार्य-कारण की यह श्रृंखला प्रामाणिक जनों द्वारा सम्मत है। यह कार्यकारण की परम्परा प्रमाण-सिद्ध है। वस्तु स्थिति का माप-दण्ड जिसके द्वारा किया जाय वह कांटा-तराजू-प्रमाण है। प्रमाण के मुख्य रूप से दो भेद हैं प्रत्यक्ष और परोक्ष। दार्शनिकों में प्रमाण के भेद के विषय में विविध मान्यताएँ हैं। कोई एक ही प्रमाण को स्वीकार करते हैं। जैसे चार्वाक (नास्तिक) दर्शन प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानता है। उसके मत से वही बात प्रमाणभूत है जो इन्द्रियों से स्पष्ट जानी जाय। जो इन्द्रियातीत है उसे चार्वाक दर्शन सत्य रूप नहीं मानता। इसीलिए वह आत्मा, स्वर्ग, नरक, पुण्य, पाप, बन्ध, मोक्ष आदि का अपलाप करता है। बेचारे चार्वाक की दुनियाँ इतनी ही है जितनी उसे आँख से दीखती है। जो आँख से न दिख सके वह चार्वाक के मत से है ही नहीं। इस मत को मानने पर भूतकाल और भविष्यकाल का ज्ञान हो ही नहीं सकेगा। क्योंकि ये दोनों काल प्रत्यक्ष से भिन्न हैं और

चक्षु से अगोचर है। यदि प्रत्यक्ष को ही प्रमाण माना जाय तो पूर्वजों का ज्ञान हो ही नहीं सकेगा क्योंकि वे इन्द्रियागोचर हो चुके हैं। इसी तरह भविष्य की बातों का भी ज्ञान नहीं बन सकेगा। अतएव चार्वाक का यह मन्तव्य सही नहीं प्रतीत होता। भूत और भविष्य की बातों को ग्रहण करने के लिए तथा इन्द्रियातीत पदार्थों को जानने के लिए प्रत्यक्ष से भिन्न अनुमान आदि को भी प्रमाण मानना चाहिए। धूम को देखकर अग्नि का ज्ञान कर लिया जाता है वहाँ अग्नि का प्रत्यक्ष न होने पर भी अनुमान प्रमाण से अग्नि का ज्ञान हो जाता है अतएव अनुमान को भी प्रमाण कोटि में स्थान दिया गया है।

बौद्ध दर्शन प्रत्यक्ष और अनुमान को प्रमाण रूप मानता है। कोई दर्शन प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम को प्रमाण मानते हैं। कोई नैयायिकादि प्रमाण के चार भेद मानते हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम और उपमान। कोई प्रमाण के पाँच भेद मानते हैं। पूर्वोक्त चार और अर्थापत्ति रूप पाँचवा। कोई २ दार्शनिक पूर्वोक्त पाँच में अभाव प्रमाण को मिला कर प्रमाण के ६ भेद मानते हैं। अलग अलग अपेक्षा और विवक्षा से संख्या में भेद माना गया है। जैनदर्शन मुख्यतः प्रमाण के दो भेद मानता है—प्रत्यक्ष और परोक्ष। परोक्ष प्रमाण के पांच अवान्तर भेद हैं—स्मरण, प्रत्यभिज्ञान तर्क, अनुमान और आगम। प्रत्यक्ष प्रमाण के भी दो भेद हैं। सांव्यावहारिक प्रत्यक्ष और पारमार्थिक प्रत्यक्ष। सांव्यावहारिक प्रत्यक्ष के भी दो भेद हैं। इन्द्रिय निबन्धन और अनीन्द्रिय निबन्धन।

इन्द्रियगोचर प्रत्यक्ष इन्द्रिय निबन्धन के अन्तर्गत आता है। मन से जाने जाने वाले प्रत्यक्ष को अनीन्द्रिय निबन्धन कहते हैं। इन्द्रियातीत पदार्थों को जानने वाला प्रत्यक्ष पारमार्थिक प्रत्यक्ष है। अवधिज्ञान, मनः पर्याय ज्ञान और केवलज्ञान पारमार्थिक प्रत्यक्ष हैं।

जिस प्रकार शरीर के सब अवयवों का महत्त्व है, इसी तरह ज्ञान के क्षेत्र में सब प्रमाणों का अपना-अपना महत्त्व है। शरीर में आँख का अपना महत्त्व है, हाथ की अपनी अलग विशेषता है, कान की कोई और ही विशेषता है, इसी तरह पूर्वोक्त सब प्रमाणों का अपना विशेष-विशेष महत्त्व है। फिर भी आज का मानव प्रत्यक्ष को अधिक महत्त्व देता है। जो वस्तुस्थिति छिपी हुई है, सत्य होने पर भी वह लोगों को सम्यग् रीति से प्रतीति का विषय नहीं होती। प्रत्यक्ष के लिये तो दूसरे किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं होती। हाथ कंगन को आरसी क्या ? इन्द्रिय और मनके द्वारा साक्षात् जिस वस्तु का बोध होता है वह प्रत्यक्ष है। प्रत्यक्ष को तो सब प्रामाणिक मानते हैं। जो प्रत्यक्ष को भी नहीं मानता वह प्रामाणिकों की परिषद् में स्थान नहीं पा सकता। वह अप्रमाणिक है। सब लोग प्रत्यक्ष को मानते हैं परन्तु चार्वाक आदि ने प्रत्यक्ष की जितनी संकुचित व्याख्या की, वस्तुतः वह प्रत्यक्ष इतना ही नहीं है। उसका विषय और क्षेत्र उससे कहीं अधिक व्यापक और विस्तृत है। आज का नास्तिकवादी मानव इन्द्रिय प्रत्यक्ष को ही सम्पूर्ण प्रत्यक्ष मान बैठा है। वह प्रत्यक्ष की परिभाषा को बराबर नहीं समझता।

वस्तु का स्वरूप दो तरह से सामने आता है। इन्द्रियों की सहायता से भी वस्तु का स्वरूप जाना जाता है और इन्द्रियों की सहायता लिये बिना भी आत्मा के द्वारा विशेष निर्मल रूप से वस्तु का स्वरूप जाना जाता है। इन्द्रियों के द्वारा वस्तु का जो स्वरूप सामने आता है वह पाँच प्रकार का है। इन्द्रियाँ पाँच हैं और उनके विषय भी अलग-अलग पाँच प्रकार के हैं। इन्द्रिय-गोचर समस्त चीजों को यदि कोई एक ही इन्द्रिय से प्रत्यक्ष करना चाहे तो यह असम्भव है। मैं जो शब्द बोल रहा हूँ उसे आप श्रोत्रेन्द्रिय से सुन सकते हैं परन्तु आप श्रोत्रेन्द्रिय से शब्द को देखना, सूंघना, चखना या स्पर्श करना चाहें तो यह नहीं हो सकता। शब्द ध्वनियों को सुनने का काम कान का है, आँख-नाक, रसना या त्वचा का नहीं। यदि आप कानों को बंद करके आँखें खोल कर मेरी तरफ देखा करो तो क्या आपको कुछ सुनाई देगा? नहीं! बस सुनने के नाम पर महाशून्य ही होगा। इसी तरह आँख का विषय रूप को ग्रहण करने का है। आँखों से आप देख सकते हैं, सुनना, सूंघना, छूना-चखना यह काम आँख के द्वारा नहीं हो सकता इसी तरह घ्राणेन्द्रिय का काम सूंघना, रसनेन्द्रिय का काम स्वाद को जानना और त्वगिन्द्रिय का कार्य स्पर्श को जानना है। इस प्रकार पाचों इन्द्रियों का विषय और क्षेत्र पृथक् पृथक् है। एक इन्द्रिय के लिए जो विषय प्रत्यक्ष है दूसरी इन्द्रियों के लिए वह विषय परोक्ष है। मिठाई के रंग-आकार आदि का बोध आँख ने कराया परन्तु उसके स्वाद का अनुभव तो

आँख नहीं कर सकती यह रसानुभव तो जीभ ही करेगी। उसकी गन्ध को नाक ही ग्रहण करेगा। इस प्रकार एक-एक इन्द्रिय के द्वारा होने वाला अनुभव अपूर्ण होता है। इन्द्रियों के द्वारा पृथक् पृथक् अपने विषय को ग्रहण कर लेने के बाद सामूहिक रूप से जो यह प्रतीति होती है कि मैंने कान से सुना है, आँख से देखा है, नाक से सूंघा है, जीभ से चखा है, स्पर्शनेन्द्रिय से छूआ है; इस प्रतीति का करने वाला कौन है ? इन्द्रियों की प्रवृत्ति तो अपने अपने क्षेत्र में ही होती है, वे तो एक एक विषय को ही जान सकती है अतएव उनसे तो ऐसी प्रतीति हो नहीं सकती। फिर यह समुच्चय प्रतीति करने वाला कौन है ? यह सामूहिक प्रतीति करने वाला इन्द्रियों का अधिष्ठाता आत्मा ही है। इन्द्रिय प्रत्यक्ष अत्यन्त अपूर्ण है। आत्मा इन्द्रिय-ग्राह्य नहीं है परन्तु उसकी प्रतीति विभिन्न अकाट्य प्रमाणों द्वारा होती है। इन्द्रिय प्रत्यक्ष से बहुत अधिक स्पष्ट, मँजा हुआ और विशेष निर्मल बोध कराने वाला नो-इन्द्रिय प्रत्यक्ष है। इसमें इन्द्रियों के सहयोग की अपेक्षा नहीं रहती है। यह नो-इन्द्रिय प्रत्यक्ष आत्मा की ही अपेक्षा रखता है। इसमें बाह्य इन्द्रियों के सहयोग की आवश्यकता नहीं रहती। यह इन्द्रिय प्रत्यक्ष की अपेक्षा बहुत अधिक स्पष्ट, व्यापक और उच्च कोटि का होता है।

मैं इन्द्रिय प्रत्यक्ष को ही सम्पूर्ण प्रत्यक्ष मान लेने वाले नास्तिकों को चुनौती देता हूँ कि इन्द्रिय प्रत्यक्ष ही वास्तविक प्रत्यक्ष नहीं है; अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष वस्तुतः असली प्रत्यक्ष है। वस्तु

का स्वरूप जितनी निर्मल रीति से अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष से जाना जाता है उतना स्पष्ट इन्द्रिय प्रत्यक्ष से नहीं जाना जा सकता। प्रत्यक्ष को समझने की आवश्यकता है।

इन्द्रिय-प्रत्यक्ष से तो वस्तु का बोध उसी हालत में हो सकता है जबकि इन्द्रिय और पदार्थ का साक्षात् सम्बन्ध हो। यदि बीच में किसी प्रकार का व्यवधान है तो इन्द्रिय-प्रत्यक्ष से ज्ञान नहीं हो सकता। अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष तो दूर—व्यवधान होने पर भी वस्तु को ग्रहण कर लेता है। वह संवृत-असंवृत, व्यवहित-अव्यवहित, समीपस्थ-दूरस्थ, सबको जानने की शक्ति रखता है। इत्र की शीशी के डाट लगा हो तो नाक उसकी सुगंध को नहीं जान सकता। रबड़ में लपेट कर लड्डू मुँह में दे दिया जाय तो रसना लड्डू के स्वाद को नहीं जान सकती। स्पर्श योग्य वस्तु यदि किसी दूसरे वस्त्रादि में लिपटी हुई है तो स्पर्शनेन्द्रिय ऊपर के पर्दे के स्पर्श को बताएगी परन्तु उसके अन्दर की वस्तु के स्पर्श को वह नहीं ग्रहण कर सकता। आँखों पर मोतिया आ जाय तो आँखें सन्मुख स्थित वस्तु को भी नहीं देख सकतीं। आँख में कुछ दूर स्थित पदार्थ को देखने की शक्ति है परन्तु पर्दा आजाने से उसकी शक्ति और गति रुक जाती है। अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष ऐसा है कि इसमें इन्द्रियों की आवश्यकता ही नहीं रहती। यहाँ आँख नाक कान के डाक्टरों को नजराने मेहनताने शुकराने भरने की जरूरत नहीं रहती।

इन्द्रियों की सहायता से होने वाला ज्ञान उस दीपक के समान है जिसमें तैल की जरूरत रहती है, बत्ती की आवश्यकता है, परन्तु

अतीन्द्रिय—आत्मीय ज्ञान तो सूर्य है। सूर्य के लिए न तो तेल, न बत्ती, न गैस ही चाहिए; वह तो स्वयं ज्योतिर्मय है, उसके अणु-अणु में, कण-कण में प्रकाश भरा है। यही कारण है कि वह व्यापक क्षेत्र को आलोकित कर देता है। करोड़ों दीपों के प्रकाश की अपेक्षा भी सूर्य का प्रकाश विशेष होता है। इसी तरह इन्द्रियप्रत्यक्षरूपी दीपों से अतीन्द्रिय प्रत्यक्षरूपी सूर्य का करोड़ों गुणा अधिक निर्मल आलोक होता है। दीपक, मोमबत्ती, गैस, बल्ब की आवश्यकता वहीं तक रहती है जहाँ तक सूर्य का उदय न हो। जब सूर्योदय हो जाता है तो लोग उनको स्वयं बुझा देते हैं। या वे स्वयं सूर्य-प्रकाश के आगे निष्प्रभ हो जाते हैं इसी तरह इन्द्रिय जन्य ज्ञान की तभी तक आवश्यकता रहती है जब तक आत्मीय-प्रत्यक्ष नहीं होता। जब आत्मीय प्रत्यक्ष हो जाता है तो इन्द्रिय-प्रत्यक्ष की उपयोगिता नहीं रह जाती है।

आत्मीय-प्रत्यक्ष के तीन भेद हैं—अवधिज्ञान, मनः पर्यायज्ञान और केवलज्ञान। आदि के दो भेदों को विकल पारमार्थिक प्रत्यक्ष कहा जाता है और केवलज्ञान को सकल पारमार्थिक प्रत्यक्ष कहते हैं। यह तीनों प्रकार के ज्ञान दूरस्थ—समीपस्थ, आवृत—अनावृत्त पदार्थों को जानने की तरतम शक्ति रखते हैं। नदी-नालों या पहाड़ों से यह ज्ञान प्रतिहत नहीं होते।

मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान और मनःपर्यायज्ञान, ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से सम्बन्ध रखते हैं जबकि केवलज्ञान क्षायिक भाव से होता है। ज्ञानावरण कर्म का जब सम्पूर्णतया

क्षय हो जाता है तब केवलज्ञान प्रकट होता है। केवलज्ञान में तरतमता नहीं है। यहाँ सम्पूर्णता है। अन्य चार ज्ञानों में तरतमता है। क्षयोपशम की विचित्रता के कारण ज्ञानों में तरतमता आती है। जितना जितना ज्ञानावरण का क्षयोपशम होता है उतना उतना ज्ञान प्रकट होता जाता है। जिस प्रकार चन्द्रमा की कलाओं पर से राहु केतु का आवरण जितना जितना दूर होता है उतनी-उतनी उसकी कलाएँ विकसित होती रहती हैं इसी तरह कर्म आवरण का जितना २ क्षयोपशम होता है उतनी-उतनी आत्मा की ज्ञानज्योति जगमगाने लगती है। क्षयोपशम की अधिकता-तीव्रता हुई तो ज्ञान की मात्रा विशेष होती है और क्षयोपशम की मन्दता हुई तो ज्ञान की मात्रा में भी मन्दता आती है। दीपक में या गैस में तेल, बत्ती या हवा कम होती है तो दीपक का प्रकाश मंद हो जाता है और पर्याप्त तेल या हवा होती है तो प्रकाश भी तीव्र होता है।

मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान और ऋजुमति मनःपर्यायज्ञान प्रतिपाति ज्ञान हैं। अर्थात् प्राप्ति के पश्चात् भी ये विलीन हो सकते हैं। जिस प्रकार झूले का पलड़ा कभी ऊँचा जाता है और कभी नीचा आ जाता है, ऊपर वाला नीचे आ जाता है और नीचे वाला ऊपर चला जाता है, झूले के पलड़े के ऊपर-नीचे जाने के साथ साथ उसमें बैठने वाला व्यक्ति भी ऊपर-नीचे जाता आता रहता है इसी तरह इन चार प्रतिपाति ज्ञानों का भी यही सिलसिला है। अध्यवसायों के झूले में यह आत्मा झूल रहा है। झूलने वाला भी यही है और झुलाने वाला भी यही है। कोई दूसरी शक्ति इसमें दखल नहीं देती। जब आत्मा के अध्यवसाय-विचार

वर्धमान होते हैं तब वह विशेष क्षयोपशम कर लेता है और उसे विशेष ज्ञान की उपलब्धि हो जाती है। जब आत्मा के अध्यवसाय हायमान—निम्नता की ओर होते हैं तब क्षयोपशम मंद पड़ जाता है और अज्ञान का पर्दा आत्मा की ज्ञान ज्योति को ढँक लेता है। इसलिए हे भद्रपुरुषो ! अध्यवसायों पर खूब नियन्त्रण रखने की आवश्यकता है। अध्यवसायों में गजब की शक्ति है। ये ही अध्यवसाय प्रसन्नचन्द्र राजर्षि को सातवीं नारकी में ले जाने की भूमिका बना चुके थे और ये ही अध्यवसाय थोड़े ही क्षणों के बाद उन्हें केवलज्ञान-केवलदर्शन प्रदान करने वाले बन गये ! अध्यवसाय बहुत सूक्ष्म होते हैं परन्तु उनमें शक्ति गजब की होती है। आजका विज्ञान भी यह मानता है कि सूक्ष्म वस्तु में विशेष शक्ति होती है। अणु उसका उदाहरण है। कितना सूक्ष्म है अणु; परन्तु उसकी शक्ति कितनी विराट है। अणु की विराट शक्ति ने विश्व को आश्चर्य चकित कर दिया है। अध्यवसाय तो अणु से भी अनन्त गुण सूक्ष्म हैं अतएव उनकी शक्ति अत्यन्त विराट है।

अध्यवसायों की उज्ज्वलता और मलिनता पर ही उत्थान और पतन का दार-मदार है। क्षयोपशम का आधार भी अध्यवसायों की उज्ज्वलता और मलिनता पर ही निर्भर है अतएव अपने अध्यवसायों को सदा उज्ज्वल रखने का प्रयत्न करना चाहिए।

सज्जनों ! आत्मा के विचार जब वर्धमान होते हैं तो उसमें व्यापक उदारता आ जाती है। वह जाति-बन्धन और क्षेत्र-बन्धन को महत्त्व न देता हुआ विश्व के प्राणी मात्र के प्रति मैत्रीभाव

स्थापित करता है। जहाँ विचारों में परिणामों में सकीर्णता है वहीं जाति के ब धनों को या क्षेत्र के ब-धनों को आवश्यकता से अधिक महत्त्व दिया जाता है। जो लोग सकीर्ण जाति बन्धनों को अत्यधिक महत्त्व देकर दूसरों को हीन बुद्धि से देखते हैं, उनके साथ सम्पर्क स्थापित करने में अपनी मानहानि समझते हैं तो उनका नम्बर कांटे के ऊपरी पलडे में आनेवाला नहीं है। जिनके अध्यवसाय-उच्च, उदार और उन्नत होंगे वे ही कांटे के ऊपरी पलडे में स्थान पा सकेंगे। उदारता ही उन्नत बनाने वाली और ऊँचा उठाने वाली है। दुनिया के लोगो! आपको वीतराग प्रभु के समान देव मिले जिनकी वाणी, जिनका सिद्धान्त, जाति-पांति के बधनों से मुक्त है, फिर आपमें इतनी सकीर्णता क्यों आ घुसी? सज्जनों! याद रखना चाहिए कि मनुष्य की सद्भावना ही मनुष्य को सुखी बनाती है, और मनुष्य की दुर्भावना ही उसे दु खी बनाती है। आग जिस स्थान पर जलती है उस स्थान को तो वह पहले जला देती है बाद में दूसरों को जलाती है। जिसके दिल में बुरी बात उठती है, वह दूसरे को नुकसान पहुँचाने के पहले उसका ही बुरा करती है। दियासलाई भड़-भड कर दूसरे को जला देती है परन्तु पहले वह स्वय ही जल जाती है। अतएव दूसरों को हानि पहुँचाने की दुर्भावना मन म नहीं रखनी चाहिए। दूसरों को ऊँचा उठाने की सद्भावना से अपने अन्त करण को पुनीत रखना चाहिए।

सज्जनों! अन्त करण में जो बात है उसे उसी रूप में बाहर रखना चाहिए। मन म कुछ और हो, वाणी से कुछ

और कहा जाय और कार्य द्वारा कुछ और वर्ताव किया जाय तो यह हृदय की मलिनता की निशानी है। कृत्रिमता और बाहरी दिखावे से कुछ लाभ होने वाला नहीं है। गीदड़ शेर की खाल ओढ़ कर शेर बनना चाहेगा तो वह नुक्सान उठाएगा। ज्योंही वह अपनी प्रकृति के अनुसार आवाज करेगा– ऊँ ऊँ करेगा कि गाँव के कुत्ते दौड़ कर उसे खा जाएँगे। नकली शेर की खैर इसमें ही है कि वह बोले नहीं, चुपचाप रहे। अगर वह बोलेगा तो टांग तुड़वा–फुड़वा बैठेगा या जीवनांत कर बैठेगा। अतएव कृत्रिमता को दूर रखकर हृदय की सद्भावना के साथ प्रत्येक पहलू पर विचार करना चाहिए और उदार दृष्टिकोण रखते हुए उन भाइयों के प्रति सद्भावना और सद्व्यवहार रखना चाहिए जिनकी जातिगत नगण्य कारणों को लेकर आपने उपेक्षा कर रखी है। जिन भाइयों का खानपान एक है, रहन–सहन एकसा है, आचार-विचार और रीति–रिवाज एक से हैं, धर्म और संस्कृति एक ही है उनके साथ भोजन–व्यवहार तक का सम्बन्ध न रखना बुद्धि और हृदय को उचित प्रतीत नहीं होता। आप लोग उदारता के साथ इस बात पर विचार करें।

मनुष्य के उद्गार, विचार और वृत्ति जब उदार होती है तब वह सारे विश्व को सुखी देखना चाहता है। वह यह सद्भावना रखता है कि—

सर्वे सुखिनः सन्तु सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद्दुःखभाग् भवेत ॥

संसार के समस्त प्राणी सुखी हों, सब रोग रहित और स्वस्थ हों। सबका कल्याण हो। कोई भी प्राणी दुःख का अनुभव न करे! कितनी सुन्दर, उदार और पवित्र भावना है! सचमुच वही सच्चा मानव है जो दूसरों को सुखी देखना चाहता है। वह असाधारण दिव्य-गुणों से विभूषित होता है। वह मानव के रूप में देव होता है। जिनका जीवन अपने लिए नहीं अपितु विश्व के हितार्थ होता है वे इन्सान ही नहीं, भगवान् भी कहे जा सकते हैं।

इसके विपरीत जो स्वार्थ में मशगूल होते हैं, अपना मतलब हल करना ही जिनका उद्देश्य रहता है, जो दूसरों के सुख-दुःख, मान-अपमान, हानि-लाभ का विचार न करके येनकेन प्रकारेण अपना उल्लू सीधा करना चाहते हैं, वे तो मानव की गणना में भी नहीं आ सकते। एकान्त स्वार्थ बुद्धि रखना मानवता नहीं है। इतनी संकीर्ण और जघन्य स्वार्थ भावनावाला व्यक्ति अपने जरासे मतलब के लिए, अपने मिथ्या मान-सम्मान के लिए दूसरों को हानि पहुँचाने में जरा भी नहीं हिचकता। यह स्थिति मानवता की नहीं अपितु दानवता की होती है। ऐसी दानवीय प्रकृति वाले मानव, मानवता के कलक रूप हैं।

जिनके विचारों में, जिनकी वृत्ति में उदारता नहीं है, जो संकीर्ण दृष्टिकोण से—स्वार्थ के चश्मे से देखते हैं, वे दूसरों की हानि या क्षति का विचार न रखते हुए, नीति-अनीति की मर्यादा को एक धाजू रख कर येनकेन प्रकारेण धन आदि एकत्रित करने

में जुट पड़ते हैं और कदाचित् संयोगवश उन्हें इष्ट सामग्री की प्राप्त हो जाती है तो वे एकदम फूल कर कुप्पे हो जाते हैं। वे क्षुद्र हृदय वाले होने से वर्षाकाल की पहाड़ी नदी की तरह एकदम मर्यादा छोड़ देते हैं। वे धन के अभिमान में, उच्च-वर्ण या कुल के अभिमान में, राज्य या प्रभुत्व के अभिमान में छके रहते हैं। परन्तु उन्हें यह विदित होना चाहिए कि अभिमान का नतीजा कभी अच्छा नहीं होता। किसी का अभिमान कभी चला नहीं। पहाड़ी नदी का पूर कब तक रह सकता है ? वह तो बहुत जल्दी ही उतरता है। जिस किसी ने भी अभिमान किया, उसका परिणाम बड़ा भयंकर रूप से सामने आया। सनत्कुमार चक्रवर्त्ती ने अपने रूप का अभिमान किया तो उनके सुन्दर शरीर में रोग के कीटाणु उत्पन्न हो गये और वह कञ्चनसी काया कीटाणुओं का घर बन गई। जिस स्वर्ण के समान गौर वर्ण की काया पर सनत्कुमार चक्रवर्त्ती फूले नहीं समाते थे वह उनकी काया एक दिन रोग के कीटाणुओं से तहस-नहस हो गई। अभिमान किसका बना रह सकता है ?

संभूम चक्रवर्त्ती ने छह खण्डों पर विजय-पताका फहरा दी। परन्तु उसका अभिमान जागृत हुआ। उसने सोचा—पहले जो चक्रवर्त्ती हो चुके हैं उन्होंने भी छह खण्डों को जीता था। मैंने छह खण्डों पर विजय प्राप्त की तो कोई विशेष बात नहीं हुई। मैं सब से विशेष बनूँ। मैं सातवाँ खण्ड जीत कर सब से विशिष्ट सन्मान और ऋद्धि प्राप्त करूँगा। उसने सातवें खण्ड को जीतने

का निश्चय किया। चतुर सलाहकारों और हितचिन्तकों ने उसे समझाना चाहा -आज तक किसी ने छह खण्ड से अधिक खण्ड पर शासन नहीं किया। यह असभव है। आप इस विचार को छोड दीजिए और छह खण्डों के विराट् साम्राज्य से ही सतोष मानिये। परन्तु सभूम का अभिमान जागृत हो चुका था। वह सब भूतकालीन चक्रवर्त्तियों के रेकार्ड को तोड़कर अपना विशेष रेकार्ड स्थापित करना चाहता था। वह अपने आपको सबसे अधिक चक्रवर्त्तियों का भी चक्रवर्त्ती सिद्ध करना चाहता था। उसे अपनी शक्ति का अभिमान हो आया था। सलाहकारों ने बहुतेरा समझाया परन्तु उसके जागृत अहकार ने एक नहीं सुनी। वह एक नहीं माना और सतम खड साधने की तैयारी करने लगा।

हाय! यह तृष्णा कैसी बुरी बलाय है। यह कभी वृद्ध नहीं होती, यह कभी नहीं मरती! तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णा.। इन्सान जीर्ण हो जाता है परन्तु उसकी तृष्णा युवती बनी रहती है। अजब माया है इस तृष्णा की! ज्यों ज्यों विशेष प्राप्ति होती जाती है त्यो त्यों यह शान्त होने, क बजाय बढती जाती है! यह वह खप्पर है जो कभी भरता ही नहीं। सारी दुनिया की दौलत किसी एक व्यक्ति को दे दी जाय तो भी वह तृप्त नहीं होगा और यह चाहेगा कि और थोड़ा मिल जाय तो अच्छा! छह खण्ड का विशाल साम्राज्य प्राप्त कर चुकने पर भी सभूम की तृष्णा तृप्त न हुई! आश्चर्य! महा आश्चर्य है! इस तृष्णा की अनन्ता पर!

जब मानव अभिमान और तृष्णा के वश में हो जाता है तो वह हित चिन्तकों और समझाने बुझाने वालों की भी एक नहीं सुनता। वह अभिमान और तृष्णा के नशे में इतना बेभान हो जाता है कि दूसरों की हित की बात भी उसे नहीं सुहाती। जो व्यक्ति निस्वार्थभाव से हित की बात कहता है, सच्ची सलाह देता है वह "तिन्नाणं तारयाणं" होता है अर्थात् वह नेक सलाह के द्वारा दूसरे का भी भला करता है और ऐसा करता हुआ अपना भी भला करता है। परन्तु जो किसी स्वार्थवश अथवा तमाशा देखने की नीयत से किसी को खोटी सलाह देता है वह "डूब्बाणं डूवियाणं" है अर्थात् वह सामने वाले को भी डुबाता है और ऐसा करके स्वयं भी डूबता है। श्रावक का यह कर्त्तव्य है कि वह किसी को खोटी सलाह न दे। लाग-लपेट की बात न कहे। संभूम के मन्त्रियों ने और हितैषियों ने उसे बहुतेरा समझाया कि आप सप्तम खंड विजय की अनहोनी बात छोड़ दीजिए। ऐसा न कभी हुआ है और न होगा।

सभूम छह खण्ड के विजयोन्माद से मतवाला था। वह भला क्या सुनता! उसने यही कहा—ऐसा पहले कभी नहीं हुआ इसीलिए तो मैं यह सप्तम खण्ड विजय करके अनोखा काम करना चाहता हूँ। इसमें ही तो मेरी विशेषता है! बात यह है कि जब पतन के दिन आते हैं तो व्यक्ति की बुद्धि भी फिर जाती है। उसकी अशुभ भवितव्यता उसे विपरीत ही विपरीत प्रेरणा करती है। वह हितैपियों की किसी बात पर ध्यान नहीं देता। जो व्यक्ति

किसी निःस्वार्थ हितचिन्तक के कथन को ठुकरा देता है वह हतभागा आती हुई लक्ष्मी को ठुकराता है। जो हितैषियों के वचनों का सन्मान करता है वह दुःख से बच जाता है और सुख पाता है। प्रत्येक व्यक्ति को दिल और दिमाग मिला है। उसे उनका सदुपयोग करना चाहिए। सलाह लेने और मानने के पहले उसे यह देख लेना चाहिये कि यह मेरा हितैषी है या नहीं। यदि वह हितैषी है तो उसकी बात का आदर करना चाहिए। यदि वह हितैषी नहीं है तो उसकी बात पर ध्यान न दो। सही बात तो दुश्मन की भी मान लो। यदि बुरी चीज है तो कोई अपना व्यक्ति भी कहे तो उसे छोड़ दो। विषमिश्रित पकवान है तो उसे छोड़ देना चाहिए नहीं तो "राम-नाम सत है और आगे गया गत है।" अतएव व्यक्ति को पहले अपने दिल और दिमाग से हितैषी या अहितैषी का निर्णय करना चाहिए। अरे तू दूसरों के हिसाब करता है और अपना हिसाब नहीं करता! यह कैसी बात है? जब यह ज्ञात हो जाय कि अमुक व्यक्ति मेरे हितैषी हैं तो फिर उनकी बात को मानना चाहिए।

जब पतन की अवस्था आती है तब संयोग भी वैसे ही बन जाते हैं। रावण कितना नीतिमान, राजनीतिज्ञ और शिव-भक्त था! सुना जाता है कि उसने भक्ति के आवेग में शिवजी के सामने अपना मस्तक चढ़ा दिया था। ऐसा धर्मनिष्ठ एवं राजनीति का मर्मज्ञ रावण भी बुरे दिन आने पर दुर्बुद्धि का शिकार बन गया और उसने परस्त्री-सीता का हरण कर सकल मर्यादाओं पर पानी फेर दिया। उसके कुटुम्बियों ने और हितैषियों ने उसे बहुत

समझाया कि सीता को लौटा दीजिए परन्तु दुर्बुद्धिग्रस्त रावण ने एक न मानी और अन्ततः वह मारा गया। प्रायः विपत्ति के दिन आने पर पुरुषों की बुद्धि मलिन हो जाती है। कहा है—

असंभवं हेममृगस्य जन्म, तथापि रामो लुलुभे मृगाय ।
प्रायः समापन्नविपत्तिकाले, धियोऽपि पुंसां मलिना भवन्ति ॥

रामचन्द्रजी क्या यह नहीं जानते थे कि सोने का मृग हो नहीं सकता ? फिर भी वे सोने के मृग के पीछे दौड़े और इधर रावण ने सीता का हरण कर लिया ! बात यह है कि जब आपत्ति आने वाली होती है तब पुरुष की बुद्धि मलिन हो जाती है।

हां तो संभूम चक्रवर्त्ती के भी बुरे दिन आ लगे थे। उसकी बुद्धि में अहंकार जाग उठा। वह अपने आपको बहुत बड़ा समझने लगा। हितैषियों ने समझाया परन्तु वह अपने सामने सबको तुच्छ समझने लगा। जो व्यक्ति अपने आपको बहुत बड़ा मानता है और दूसरों को छोटा समझ कर तिरस्कृत करता है वह पतन के गहरे गर्त में गिरने की तैयारी करता है। जहाँ व्यक्ति में किसी प्रकार का अभिमान जाग उठता है तो उसका पतन होने वाला समझना चाहिए। अभिमान पतन का निशान है। जाति के अभिमान ने आत्मा को निगोद में गिराया। जाति के अभिमान ने भगवान् महावीर के जीव को भी मज़ा चखाया। अभिमान बहुत बुरा है। अभिमान उस अवस्था में जागृत होता है जब पतन का समय आता है।

कह रहा यह आसमां, कुछ समय का फेर है।
पाप का घड़ा भर गया अब डूबने की देर है॥

सभूम का अभिमान जागृत हो उठा था। उसने किसी की नहीं मानी और सातवाँ खण्ड जीतने के लिए समुद्र में प्रस्थान कर दिया।

खंड सातवां साधन चला चक्री संभूमजी।
चक्र—बनूँ चक्री नहीं चक्कर कहलाएँगे॥
माया के लोभी जीवड़े यों ही पछताएँगे।
खाया न खरचा हाथ से खाली ही जाएँगे॥
डूबा सागर के बीच में नरक सातवीं गया।
तैंतीस सागर की आयुष्य लौं दुःख बहुत पाएँगे॥
माया के लोभी जीवड़े यों ही पछताएँगे।
खाया न खरचा हाथ से खाली ही जाएँगे॥

संभूम समुद्र में आगे बढ़ता गया। सप्तम खण्ड विजय करने की आशा में वह जहाज लेकर आगे बढ़ता गया। सग-सग करता जहाज आगे बढ़ता जाता था। सभूम की तृष्णा और अभिमान भी बढ़ते जाते थे। नतीजा यह हुआ कि समुद्र के बीच में पहुँच कर जहाज डूब गया और संभूम मर कर सातवीं नरक-पृथ्वी में तैंतीस सागरोपम की सब से उत्कृष्ट स्थिति-वाला नारकी बना। यह तृष्णा और अभिमान के वश में पड़ कर स्वयं भी डूबा और दूसरों को भी डुबोया। सज्जनों! अभिमान और

तृष्णा के चक्कर से बचो। ये पतन के मूल हैं। अधिक तृष्णा और अभिमान को पतन के चिह्न समझ कर उनसे दूर रहना चाहिए।

भद्रपुरुषों ! मैं पहले कह चुका हूँ कि जीवन का उत्थान और पतन उसके अध्यवसायों पर अवलम्बित है। जिसके अध्यवसाय, जिसके विचार, पवित्र, उदार और विश्व-हितकर होते हैं उसका जीवन ऊँचा होता है। जब विचार ह्रायमान होते हैं तो जीवन भी ह्रायमान होता है। दीपक में तेल ज्यों ज्यों कम होता है ज्योति मंद पड़ती जाती है और ज्यों तेल चढ़ता है त्यों ज्योति बढ़ती है।

परिणामों की धारा बड़ी बलवती है। परिणामों की धारा जिस दिशा में चल पड़ती है कुछ ही क्षणों में क्या से क्या बना देती है। यदि परिणामों की धारा वर्धमान हो—ऊर्ध्वगामिनी हो तो अन्तर्मुहूर्त में केवलज्ञान हो सकता है। जिस लम्बे सफर को यों अनन्तकाल तक तय नहीं किया जा सकता उसको ऊर्ध्वगामी अध्यवसायों से अन्तर्मुहूर्त में तय कर लिया जा सकता है। इसलिए कहा गया है—

भावना भवनाशिनी

उदात्त भावना, पवित्र अध्यवसाय अनन्तकालीन भवभ्रमण को रोकने वाले होते हैं। ये जन्म-मरण को नष्ट कर देते हैं। ये आत्मा को उन्नत बना देते हैं। जिस प्रकार किश्ती (नाव) जल के ऊपर तैरती है। जैसे जैसे पानी ऊँचा उठता है त्यों त्यों उसके

साथ साथ नाव का उत्थान भी अवश्य होता है। हाँ, यह आवश्यक है कि नाव में छेद न हों। यदि नाव में छिद्र होंगे तो उसमें पानी भर जायगा। पानी ऊपर और नाव नीचे बैठ जायगी। आस्राविणी नौका कभी पार नहीं जा सकती। छिद्र रहित नौका ही पार जा सकती है और दूसरों को पार पहुँचा सकती है। उस नौका ने छोटी २ तख्तियों को गले लगा रखा है, अपना रखा है, मिला रखा है इसलिए वह कुशलता से पार पहुँच जाती है छोटी छोटी तख्तियों की उपेक्षा कर उनको निकाल दिया जाय तो क्या नाव पार पहुँच सकेगी? कदापि नहीं। वह आस्राविणी नौका बीच में ही डूब जायगी। इसी तरह वह जाति, वह समाज और वह राष्ट्र उन्नति नहीं कर सकता जो छोटे २ समूहों की उपेक्षा करता है या उनको विस्मृत करता है। वही जाति और वही राष्ट्र उन्नति कर सकेगा जो छोटे २ समूहों को भी मिला कर रखता है। उनको अपनाता है और उनसे मेल-जोल बढ़ाता है। छोटों से ही बड़ों का महत्त्व है। इसी तरह बड़ों का सन्मान रखना छोटों का कर्त्तव्य है। जिस जाति या समाज में परस्पर मेल-जोल है, जो जाति उदार दृष्टिकोण रखकर सबको अपनाती है वह उन्नतिशील होती है।

भगवान् महावीर का सदेश और उपदेश बड़ा उदार है। उसमें संकीर्णता का लवलेश तक नहीं है। अतएव आपका दृष्टिकोण, आपकी विचार पद्धति, आपकी रीति-नीति में विशेष रूप से उदारता होनी चाहिए। यह स्मरण रखना चाहिए कि उदारता

का पानी ज्यों ज्यों चढ़ता है, जीवन का स्तर भी ऊँचा होता जाता है।

जो पुरुष उच्च आशय के होते हैं वे हमेशा ऊँचा ही विचार रखते हैं, ऊँचे वचन बोलते हैं, और ऊँचे ही कार्य करते हैं। ओछी प्रकृति का व्यक्ति उनके प्रति कदाचित् ओछा व्यवहार करता है तो भी वे उसके प्रति ओछे नहीं बनते। कहा है—

ऊँचा तो ऊँची भजे, नीची भजे अजान।
जो ऊँचा नीची भजे तो हो अनचिन्तिहान॥

अच्छे-बुरे की यही तो पहचान है। अच्छे पुरुषों के पद्म-निशान नहीं होते और नीच पुरुषों के सींग नहीं होते तदपि उनके कार्य, उनके विचार और उनके शब्द उनकी महानता या लघुता को प्रकट कर देते हैं। मनुष्य की वाणी, उसके विचार और उसके व्यवहार अपने आप बता देते हैं कि यह व्यक्ति महाशय है या क्षुद्र प्रकृति वाला है? अतएव विचार में, उद्गार में, उच्चार में और व्यवहार में उदारता और विशालता का पुट होना चाहिए। ऐसी उदात्त भावना से आत्मा का अभ्युदय होता है।

भद्रपुरुषों! आत्मा अपने अशुभ अध्यवसायों के कारण ही जड़ के फंदे में फँसा हुआ है। इसका छुटकारा करने का उपाय शुभ अध्यवसाय है। अनात्मभावी परिणतियों से हटना चाहिए। आत्मा की अपरिमित शक्ति है। इस शक्ति की दिशा को बदल देना है। विभाव परिणत आत्मा जड़ पदार्थों के प्रति अपनी शक्ति

का प्रयोग करता है। आवश्यकता इस बात की है कि विभाव परिणतियों को रोक कर स्वाभाविक गुणों के विकास में उस अनन्त शक्ति का प्रयोग किया जाय। प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, आगम आदि प्रमाणों से आत्मा और उसके अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख और अनन्तबल-वीर्यरूप अनन्त चतुष्टय की सिद्धि होती है। इन प्रमाणों को प्रमाणरूप मानना चाहिए। केवल इन्द्रिय प्रत्यक्ष ही प्रमाण नहीं है। एक ही पाये के खाट पर बैठ कर किसी ने आनन्द नहीं लिया। प्रमाण के सब स्वरूपों का अपना महत्त्व है अतएव सबको वस्तुबोधक होने से प्रमाणभूत मानना चाहिए। इन्द्रिय प्रत्यक्ष से अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष का विशेष महत्त्व है। वह विशद स्फुट और निर्मल है। आँख के बिना सब कुछ देख सकता है, कान के बिना सब कुछ सुन सकता है। वह इन्द्रियों की सहायता लिए बिना ही लोकालोक को जान सकता है। उस अतीन्द्रिय ज्ञान की प्राप्ति के लिए कठिन साधना की आवश्यकता है। वह अतीन्द्रिय ज्ञान साधना द्वारा साध्य और प्राप्य है। भूतकाल में अनन्त आत्माओं ने इस अतीन्द्रियज्ञान को प्राप्त किया है वर्तमान में भी प्राप्त कर रहे हैं और भविष्य में भी प्राप्त करेंगे। अतएव हम सबको उस अतीन्द्रियज्ञान की प्राप्ति के लिए साधना करने की आवश्यकता है। आत्मा में अनन्त शक्ति विद्यमान है। कहीं बाहर से कुछ नहीं लाना है। अपने अन्दर छिपी हुई उस अनन्तज्ञान ज्योति को और अनन्त सुखनिधि को प्रकट करना है। इसके लिए ही पुरुषार्थ करना है। ज्ञान-बल से आत्मा की सहज

अवस्था और विभाव अवस्था को जानकर आत्मा की सहज-शुद्ध स्थिति को प्रकट करना चाहिए। जो आत्माएँ ज्ञान की आराधना करती हैं और आत्म-स्वरूप को पहचान कर उसकी उपलब्धि के लिए यत्न करती हैं वे अनन्तज्ञानी और अनन्त सुखी बन जाती हैं।

आत्म-सिंह की गर्जना

वीरः सर्वसुरासुरेन्द्रमहितो वीरं बुधाः संश्रिताः।
वीरेणाभिहतः स्वकर्मनिचयो वीराय नित्यं नमः॥
वीरात्तीर्थमिदं प्रवृत्तमतुलं वीरस्य घोरं तपो।
वीरे श्री धृतिकीर्तिकान्तिनिचयः श्रीवीर! भद्रं दिश॥

सुखाभिलाषी भव्य आत्माओ!

प्रतिदिन मैं आत्मा के सम्बन्ध में विवेचन करता हूँ। आज भी उस दिशा में चलना है। आत्मा का विषय इतना व्यापक है कि उसकी विवेचना जितनी की जाय उतनी ही थोड़ी है। विश्व की सभी बातों का सम्बन्ध इस आत्म-तत्त्व के साथ सम्बन्धित है। सारे विश्व का केन्द्र आत्मा है। यहीं से सब गाड़ियाँ चालू होती हैं। इतनी व्यापक है यह आत्मा। इतनी व्यापक होने पर भी इसकी गूढ़ता बड़ी दुर्गम है। यह एक उलझी हुई पहेली है। इस पहेली को सही-सही बूझना बड़ा कठिन कार्य है।

आत्म-तत्त्व की इस गूढ़ता को समझने के लिए अनादिकाल से जिज्ञासु पुरुषों ने युग-युग पर्यन्त कठोर साधना की है। इस तत्त्व के अन्वेषण, गवेषण और पर्यवेक्षण के पीछे असंख्य साधकों ने अपनी शक्ति लगाई है। उन्होंने लम्बी-लम्बी अवधियाँ और

आयु का विशेष भाग इसके चिन्तन में गुजारा परन्तु इस तत्त्व की असलियत को, इसके मर्म को और इसके सत्यस्वरूप को समझने में किसी को सफलता मिली और किसी को नहीं मिली। इसका कारण यही है कि आत्म-ज्ञान का मार्ग बड़ा बीहड़ और दुर्गम है। असाधारण शौर्य, धैर्य और वीर्य के धनी साधक ही इस पथ पर आगे बढ़ सकते हैं। सामान्य व्यक्ति तो इस मार्ग में आनेवाली प्रारम्भिक कठिनाइयों से ही घबरा उठता है और विचलित होकर पथभ्रष्ट हो जाता है। जो व्यक्ति आनेवाली बाधाओं और कठिनाइयों को निर्भीकता और सहिष्णुता के साथ पार करता हुआ आगे बढ़ता जाता है वह अवश्य सफलता प्राप्त करता है। जिसके अन्तःकरण में इस गूढ़ पहेली को समझने की अदम्य उत्कंठा होती है वह तूफानी वायु में भी पहाड़ की तरह अडोल और अविचलित रहता है, पहाड़ों और समुद्रों की दुर्लंघता को चुनौती देता हुआ वह धीर-वीर साधक आगे और आगे बढ़ता चला जाता हैं। आत्मवादी की जागरूक अभिरुचि और उसकी प्रबल उत्कंठा उसे सब बाधाओं पर विजयी बनाती हैं। आत्मवादी सर्वोपरि वीर है। अन्य सब वीर इसके सामने नतमस्तक हो जाते हैं। आत्म-विजयी सब से बड़ा विजेता हैं। आत्म-गवेषक सर्वश्रेष्ठ गवेषक है।

गवेषण के क्षेत्र में आजका मानव बहुत आगे बढ़ गया है। उसने अणु-अणु को छान डाला, द्वीप-समुद्रों को देख डाला, आकाश-मण्डल में सैर करली। एटमबम, उद्जनबम, और नाना

प्रकार की मारक एव सहारक सामग्री उसने तय्यार कर विश्व को आतंकित कर डाला। आकाश म पॅखरू की भांति वह उड़ने लगा। महानों का लम्बा सफर थोड़े ही घटों में वह तय करने लगा। दुनियाँ के किसी कोने में बोले हुए शब्द को वह घर बैठे सुनन लगा। इस प्रकार न जाने कितने कितने आविष्कार मानव की बुद्धि ने कर डाले ! असभव-सी प्रतीत होने वाली बातें आज प्रत्यक्ष में होती हुई देखी जाती हैं। सभव-असभव का प्रश्न अनोखा है ! जिस व्यक्ति में सामर्थ्य कम होता है या जिसके पास साधन नहीं होते हैं वह काय उस व्यक्ति के लिये असभव है परन्तु जिसके पास अपरिमित बल है और साधन-सामग्री है वह काय उसके लिए सभव बन जाता है। जब वायुयानों का आविष्कार नहीं हुआ था तब तक मानव यह समझता था कि हिन्दुस्तान से दो तीन दिन में अमेरिका पहुँचना असम्भव है। किन्तु जब वायुयानों की खोज हो गई तो साधन मिल जाने स वही बात संभव हो गई। इसी तरह न जानें कितनी ही असभव-सी प्रतीत होने वाली बात भविष्य में विज्ञान के बढते जाते हुए विस्तार की बदौलत सामने आ सकती हैं ! यद्यपि विज्ञान की यह खोज जड़ वस्तु के क्षेत्र में ही हुई है अतएव आत्मिक क्षेत्र में इसका कोई विशेष महत्त्व नहीं है तदपि इससे यह तो सिद्ध होता है कि अपूर्ण मानव की सभव असभव की कल्पना वास्तविक और परिपूर्ण नहीं है। बहुत से मनुष्य यह मानते हैं कि "आत्मा का परिपूर्ण विकास असम्भव है। आत्मा केवलज्ञान-केवलदर्शन प्राप्त

कर परमात्मा बन सकता है, यह असम्भव है। कहाँ आत्मा में यह शक्ति जो वहपरमात्मा बन सके! यह पूर्ण ज्ञानी बन सके।" आत्मा के सम्बन्ध में यह भ्रमणा मानव के अपरिपूर्ण साधनों की वजह से है। आत्मा को जब तक आत्म-विकास के साधन उपलब्ध नहीं होते वहाँ तक बेशक, वह परमात्मा या पूर्ण ज्ञानी नहीं बन सकता परन्तु जब आत्मा को साधन मिल जाते हैं तो क्यों नहीं वह परिपूर्ण बन सकता है ? वस्तुतः आत्मा और परमात्मा में मौलिक भेद नहीं है। आत्म-जाति दोनों में एक है। दोनों की अवस्था में—पर्याय में, विकास और अविकास की अपेक्षा भेद है। एक खान से निकला हुआ हीरा है तो दूसरा जौहरी की दुकान पर खराद पर चढ़ाया हुआ और चमचमाता हुआ हीरा है। हीरे की जाति एक ही है। रूप में—दमक चमक में अन्तर है। यह अन्तर मौलिक नहीं है इसलिए मिट सकता है। मूलतः हीरे में चमक है। जब तक वह खान में था और जब वह बाहर निकला तब उसकी चमक आच्छादित थी। जब वह सान पर चढाया गया और घिसा गया तब उसकी चमक-दमक प्रकट हो गई। यदि हीरे में स्वाभाविक चमक-दमक न होती तो सान पर चढ़ाने पर कहाँ से आ जाती ? इसी तरह आत्मा में मूलतः अनन्तज्ञान, अनन्त-दर्शन, अनन्तसुख और अनन्तवीर्य है। वह विभाव परिणतिजन्य कर्म-मैल से आवृत है। जब तप-जप और विशुद्ध भावना रूपी आँच लगती है तो वह कर्म-मैल दूर हो जाता है और आत्मा विशुद्ध होकर परमात्मा बन जाता है। आत्मा का अनन्तज्ञान सम्पन्न परमात्मा बन जाना कोई असम्भव बात नहीं है।

जो ज्ञेय तत्त्व है वह किसी न किसी ज्ञाता के ज्ञान का विषय है। यदि वह किसी ज्ञाता के ज्ञान का विषय नहीं है तो वह ज्ञेय (वस्तु) ही नहीं है। जो ज्ञेय है वह अवश्य किसी ज्ञाता के ज्ञान का विषय है। इस तर्क से संसार के समस्त ज्ञेय (पदार्थों) का कोई ज्ञाता होना चाहिए। जो विश्व के समस्त ज्ञेयों का ज्ञाता है वह केवलज्ञानी—परिपूर्ण ज्ञाता है। चेतन की चेतना के विकास की यहाँ पराकाष्ठा है। उनके ज्ञान में विश्व के समस्त ज्ञेय तत्त्व झलकने लगते हैं। कोई भी बात उनसे अज्ञात नहीं रहती। आत्मवाद पर दृढ विश्वास कर जो अविरल गति से उत्तरोत्तर आगे बढता है वह अपना परिपूर्ण विकास कर लेता है।

जिस प्रकार ट्रेक्टर के लिए सड़क बनाने की जरूरत नहीं रहती। वह जिधर चलता है, अपना रास्ता स्वयं बना लेता है। कोई खड्डा या वृक्ष उसके मार्ग में बाधक नहीं होता। ट्रेक्टर बाधकों को हटाता जाता है और अपना रास्ता बनाता जाता है। दुनिया वालो! कृत्रिम यंत्र अपने मार्ग बाधकों को हटाता जाता है। अविरोधगति से आगे बढता जाता है टेकरियाँ आजायँ तो उन पर चढ जाता है, गड्ढा हो तो भी उसकी गति नहीं रुकती है, पानी में भी वह चलता है, रेत में भी चलता है। जब बनाई हुई जड चीज में इतनी महान् शक्ति है तो आत्मा में कितनी अपार शक्ति का भण्डार होना चाहिए। आत्मा तो शक्ति का डायनामा है। वह सब बाधकों को दूर कर अपना रास्ता साफ बना सकता है। हे आत्मन्! पूर्ववर्ती महाआत्माओं ने तेरे लिए रास्ता साफ कर

रक्खा है तुझे तो केवल उस मार्ग पर चलना है। तू आगे बढ़! जड़ वस्तु ट्रेक्टर जब अपनी प्रगति में बाधकों को हटाता है तो तू चेतन होकर, विश्व का अधिपति होकर बाधाएँ तेरे सामने खड़ी रह जाएँ, अड़ी रह जाएँ यह तेरे लिए शर्म की बात है। जिसने आत्मा की शक्ति को नहीं पहचाना, जिसने आत्म-जागरण नहीं किया उसके लिए ही यह नामोशी (निराशा) है। जिन्होंने आत्मा की शक्ति को पहचान लिया. नामोशी और हतोत्साह उनके पास फटक ही नहीं सकता। भौतिक शक्तियाँ इतनी आगे बढ़ जाएँ और चेतन-शक्ति आँख मींच कर पड़ी रहे यह आश्चर्य की बात है। जुगनू दुनिया को प्रकाशित करे और सूर्य चुपचाप रहे, यह सचमुच आश्चर्य है! भौतिक प्रगति हो रही है और आत्मा गति-शून्य होकर हाथ पर हाथ धर कर बैठा रहे, यह कैसी विचित्र बात है! सच्चा आत्मवादी कभी निराश नहीं होता, वह साधना के क्षेत्र में पीछे नहीं रहता।

सज्जनों! जब किसी पर किसी संस्था की, समाज की, जाति की या धर्म की कोई जिम्मेवारी उसे योग्य और समर्थ जानकर सौंपी जा रही हो उस समय वह व्यक्ति ढीला मुँह बना कर कहता है कि यह तो मेरे वश की बात नहीं है! क्यों भाई! खाना. पीना, धन कमाना, लाभ उठाना तो तेरे वश की बात है और जब देश, जाति, धर्म और समाज के सेवा की कोई बात आती है तो वह तेरे वश की क्यों नहीं? क्या तू काठ का है, ईंट-पत्थर का है जो तेरे वश की बात नहीं। भाई! ऐसी बात मुँह से न निकाल! या

तू तो अपनी शक्ति को भूला बैठा है या तू जानबूझ कर अपनी शक्ति को छिपा रहा है! शायर कहता है:—

अमल अपनी को गर देखे तो तू ही खुद खुदा होवे ।
अगर अपना रूप खल्क पर से जुदा होवे ॥
तो तेरा मर्तबा आला दीन दुनियाँ में था होवे ।
बकुल ताकत मुख नज़र कुल तुझ में अयां होवे ॥

फारसी कवि कहता है:—ए आत्मन्! तू किसकी आराधना करता है? तुझे किसी दूसरे की आराधना करने की आवश्यकता नहीं है। तू स्वयं आराध्य है तुझे किसी दूसरे का आश्रय लेने की जरूरत नहीं है। तू जिनका आश्रय लेता है वे महावीर, राम, कृष्ण या और कोई भी आत्मा ही थे, वे भी इन्सान थे और मल-मूत्र के भौतिक शरीर को धारण करने वाले थे। जब वे आराधक से आराध्य बन सके तो तू आराध्य क्यों नहीं बन सकता? तुझे भी आराध्य रूप बनना है। तू आराध्य बन सकता है अतएव उसके लिए ही तेरा प्रयत्न होना चाहिए।

किसी साहूकार को देखकर उसके गुण गा दिये जाएँ, उसके मकान, दुकान या सामान की तारीफ कर दी जाय तो क्या इससे उसकी दुकान या घर का सामान तुम्हारे घर या दुकान में आ जायगा? नहीं, यों सेंतमेंत ही माल नहीं मिला करता। उसके लिए कीमत चुकानी पड़ती है। यह ठीक है और सत्य है कि उसकी दुकान में अच्छा से अच्छा माल भरा है। आपने उसकी प्रशंसा-

स्तुति कर दी तो क्या इतने मात्र से वह माल आपका हो जायगा ? नहीं ठीक है, उसकी स्तुति करने को भी भूल नहीं जाना चाहिए। गुणियों के गुणों की स्तुति अवश्य करनी चाहिए। परन्तु यदि केवल स्तुति करके ही संतोष मान लिया जाय, इसमें ही कृतार्थता मान ली जाय और अपने जीवन में उन गुणों को स्थान न दिया जाय तो यह तो सेंतमेत ही विना मूल्य चुकाये हो उसका माल हथिया लेने सरीखी बात हो जाती है। दुकान में रहे हुए माल की या दुकानदार की तारीफ से काम नहीं चलेगा। दाम देने पड़ेंगे तब चीज़ मिलेगी। महापुरुषों के जीवन आत्म-भावी गुणों से परिपूर्ण थे। वे सर्वगुण सम्पन्न थे। वह ऐसी दुकान के समान थे जहाँ से जो-चाहे वैसा सौदा लिया जा सकता है। शर्त यही है कि माल मुफ्त नहीं मिलता उसकी कीमत चुकानी पड़ती है। दुकानदार के गुण गाने से, उसकी तारीफ के पुल बाँधने से वह माल दे देने वाला नहीं है। माल प्राप्त करने के लिए दुकान पर जाना होगा, मोल-तोल करना होगा और दाम देकर खरीदना होगा। उस माल की कीमत चुका कर अपने यहाँ लाओगे तो उससे तुम भी नफा कमाओगे। वह माल उस दुकानदार के यहीं पड़ा रहेगा तो उससे तुमको लाभ नहीं प्राप्त होगा। महावीर स्वामी के गुण महावीर स्वामी के हैं। उनके गुणों के अधिपति वे स्वयं हैं। उनकी फर्म से माल लेना है तो उसका दाम देना पड़ेगा। दाम दो और माल लो। नक़द सौदा है उधार का काम नहीं। माल की कीमत चुकाओगे तो तुम्हें माल मिलेगा और उससे नफा कमाकर

तुम निहाल हो जाओगे। भगवान महावीर की बताई हुई बातों को जीवन में उतारना ही उनके गुणों की कीमत चुकाना है। यदि उनके गुणों को अपने हृदय में स्थान दोगे तो मालामाल हो जाओगे। मुनीम भी सेठ की आज्ञा में रहकर उनसे अनुभव पा कर सेठ बन जाता है। उसी तरह आत्मा भी क्रमशः विकास करता करता परमात्मा बन जाता है।

आत्मा में विकास का स्वभाव है। आत्मा विकसित होता हुआ महात्मा बन जाता है और महात्मा विकास करते करते परमात्मा बन जाता है। इसलिए कवि कहता है कि आत्मन्! तू बन्दा नहीं है तू तो खुदा है। केवल एक नुकता लग जाने के कारण तू "जुदा" हो गया है।

उर्दू लिपि में "जीम" और "खे" दो अक्षर हैं। दोनों की आकृति एकसी है। बनावट और शक्ल में कोई फर्क नहीं है। सिर्फ एक नुक़ते (बिन्दी) ने फर्क डाल दिया। उसने अपनी छाप डाल दी—मार्का लगा दिया। यह नुक्ता नीचे लगे तो 'जीम' बन जाता है और ऊपर लग जाता है तो "खे" बन जाता है। नुक्ते का ही हेरफेर है। 'जीम' से जुदा बनता है और 'खे' से खुदा बनता है। इस नुक़्ते को पहचानना चाहिए। भावनारूपी नुक्ता नीचे लग गया अर्थात् भावना गिर गई—बुरे विचारों ने आ घेरा तो जुदा हो गया और भावनारूपी नुक्ता ऊपर चढ़ *गया अर्थात्* अध्यवसायों में उच्चता—पवित्रता आ गई तो बस खुदा बन गया।

नुक़ते के इस हेर-फेर ने कितना अन्दर डाल दिया। 'खुदा' और 'जुदा' में नुक़ता का ही फेर है। यदि नुक़ता निकल गया तो दोनों एक से हो जाते हैं। कोई फर्क नहीं रहता। इसी तरह आत्मा और परमात्मा में भी कर्म-विकार का अन्तर है। काम, क्रोध मद, लोभ आदि विकारों के कारण ही आत्मा और परमात्मा में भेद है। आत्मा काम, क्रोधादि विकारों से ग्रसित है और परमात्मा इन विकारों को जीतकर इनसे अलिप्त हो चुका है। इसके अतिरिक्त आत्मा और परमात्मा में कोई भेद नहीं है। इसलिए आत्मा को परमात्मा के पद पर प्रतिष्ठित करने के लिए काम-क्रोध, अभिमान आदि के भेद को मिटाने की आवश्यकता है।

कवि आगे कहता है कि हे आत्मन्! अगर तू अपने वास्तविक परमात्मस्वरूप को पहचान ले और जड़रूप में जो तू अपनत्व मानने की भूल कर रहा है उसको सुधार ले तो तू स्वयं परमात्मा बन जायगा। तेरे ज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्य पराकाष्ठा पर पहुँच जाएँगे। इसलिए तू अपने आपको पहचान! अपने स्वरूप में अपने आपको जोड़ और पर-रूप को छोड़। इस स्व-पर-विवेक में ही तेरा उद्धार है। यह विवेक करना ही महत्त्वपूर्ण है। तू अपने आपको भुला बैठा है। तू पर पदार्थों को अपना मान रहा है और अपने स्वरूप को पराया मान रहा है। यही तेरी भयंकर भूल है। यही बुनियादी भूल है। मूल में ही यह भूल हो रही है। इस भयंकर भूल के कारण ही तू भूला-भटका है। इस भूल ने ही तुझे अशक्त, असमर्थ और पौरुषहीन बना

डाला है। तेरी आभा, तेरा शौर्य और तेरा सर्वस्व इस भूल ने नष्ट कर डाला है। क्यों नहीं तू इस भूल को सुधार लेता है? तू अपने वास्तविक आत्मस्वरूप के दर्शन कर। तेरी निराशा, भग्नहृदयता और अकर्मण्यता सब दूर हो जायगी और तुझ में वह प्रेरणा, वह स्फूर्ति, वह उत्साह और वह शक्ति प्रकट हो जायगी कि तू फिर अपने मूल स्वरूप— परमात्मस्वरूप—को प्राप्त किये बिना नहीं रह सकता। तू आत्मस्वरूप के दर्शन कर। तेरी आत्मा अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तवीर्य और अनन्तसुख का भण्डार है। तू गुण-गरिमा से समृद्ध है, तू दीन-हीन नहीं है, तू गरीब-अनाथ नहीं है, तू विपुल-वैभव का स्वामी है! तू अनन्त शक्तियों का अधिपति है। तेरे पास अमूल्य रत्नों का खजाना है। तू उसे पहचान। तू क्यों भूल रहा है? तू क्यों अपने को असमर्थ और अशरण मान रहा है। तेरे पास अक्षय निधान है। वह गुप्त है। उसे तू अपने पौरुष से प्रकट कर। आत्म-शक्ति को पहचान और पुरुषार्थ कर। आत्म-विश्वासी बन और अपने आपमें शक्ति का सचार कर। यह आत्म-बल ही तेरा उद्धार कर देगा और तुझे विजयी बनाकर विपुल आत्म-साम्राज्य का अधिपति बना देगा। कहा है —

आतम-बल ही है, सब बल का सरदार। टेर।
आतम-बल वाला अलबेला, सबको आकर देता हेला।
लेता बाजीमार— आतमबल ही है॥

आत्म-बल सब प्रकार के बलों से विशिष्ट है। आत्म-बल जैसा दूसरा कोई बल नहीं है। आत्म-बल वाला अकेला योद्धा हजारों-लाखों शस्त्रास्त्र वाले योद्धाओं को जीत लेता है। जहाँ

शस्त्रास्त्र कारगर नहीं होते वहाँ आत्मबली विजयी होता है। अतएव आत्म्-विश्वासी और आत्मगवेषी बनो।

भगवान् महावीर ने साढ़े बारह वर्ष तक आत्म-बल प्राप्त करने के लिए साधना की। प्रबल साधना के द्वारा उन्होंने वह आत्म-बल उपार्जित किया कि वे विश्ववंद्य और देवेन्द्र पूजनीय बन गये। नरेन्द्र और देवेन्द्र उनकी चरण-सेवा को पाकर अपने आपको कृतार्थ समझने लगे। आत्मबल में गजब की शक्ति है।

आज के युग में भी महात्मागाँधी ने आत्म-बल के द्वारा कितनी महान् सफलता प्राप्त की। एक मुट्ठी भर हाड़ वाले, दुबले-पतले और लंगोटी वाले इस महात्मा ने शस्त्रास्त्रों से सुसज्जित मशीन-गनों और तोपों से समृद्ध और सब प्रकार की भौतिक सामग्री से सम्पन्न शक्तिशाली ब्रिटिश साम्राज्य को आत्म-बल द्वारा पराजित कर दिया। एक ओर था भौतिक बल; दूसरी ओर था केवल आत्मबल। आखिर आत्मबल के सामने भौतिकबल पराजित हुआ। अंग्रेज भारत छोड़कर चले गये। भारत कई शताब्दियों की दासता से मुक्त हुआ बिना शस्त्रास्त्र के इतनी बड़ी क्रान्ति विश्व के इतिहास में अनोखी घटना है। यह आत्म-बल का चमत्कार है। आत्मिक शक्ति की महिमा अपार है।

आत्मबल और भौतिक बल में आकाश-पाताल का अन्तर है। अन्धकार और प्रकाश में जो अन्तर है वह अन्तर शस्त्र-बल और आत्मबल में है। स्निग्ध घृतादि पदार्थों से शरीर को बल मिलता है, शस्त्र-अस्त्रों से एवं सैन्यादि से राष्ट्र की भौतिक शक्ति बढ़ती है

है। आत्मबल इन सब से अनोखा है। यह सत्य-अहिंसा से परिपुष्ट होता है। भौतिक बल वाले राक्षसों ने—सत्ता और साम्राज्य के लिप्सुओं ने दुनिया में प्रलय मचाया है। वे नाना प्रकार के जुल्म ढाते हैं। अन्याय का चक्र चलाते हैं। निरीह नागरिक जनता इन भौतिक बल वाले दानवों की प्रतिस्पर्धा का शिकार बनती है। ये नाना प्रकार के दावपेंच खेलते हैं और उसका दुष्परिणाम असख्य जनता को भोगना पड़ता है। भौतिक बल किसी दृष्टि से संसार के विनाश के लिए है। इसके विपरीत आत्मीय बल संसार के प्रत्येक व्यक्ति के कल्याण के लिए होता है। महापुरुषों का आत्म-बल ससार के उद्धार के लिए होता है। भौतिकबल सहार का साधन है और आत्म-बल उद्धार का मार्ग है। भौतिक बल वाले दूसरों को दुश्मन समझते है जबकि आत्म-बली महापुरुष किसी को भी अपना शत्रु नहीं मानते। वे सबको मित्र और बन्धु समझते हैं। भौतिक दृष्टि बहिर्मुखी होती है और आत्मिक दृष्टि अन्तर्मुखी होती है। आप सब जानते हैं कि माल अन्दर रहता है। बाहर नहीं। उस अन्दर रहे माल को पाना है।

जिन्होंने अन्दर रहे हुए माल को—आत्मधन को—प्राप्त किया है या जो प्राप्त करना चाहते है वे गवेषी थे—ढू ढक-थे और हैं। जो व्यक्ति सत्य और अहिंसा की खोज करते हैं, आत्मा-महात्मा और परमात्मा की शोध में रत रहते हैं, जो आगम-निगम-सिद्धान्तों के मर्म को प्राप्त करने में लगे रहते हैं वे ढूंढक कहलाते

है। आज की भाषा में इसे रिसर्च स्कॉलर कहा जा सकता है। कितना महत्त्वपूर्ण है रिसर्च या अन्वेषण का कार्य। विद्या और विज्ञान के क्षेत्र में इस पद की कितनी प्रतिष्ठा है! जो अन्वेषण करते हैं, गोते लगाते हैं वे ही तत्त्व प्राप्त करते हैं। ऊपर-ऊपर भटकने वाले को रत्न या मोती नहीं मिला करते। जो समुद्र की तह में प्रवेश करते हैं— जो डुबकियाँ और गोते लगाते हैं वे ही रत्नों या मोतियों को प्राप्त करने में फलीभूत होते हैं। कहा है:—

जिन ढूंढा तिन पाइयां, गहरे पानी पैठ।

जो गहरे पानी में डुबकी लगाता है वही शोधक-ढूंढक समुद्र की तह में रहे हुए अनमोल मोती और रत्नों को पा सकता है। ढूंढियों को रत्न मिलते हैं दरिद्रयों को नहीं। लोग द्वेषवश ढूंढियों का उपहास करते हैं परन्तु वस्तुतः 'ढूंढक' शब्द गुणनिष्पन्न है। यह तो विशेषता को प्रकट करता है। जो ढूंढता है, खोजता है, पता लगता है, अन्वेषण करता है उसीको वस्तु प्राप्त होती है। वही व्यक्ति ढूंढक हो सकता है जिसके नेत्र खुले हो। आँख बंद रखने वाला या अंधा व्यक्ति क्या ढूंढक बनेगा? जिसकी विचारशक्ति तीव्र होती है, जो दीर्घदर्शी होता है, जो विवेक की आँख को खुली रखता है वही ढूंढक है। जो लोग आपको या हमको ढूंढक कहते हैं वे हमारे उक्त ढूंढक-संशोधक गुण को स्वीकार करते हैं। बेशक, हम सच्चे ढूंढक हैं-संशोधक हैं। सत्य और अहिंसा के तत्त्व को हमने खोजा है। उसके सही स्वरूप का हमने दर्शन किया है और अन्य को दर्शन कराया गया है।

इस ढूंढक-संशोधक जनों का मुख्य बाह्य लिंग मुख-वस्त्रिका है। सैकड़ों सम्प्रदायों के भिक्षुओं को एक साथ कतार में खड़े कर लिये जाएँ और किसी भी साधारण बोध रखने वाले अजैन से भी पूछा जाय कि इनमें जैन साधु कौन है? तो वह झट से मुंहपति वाले साधु को बता देगा। लाठी-दण्डा रखने वाले तो बहुतेरे हैं। यह मुखवस्त्रिका जैन साधुओं का बाह्य लिंग तो है ही साथ ही जीव-रक्षा का प्रत्यक्ष द्योतक है। जैन साधु षट्काय की रक्षा के लिए प्रतिज्ञाबद्ध होता है। दीक्षा ग्रहण करते समय वह प्रतिज्ञा करता है कि मैं षट्काय जीवों की मनसा, वाचा, कर्मणा न हिंसा करूँगा न हिंसा करवाऊँगा और न हिंसा करते हुए का अनुमोदन करूँगा। किसी भी जैन सम्प्रदाय का साधु हो—चाहे वह दिगम्बर हो श्वेताम्बर हो तेरापंथी हो, स्थानकवासी हो—जब वह दीक्षा अंगीकार करता है तब एक ही प्रकार के प्रतिज्ञासूत्र का उच्चारण करता है। वह इस प्रतिज्ञासूत्र में आबद्ध होता है कि "मैं मनसा, वाचा कर्मणा सभी प्रकार के सावद्य योग का त्याग करता हूँ। सब प्रकार की हिंसा से निवृत्त होता हूँ" इस प्रकार की प्रतिज्ञा लेकर वह वायुकाय की भी हिंसा न करने के लिए कृत-संकल्प होता है। मुखवस्त्रिका का विधान वायुकाय की हिंसा से बचने के लिए है। उक्त प्रकार की प्रतिज्ञा लेकर जो वायुकाय की रक्षा का ध्यान नहीं रखता वह प्रतिज्ञा को भंग करता है, वायदा खिलाफी करता है। वायुकाय के जीवों को अभयदान का आश्वासन देकर भी उनके साथ विश्वासघात करता

है। प्रतिज्ञा लेना आसान है परन्तु उसका सम्यक् पालन करना कठिन होता है। शूरवीर ही ली हुई प्रतिज्ञा का निर्वाह प्राणपण से करते हैं। मुखवस्त्रिका इस प्रकार वायुकाय तक की रक्षा का प्रतीक है।

भगवती सूत्र में प्रश्न किया गया है कि हे भगवन ! इन्द्र की भाषा सावद्य है या निर्वद्य है ? इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् फ़रमाते हैं कि जब इन्द्र मुख पर उत्तरासण करके—मुखाच्छादन करके यतना से बोलता है तब उसकी भाषा निर्वद्य होती है और जब वह खुले मुँह बोलता है तब उसकी भाषा सावद्य है। अतएव मुखवस्त्रिका के उपयोग की ओर पूरा २ विवेक रखना चाहिए। आप गृहस्थों का कर्त्तव्य है कि जब आप सामायिक, पौषध, षट्काय रक्षाव्रत (दयाव्रत) और साधुजनों के साथ संभाषण करें तब खुले मुँह न बोले और मुखवस्त्रिका का उपयोग करें। अगर आप अगली पीढी को सुसंस्कृत देखना चाहते हैं तो आपको अपने नियमोपनियमों के पालन के प्रति उपेक्षा भाव नहीं रखना चाहिए। यह उपेक्षा घातक सिद्ध होगी। अतएव मुखवस्त्रिका के उपयोग की ओर विवेक और सतर्कता से ध्यान देना चाहिए।

मुख बाँधना यतना की निशानी है। कीमती चीजों को यतना की जाती है। घी-शक्कर आदि कीमती चीजों से भरे पात्र का मुँह बंद रखा जाता है। उन्हें कोई खुला नहीं रखता। गोवर के टोकरे का मुँह कोई नहीं बाँधता है। जिसमें माल भरा होता है उसीका मुँह बंद किया जाता है। मुखवस्त्रिका के द्वारा मुख को आच्छादन

करना भी यह सूचित करता है कि इस व्यक्ति में गुणरूपी माल रहा हुआ है जिसकी सुरक्षा—यतना के हेतु यह यत्न किया गया है। मुखवस्त्रिका बाँधना विवेक की निशानी है। मुखवस्त्रिका बाँधने वालों को भी इस गम्भीर दायित्व का निर्वाह करना चाहिए। वाणी का सयम रखना, बोलचाल म विवेक का ध्यान रखना इत्यादि बातें मुखवस्त्रिका बाँधने वालों से अपेक्षित हैं ही। विवेक के लिए मुखवस्त्रिका है और मुखवस्त्रिका से विवेक रखने की प्रेरणा मिलती है।

कतिपय अविवेकी जन मुखवस्त्रिका का उपहास करते देखे-सुने जाते हैं। एकबार किसी अजैन ने जैन साधु का उपहास करते हुए कहा—यह घोड़े का तोबरा क्या लगा रखा है? उसे उत्तर मिला कि गधों का मुख हमेशा खुला ही रहता है। तोबरा घोड़े के लगाया जाता है, गधों के नहीं।

इसी प्रकार के और भी कितने ही चुटकले हैं जो जैनों के बारे में द्वेषी लोग बोला करते हैं। एकबार एक व्यक्ति उपहास करते हुए बोला—यह जैनी कुत्ता आ गया। सामने वाला व्यक्ति चतुर था। उसने सोचा—यह कह गया सो तो कह गया। आगे से ऐसा न कह सके इसलिए इसे माकूल जबाब देना चाहिए। यह सोचकर वह तत्काल बोला—कोई बात नहीं। परीक्षा लेलो। रात का समय है। जैन रात को नहीं खाते। इस कुत्ते को रोटी डाल कर देख लो। यदि यह रोटी न खाएँ तो जैनी कुत्ता और

रात में रोटी खाले तो सनातनी कुत्ता ! ! यह तो बात की बात है ! चुटकले और विनोद है !

हां तो मुख-वस्त्रिका के उपयोग के सम्बन्ध में सब श्वेताम्बर जैन एक मत है सब मुखवस्त्रिका की उपयोगिता को स्वीकार करते है। अन्तर यह है कि स्थानकवासी साधु सदा मुखवस्त्रिका बांधे रखते हैं और श्वेताम्बर मूर्तिपूजक सम्प्रदाय के साधु मुखवस्त्रिका को मुख पर न बाँध कर हाथ में रखते हैं। सुविधा और यतना की दृष्टि से मुख पर मुखवस्त्रिका बांधना अधिक उचित है। मुखवस्त्रिका का अर्थ ही मुख पर बाँधने से घटित होता है। जैसे सिर पर रहने से टोपी, टोपी है इसी तरह मुंह पर रहने से मुखवस्त्रिका, मुखवस्त्रिका है। हाथ में रखने से वह मुंहपत्ती नहीं रहकर हथपत्ती बन जाती है।

शिष्टाचार की दृष्टि से भी मुँह पर वस्त्र लगाकर बोलना अच्छा माना जाता है। स्वास्थ्य, शिष्टाचार, जीवरक्षा और आचार की दृष्टि से मुखवस्त्रिका के उपयोग की ओर पूरा पूरा विवेक रखना चाहिए। इस बात के प्रति उपेक्षा नहीं की जानी चाहिए। प्रारम्भ में की हुई थोड़ी-सी उपेक्षा आगे चलकर भयंकर रूप ले सकती है। अतएव इस दिशा में सावधानी की आवश्यकता है।

मुखवस्त्रिका आत्मवादी साधु का बाह्य चिह्न है। यह उसका परिचय देने वाली पताका है। इस पताका को लेकर वह आत्म-वीर रण मैदान में आगे बढ़ता है।

इस वैजयन्ती (पताका) को फहराता हुआ यह धर्मवीर योद्धा कर्म-रिपुओं को थर्रा देता है और अपने खोये हुए साम्राज्य पर पुनः अधिकार कर लेता है। यह सिंहनाद करता है और कर्मरूपी मृग भाग खड़े होते हैं। यह अपने आत्मिक साम्राज्य का विजेता सम्राट् बन जाता है।

किसी छोटे शेर के बच्चे को किसी गडरिये ने उठा लिया। गडरिये ने उस सिंह के बच्चे को अपनी भेड़ों के बीच रख दिया। वह शेर का बच्चा उन भेड़ों के साथ रहता है, खेलता है, उनको वह अपना मानता है और अपने को उनका मानता है। भेड़ों के संसर्ग में रहने से वह अपने शेर-स्वभाव को भूल गया और अपने आपको भी भेड़ मानने लगा। भेड़ों की उस सृष्टि को ही वह सब कुछ समझने लगा। जिस प्रकार भेड़े गडरिये से डरती हैं वैसे ही वह सिंह भी गडरियों से डरने लगा। दूसरी भेड़ों की तरह वह शेर भी गडरिये की लाठी का प्रहार सहन करने लगा। उस सिंह की सिंह-वृत्ति भेड़ों के संसर्ग में रहने से दूर हो गई।

एक दिन वह गडरिया भेड़ों और उस भेड़ों में मिले हुए शेर के बच्चे को लेकर जंगल में गया। संयोग से एक दूसरे केशरीसिंह ने भेड़ों के बीच में रहे हुए उस शेर को देखा। उसने देखा कि गडरिया उस शेर पर लाठी का प्रहार कर रहा है और वह चूं भी नहीं करता। अपनी जाति वाले की यह दुर्दशा देख कर वह बब्बर शेर जल उठा। स्वाभिमानी और तेजस्वी व्यक्ति अपनी और अपने जाति-बन्धुओं की दुर्दशा को सहन नहीं कर सकता। अपनी

जाति का कोई व्यक्ति गैर का—किसी दूसरे का प्रहार सहन करे, यह सारी जाति के लिए कलंक की बात है।

वह शेर उस भान भूले हुए शेर के पास आया और बोला-भाई, तू गडरिये की लाठी क्यों खा रहा है ?

वह बोला—तू खैर चाहता है तो यहाँ से चला जा। तेरा यहाँ रहना ठीक नहीं। गडरिये को पता चलेगा तो तेरी दुर्दशा कर देगा।

बब्बर शेर ने ललकार दी—सावधान हो ! तू कौन है ? अपने को पहचान। भेड़ों में रहने वाला शेर बोला—मैं इन भेड़ों की जाति का हूँ। इनमें रहता हूँ। ये मेरे हैं और मैं इनका हूँ।

बब्बर शेर बोला—भोले प्राणी ! तू अपने को भूल रहा है। देख, तू भेड़ों की जाति का नहीं है; तू मेरी जाति का है। अपने आपको मत भूल। एकबार गर्जना करके देख।

शेर की प्रेरणा से उस भान भूले हुए शेर का सिंहत्व जागृत हो गया। शेर की दहाड़ जो जंगल में होती है वह पिंजड़े में बद होने पर भी होती है। कहा है:—

गरज जो जंगल में थी पिंजरे में भी है शेर की।
हस्ति ए गुल मिटने पर खुशबू से वो जाता नहीं॥

वह शेर का बच्चा अपना भान भुला बैठा था, मगर आखिर तो वह शेर ही था। पिंजड़े में बन्द हो जाने से शेर की गर्जना कम

नहीं होती। जाति-स्वभाव सर्वथा नहीं जा सकता। चोरों की नस्ल छिपी नहीं रहती। शेर पिंजड़े में बन्द हो तो क्या? उसकी पूर्ति नहीं जाती। पिंजड़े में रहे हुए शेर से लोग लाठी से छेड़खानी करते हैं परन्तु जब वह गर्जना करता है तो सबके दिल दहल उठते हैं। एक शेर पिंजड़े से छूट जाय तो क्या हाल होता है? तात्पर्य यह है कि जाति-स्वभाव सर्वथा नहीं मिट सकता। भेड़ों के बीच में रहकर गड़रिये के दण्डों को सहन करने वाले सिंह को जब उस वन्य शेर ने अपने स्वरूप का भान कराया तो उसका जाति-स्वभाव जागृत हो गया! वाणी में बड़ी ताकत है। इसका चमत्कार बड़ा अनूठा है। वाणी के बल पर बड़े २ साम्राज्य स्थापित हुए हैं। एक वक्ता अपनी ओजस्वी वाणी द्वारा चाहे तो मुर्दे-दिलों में जान और प्राण का संचार कर सकता है और वही वक्ता करुण रसवाली वाणी से पत्थर के समान कठोर दिल वालों को पानी-पानी कर सकता है। सिकन्दर ने अपने हताश बने हुए सैनिकों को वाणी के द्वारा उद्बोधित कर अनेक युद्धों में विजय प्राप्त की थी। वाणी में अजीब और गजब की ताकत है। वाणी जैसी संजीवनी नहीं और वाणी जैसा विष नहीं, यह अनुभूत सत्य है।

जंगल के राजा शेर की दहाड़ ने भान भूले हुए शेर को आत्म-भान कराया। उसकी सिंह-वृत्ति जागरूक हो गई। वन के सम्राट् सिंह ने उसको अधिक सजीव करने के लिए कहा—भाई, जरा मेरी तरह दहाड़ तो सही। डण्डे तो खा ही रहा है। इससे अधिक

और क्या होगा। तेरी यह दशा देख कर मुझे बहुत आघात लगता है। डण्डे तू खा रहा है और दर्द मुझे हो रहा है।

सचमुच, अपनी जाति के दुःखी भाई को देखकर जिसे दर्द न हो, वह जातिवान् नहीं कहा जा सकता। वह दिल ही क्या जिसमें दर्द न हो। वह पत्थर का टुकड़ा है। कहा है—

वह हृदय नहीं, पत्थर है जिसमें स्वजाति का प्यार नहीं।

अपने ज्ञाति-बन्धु सिंह की यह दुर्दशा देखकर वह जंगल का शेर चुप नहीं रहा। उसने उसके उद्धार का पूरा प्रयास किया। उसने सिंह की सुप्त सिंह-वृत्ति को जगा दिया! अब क्या था? सुप्तसिंह ने करवट बदली। उसने सोचा—या तो डण्डों से सदा के लिए छूट जायंगे या और डण्डे खालेंगे। उसने ललकार मारी। गर्जना की, सिंहनाद किया!

सिंहनाद होते ही गडरिया और भेड़ें—सब मैदान छोड़ गये। कहीं उनका पता न चला। भेड़ भाग गये और शेर थे वे खड़े रह गये। कहो भाइयो! उस भेड़ों में रहे हुए सिंह को उसकी दीन-हीन दशा से किसने छुड़ाया? कहना होगा—आत्म-स्वरूप को जाने हुए शेर ने। जो स्वयं अपने स्वरूप को समझता है वही दूसरे को भान करा सकेगा।

यह आत्मा सिंह है। यह अरिहंतों के वंश का है। परन्तु यह भान भूलकर जड़-रूपी भेड़ों के बीच दीन-हीन जीवन बिता

रहा है। लौकिक लोकोत्तर मिथ्यात्व का सेवन कर रहा है। कर्म रूपी गडरिया जन्म-मरण रूपी डण्डों से इस शेर को ताडित कर रहा है। महात्मा-साधु पुरुष अपने सजातीय बन्धुओं की यह हीन दशा देखकर दयार्द्र हो उठते हैं। शेर शेर को दुःखी देखकर चुप नहीं रह सकता। वह गर्जना किये बिना नहीं रह सकता! वे साधु-पुरुष अपने सजातीय आत्माओं को उद्बोधित करते हैं। उनकी सुषुप्त आत्म-वृत्ति को जागृत करते हैं और जड़वाद के चक्कर से बचाने का प्रयत्न करते हैं।

बन्धुओं! अपने स्वरूप को पहचानो। आत्म-स्वरूप को भूल जाने से बड़ी दुर्दशा होती है। वह सिंह आत्म-स्वरूप को भुला बैठा तो शक्ति के होने पर भी वह गडरिये के डण्डे खाता रहा! यह आत्मा भी अपने चैतन्य स्वरूप को भुला रहा है। यह जड़ के पीछे पागल बन रहा है। इस जड़ ने हा आत्मा को भुलाया और रूलाया है।

केसरी शेर ने शेर की शेर-वृत्ति को जागृत कर दिया। अपने स्वरूप में ला दिया, गडरिये की लाठियों से बचा लिया। सिंह के थोड़े से शब्दों ने उसे जगा दिया और बतला दिया कि तू अमित शक्ति का स्वामी है। सिंह की ललकार ने दूसरे सिंह की कृत्रिम कायरता का भगा दिया। इसी तरह महावीर सिंह ने ललकार का 'ऐ अपनी शक्ति को भूले बैठे आत्मसिंहों! अपने स्वरूप को पहचानो। तुम भेड़ नहीं हो। सिंह हो। सिंह की तरह गर्जना करो। जड़ के चक्कर ने तुम्हें अपने अधीन कर रक्खा है। तुम

जड़वादी और जड़ोपासक बनते जा रहे हो और दीन-हीन बनते जा रहे हो ! यह तुम्हें शोभा नहीं देता। तुम सिंह हो। तुम्हें गडरिये के दण्डे सहन करना शोभा नहीं देता। उठो ! गर्जना करो। तुम्हारे सिंहनाद करते ही यह भेड़ें और गडरिए मैदान छोड़कर भाग जाएँगे और तुम स्वयं अपने अधिपति बन जाओगे। तब तुम स्वतंत्र और मुक्त बन जाओगे।"

सुनाने वाला भी शेर था और सुनने वाला भी शेर था। अतएव जागृति में क्या देर हो सकती थी ! इस तरह इन आत्म-सिंहों ने अनेक दूसरे आत्मसिंह तय्यार कर दिये। इस अरिहंत वंश में अनेक नरसिंह उत्पन्न हुए हैं। लोकाशाह भी ऐसे ही आत्म-सिंह थे। उन्होने भान भूले हुए जनसमुदाय को युगानुकूल धर्मानुकूल और शास्त्रानुकूल उपदेश–संदेश देकर जगाया। जड़वाद के चक्कर में फंसे हुए लोगों को चैतन्योपासना का स्वरूप समझाया। उस शेरे बब्बर लोकाशाह को हमारा कोटि-कोटि प्रणाम है। उनका हम पर बड़ा उपकार है। कार्तिक शुक्ला पूर्णिमा को उनकी जयन्ती है। जिसने भेड़ों के समुदाय में पड़े हुए सिंह को सच्चा सिंह बना दिया उस उपकारी महापुरुष की जयन्ती का आयोजन ठीक ढग से हो और हम सब उन्हें अपनी श्रद्धांजलि समर्पित करें।

भद्र पुरुषों ! दुनिया के लोगों ने बहुत नई नई गवेपणाएँ की हैं, और अन्वेपण का सिलसिला चल रहा है परन्तु जब तक आत्म–गवेपणा नहीं की जाती और जब तक आत्म-स्वरूप के दर्शन नहीं होते वहाँ तक की अन्य ;गवेपणा और अन्वेपणा का

कोई खास महत्त्व नहीं। सब से बड़ा विज्ञानी वही है जिसने आत्मा को पहचाना। जो आत्मा को पहचानते हैं, अनात्मभावी तत्त्वों से दूर रहते हैं और प्रभु के गुण गाते हैं वे आनन्द ही आनन्द पाते हैं। इसलिए हमें प्रभु के गुण गाने चाहिए!

———

जीवन क्या है ?

भद्रपुरुषों एवं देवियों !

जीवन एक झरना है। यह झरना प्रतिपल प्रवाहित होता रहता है। किसी में सामर्थ्य नहीं कि उसके प्रवाह को रोक सके। जीवन की कड़ियाँ और घड़ियाँ अविरल गति से चलती ही रहती हैं। ये रुकना नहीं जानती। पल-पल करते न जाने कितने पल्योपम और सागरोपम बीत चुके हैं, अनन्त भूतकाल बीत चुका है और अनन्त भविष्यकाल बीत जाने वाला है! यह काल निरवधि है, इसका न ओर है न छोर। यह असीम और अनन्त है।

हमारे जीवन की कड़ियाँ और लड़ियाँ भी इस काल-प्रवाह के साथ साथ चलती रही हैं। जीवन को इस अनन्त प्रवाह में बहते रहने पर भी हमने जीवन को नहीं पहचाना। हमारे सामने आखिर यह प्रश्न-वाचक चिह्न पर्वत की तरह खड़ा है कि जीवन क्या है ? पल-पल जीते हुए भी जीवन का हल हम नहीं पा सके। यह समस्या हमारे सामने है। इस समस्या के सम्यग् और वास्तविक हल में ही जीवन की सार्थकता है। अन्यथा यह जीवन-प्रवाह भी काल-प्रवाह की तरह निरुद्देश्य निरन्तर बहता रहा है और

बहता ही रहेगा। अतएव आइये, हम यह समझने का प्रयास करें कि जीवन क्या है?

क्या श्वास और नि श्वास का नाम जीवन है?

क्या ऐश-इशरत को जीवन कहा जा सकता है?

क्या इन्द्रियों के पोषण और लालन-पालन में जीवन की सार्थकना है?

क्या विपुल राज्य ऋद्धि या कुबेर के खजानों को अपने यहाँ लाकर इकट्ठा करने में जीवन की सफलता है?

यदि श्वास और नि श्वास को ही जीवन मान लिया जाय तो लुहार की धमनी भी तो श्वास और नि श्वास लेती और छोड़ती है। वायु का ऊपर चढना और नीचे उतरना ही तो श्वास-नि श्वास है। वायु का यह चढाव-उतार ही यदि जीवन है तो लुहार की धमनी हम से कई गुनी अधिक वायु खींचती है और छोड़ती है। इतनी अधिक मात्रा में वायु को ग्रहण करने और छोड़ने पर भी धमनी में जीवन नहीं है। वह जड है। क्या हुआ यदि वायु लेली छोड दी तो ' श्वासोच्छ्वास लेना या छोडना जीवन नहीं है परन्तु श्वासोच्छ्वासों के बीच जो नेक काम किये जाते हैं उनका नाम जीवन है।

देश, समाज और धर्म के कल्याण के लिए अपने-आपको मिटा देना बलिदान हो जाना वास्तविक जीवन है। रोते हुए का हँसाना, भूख से मरते हुए को खिलाना, नीचे गिरे हुए को

ऊपर उठाना, स्वार्थ और आपाधापी को ठुकरा कर दुखियों और अपाहिजों के लिए अपने सर्वस्व की बाजी लगाना सच्ची ज़िन्दादिली है। जीवन की यही निशानी है। जिसमें ऐसी भावना नहीं वह जीवन ही क्या है? वह तो एक प्रकार की अनाज खाने की मशीन है, या धान्य भरने की कोठी है।

स्वयं जीवित रहकर दूसरे को जीवन-प्रदान करना ही जीवन की कला है। जो अपने जीवन से किसी दूसरे का भला न करता हो वह भी क्या जीवन है? किसी के जीवन में बाधाएँ, अड़चनें और रुकावटें पैदा न करो। संकुचित भावना रखकर किसी के बाधक न बनो। किसी की चलती हुई गाड़ी को पुल तोड़ कर या पटरी उखाड़ कर मत रोको। दूसरों के प्रति सद्भावना रखो। सद्भावना रहित दीर्घ-जीवन किस काम का? तेजाब की लम्बी चौड़ी शीशी किस काम की जो दूसरों को जला दे। छोटी सी इत्र की शीशी अच्छी जो दूसरों को सुगन्धित कर दे। जीवन की सार्थकता परोपकार से है। परोपकार जीवन है और परापकार मृत्यु है। दूसरों का बुरा करना, किसी की बसी हुई दुनिया को बरबाद करना, किसी की तैरती किश्ती को डुबो देना, किसी को मुसीबतों का निशाना बना देना, किसी के धन-सामान, मकान और सम्मान में बाधा पहुँचाना इत्यादि अपकार हैं। जो जुल्म ढाते हैं उनके विषय में दुनिया कहती है—"यह जल्दी टिकिट कटा ले तो अच्छा; कल मरे तो आज मरे और आज मरे तो अब। अमुक मर गया, चलो फंद कटा।" इस प्रकार जिसके

विश्व में जनमन है उसका जीवन जीवन नहीं, वह मौत है। यदि अपयश है तो मृत्यु से क्या ? अर्थात् अपयश ही मृत्यु है। भला क्या हम उस व्यक्ति को जीवित कह सकते हैं—जिसके नाम पर दुनिया थूकती है, कोई जिसे नहीं चाहता, प्रातः जिसका नाम लेने मात्र से अमंगल माना जाता है, वह तो उसी समय मर चुका जब से दुनिया की दृष्टि में वह गिर चुका। अपकीर्ति मौत से भी अधिक बुरी है।

इसके विपरीत जो व्यक्ति दूसरों का उपकार करते हैं, किसी की बिगड़ी को बनाते हैं, जन-कल्याण की भावना रखते हैं, जो सबका हित चाहते हैं, जो दूसरों के हित के लिए सर्वस्व की बाजी लगा देते हैं, ऐसे विश्वहितैषी व्यक्ति के लिए दुनिया के मुख से आशीर्वाद निकलते हैं, जन-जन उसकी दीर्घायु के लिए कामना करता है। दुनिया जिसको चाहती है, जिसके वियोग में दुनिया शोक के आँसू गिराती है वह व्यक्ति मर कर भी अमर है। स्थूल शरीर से विद्यमान न रहने पर भी उसका यशः-शरीर सदा कायम रहता है। दुनिया उसे श्रद्धा और भक्ति के साथ स्मरण करती है और देवता की तरह पूजती है। तात्पर्य यह है कि परोपकार जीवन है और परापकार मौत है। यश जीवन है और अपयश मौत है। कहा है:—

करते पर उपकार जो हैं नरों में नर वर वही।
उपकार से जो शून्य है, है नरों में नर-खर वही।

कूप सुन्दर किन्तु जल बिन है नहीं कुछ काम का ?
उपकार शून्य मनुष्य भी पशुतुल्य है नर नाम का !!

सच्चे मनुष्य-पद के अधिकारी वही हैं जो दूसरों का भला करते हैं। अनाथ, असहाय, विधवा, दुखी-दर्दी को शान्ति पहुँचाते हैं, उनके गर्म आँसुओं को जो पोंछते हैं, जो उनके संतप्त हृदयों को सान्त्वना के शीतल जल से सींचते हैं वही मानव हैं। दाढ़ी-मूंछ होने से कोई मानव नहीं हो जाता! मानव के दाढ़ी-मूंछ है तो पशु के भी सींग पूंछ हैं। मानव और पशु में यदि अन्तर है तो यह यही कि मानव मनन-शील होने के नाते परोपकार और धर्ममय जीवन जी सकता है। जो मानव होकर धर्महीन जीवन जीता है वह देखने में तो सींग पूंछ वाला पशु नहीं परन्तु जनता की दृष्टि में बिना सींग-पूंछ का पशु प्रतीत होता है।

वह कूप किस काम का जिसमें जल न हो। संगमरमर के पत्थर जड़े हो परन्तु जल न हो तो वह कुआ शोभा नहीं देता। कुए की शोभा और रूपक जल से है। कूप की सार्थकता संगमरमर के पत्थर से नहीं किन्तु मधुर जल से है। इसी तरह मानव की शोभा सुन्दर वस्त्राभूषणों से नहीं है परन्तु परोपकार से है। कहा है:—

आभरण नर-देह का बस एक पर उपकार है।
हार को भूषण कहे, उस बुद्धि को धिक्कार है॥
स्वर्ण की जंजीर बाँधे श्वान फिर भी श्वान है।
धूलि-धूसर भी करी पाता सदा सन्मान है॥

कुए की शोभा संगमरमर से नहीं होती परन्तु जल से होती है। प्यासा पथिक पानी की आशा से कूप के पास आता है! यदि कुआ उसकी प्यास को शान्त नहीं करता तो भले ही वह संगमरमर से जड़ा हो या काच से सुशोभित हो, उसका कोई महत्त्व नहीं। इसी तरह मनुष्य भले तल्लेदार पगड़ी बाँधले, गले में हीरों और मोतियों के हार पहन ले, चटक-मटक वाले वस्त्र धारण करले, सौन्दर्य के प्रसाधनों से शरीर को सजा ले, बन-ठन कर फूला न समाए परन्तु यदि उसमें परोपकार रूपी पानी नहीं है तो वह साज-भूषा व्यर्थ है। कुआ जानकर प्यासा पथिक उसके समीप आए और कुआ यदि उसकी तृषा को शान्त न करे तो वह कुआ ही क्या? इसी तरह किसी साहिब, इकबाल, बहाल या खुशहाल से किसी का भला न हुआ तो वह धनी ही क्या? आशा लेकर घर पर आये हुए व्यक्ति को जो निराश करता है और इससे उस व्यक्ति के हृदय पर जो चोट लगती है वह चोट वास्तव में उस समर्थ और सम्पन्न व्यक्ति के पुण्य पर पड़ती है। दूसरों को निराश करने से उस व्यक्ति का पुण्य चोट खाकर जर्जरित हो जाता है। अतएव जहाँ तक बन सके किसी को निराश न करो। दूसरे को निराश करना स्वयं निराश होने के बीज बोना है।

यह सदा याद रखना चाहिए कि इन्सान की इज्जत सोना चांदी से नहीं होती अपितु उसके सद्गुणों से होती है। कुत्ता सोने की जंजीर गले में बाँध ले तो इससे क्या हो जाता है? हाथी धूल से भरा होने पर भी सन्मान पाता है। गुणों से सन्मान होता

है तन या धन से नहीं। अतएव धन आदि का ममत्व और अभिमान छोड़ कर परोपकार-परायण बनना मानव का कर्त्तव्य है।

मानवों ! जरा सोचिए, विचार करिये। प्रकृति कितनी परोपकार-परायण है। यदि मानव की तरह प्रकृति भी स्वार्थ परायण हो जाय तो कहिये, मानव की क्या हालत हो ? सूर्य, चन्द्र, गृह, नक्षत्र तारा, जल, अग्नि, वायु, आकाश, पृथ्वी, वृक्ष-पौधे, पर्वत, नदी नाले आदि प्राकृतिक चीजों का उपयोग मानव स्वतंत्रता पूर्वक करता है। भला क्या अधिकार है स्वार्थ-परायण व्यक्ति को इन चीजों के उपयोग का ? जैसे वह स्वार्थ-परायण बना रहना चाहता है वैसे प्रकृति भी स्वार्थ परायण बन जाय तो क्या सृष्टि का काम चल सकेगा ? नहीं, कदापि नहीं। जब इन्सान प्रकृति की चीजों का स्वतंत्रता पूर्वक उपभोग करता है, जब वह दूसरों के द्वारा उपकृत किया जाता है तो क्या उसे दूसरों का उपकार न करना चाहिए ?

प्रकृति से सीख लेनी चाहिए। प्रकृति अपने वैभव का आप ही उपयोग नहीं करती किन्तु वह अपना सम्पूर्ण वैभव प्राणि-जगत् के लिए खुला छोड़ देती है। नदियाँ अपना जल स्वयं नहीं पीतीं। वृक्ष अपने फल स्वयं नहीं खाते, ये सब परोपकार के लिए प्रवृत्त हैं। प्रकृति की इस परोपकारमयी प्रवृत्ति पर ही विश्व की स्थिति है।

प्रकृति की तुच्छ से तुच्छ चीज भी प्राणिजगत् के लिए बड़ी उपकारक सिद्ध होती है। खेत में खड़ा किया गया निर्जीव पुतला

भी खेत की रक्षा करता है। वह धान्य को नष्ट कर डालने वाले पशुओं को खेत में आने से रोकता है। वह स्वयं खाना नहीं, तदपि खेत की रखवाली करता है। कृषि के क्षेत्र में इस निर्जीव पुतले की भी कितनी उपयोगिता एवं उपकारिता है!

छोटे से तिनके को लीजिए। समय पर यह तुच्छ से तुच्छ और नगण्य तृण इतना महत्त्वपूर्ण और उपकारक बन जाता है कि मौत के मुख से बचा लेता है। यह कमजोर को जीवन प्रदान करने वाला बन जाता है। जिस अवस्था में कोई मित्र, कोई सगा और कोई दूसरा सहारा काम नहीं देते हैं, जब शस्त्र-अस्त्र कारगर नहीं होते। जब मानव सब तरफ से हताश हो जाता है उस सर्वनाश और मृत्यु सामने खड़ी नजर आती है। ऐसे विकट प्रसंग पर घास का तिनका उसके लिए जीवन-प्रदाता होता है। यह मुँह में तिनका ले लेता है तो कोई भी वीर पुरुष—कोई भी आक्रान्ता उसका कुछ भी नहीं बिगाड़ता। आक्रान्ता के शस्त्र धरे-धराये रह जाते हैं। यह उपकार है उस तुच्छ तृण का। जहाँ एटमबम काम नहीं आता वहाँ यह तिनका काम बना देता है!

राख का उदाहरण भी लीजिए। अनाज के कोठे सड़ जाते हैं कहिए उस धान्यराशि को बचाने वाली कौन है? यह राख ही उस विपुल धान्य-राशि की रक्षा करती है! क्या ढाल बन्दूकों से, शस्त्र अस्त्रों से उस धान्य-राशि की रक्षा की जा सकती है? नहीं। धान्य-राशि को सड़ने से बचाना है, जीवों से बचाना है तो उसमें राख

मिलाना आवश्यक माना जाता है। वह राख उस धान्य-राशि में पहुँच कर उसकी रक्षा करती है! किसी लम्बे चौड़े आदमी को बैठा दिया जाय तो क्या धान्य बच जायगा ? नहीं।

इस प्रकार प्रकृति की प्रत्येक चीज उपकारी और उपयोगी है। प्राणि जगत् पर प्रकृति के उपकार असंख्य हैं; प्रकृति के उपकारों के बदौलत ही मानव-संसार टिका हुआ है। रे मानव ! तू भी प्रकृति की तरह परोपकारी बन ! स्वार्थी और आपाधापी मत बन। जब तू भी दूसरों द्वारा किये जाने वाले उपकारों के बल पर जीवित है तो तुझे भी किसी दूसरे का उपकार करना चाहिए। जब तू दूसरों द्वारा किया हुआ उपकार ग्रहण करता है तो तुझे उपकार का दान भी करना चाहिए। यह याद रखना चाहिए कि परापकार से संसार नरकागार बनता है। मानव के स्वार्थों ने इस संसार को संतप्त कर रक्खा है।

प्रकृति ने मानव के लिए सुखमय वातावरण का सर्जन किया परन्तु मानवों ने आपाधापी और स्वार्थ के कारण संसार के वातावरण को कलुषित और दुःखपूर्ण बना डाला। विश्व के सामने जो राजनीतिक, धार्मिक, आर्थिक और सामाजिक समस्याएँ उपस्थित हैं उनके मूल में यदि जाएँ तो इन समस्याओं को पैदा करने वाला मानव का स्वार्थ है। अतएव इन समस्याओं का हल स्वार्थ-त्याग और परोपकार ही है। परोपकार की भावना के बिना उक्त समस्या और उलझनों का स्थायी हल नहीं निकल सकता। श्री विनोबाभावे ने इस बात को खूब अच्छी तरह समझ लिया है इसीलिए वे

जनता में परोपकार और कर्त्तव्य की भावना पैदा करके भूमिदान और सम्पत्ति-दान के व्यापक प्रचार द्वारा भूखों और नंगों की विषम समस्या का हल करने के प्रयत्न में लगे हुए हैं। सचमुच इसी अहिंसक उपाय के द्वारा आर्थिक क्रान्ति हो सकती है और विषमता का अन्त हो सकता है। यही सुखमय संसार का बीज है। जब तक मानव के अन्तःस्थल में परोपकार की भावना पैदा नहीं होगी वहाँ तक विश्व की भूखमरी, बेकारी, अशान्ति, युद्ध की विभीषिका और शोषण का अन्त नहीं हो सकता। इस भावना के बिना चाहे जितनी योजनाएँ बनाई जाएँ, वे सफल नहीं हो सकतीं। परोपकार की भावना पैदा हो जाय तो स्वयमेव समस्याओं का समाधान हो जाता है। अतएव भद्रपुरुषों! स्वार्थ को छोड़ कर परमार्थ पर लक्ष्य दो। यही सुख-शान्ति का मार्ग है।

सज्जनो! यह स्मरण में रखना चाहिए कि जब तक दुनिया के किसी कोने में दुःख-दर्द है, भूख है, बेकारी है, बेरोजगारी है वहाँ तक दुनिया का कोई भी व्यक्ति अपने आपको पूर्ण सुरक्षित समझने की भ्रान्ति में न रहे। जब तक विश्व के चित्रपट से भूख-बेकारी और गरीबी का नामोनिशान नहीं उठ जाता तब तक कोई सुरक्षित नहीं। सबको खतरा है। अतएव यदि आप अपनी सुरक्षा चाहते हैं तो यह परोपकार की सद्भावना से ही प्राप्त की जा सकता है। अतएव सद्भावनाओं को जागृत करो। स्वार्थ की आसुरी भावनाओं को दूर करो। दिव्य सद्भावनाओं के जागृत होने पर आपके लिए सारा वातावरण सुखमय हो जाएगा। आप

सुरक्षित हो जाएँगे। फिर आपको सुरक्षा के लिए शस्त्रों से सज्जित चौकीदारों के पहरे में नहीं रहना पड़ेगा। उस अवस्था में मौत भी आपको मिटाने में समर्थ नहीं हो सकेगी। कहा है:—

करो पर उपकार सदा मरे बाद रहोगे जिन्दा।
नाम जिनका जिन्दा रहे उनका तो मरना क्या है?
बिन धर्म दुनिया में जी कर हमें करना क्या है?
लेकर अपयश जो मरे भाइयों! तो मरना क्या है?
देह त्यागेंगे तो हम देह नई पाएँगे।
यह जीव मरता है नहीं मरने से डरना क्या है॥

भाइयों! यदि आप अमर होना चाहते हैं, तो उसका एक ही उपाय है-परोपकार। डाक्टर और हकीमों की गोलियाँ खाकर क्या आप अमर रहना चाहते हैं? यह असंभव है। वैद्य या डाक्टर अधिक से अधिक चंद दिनों के लिए रोग को रोक सकते हैं शरीर में क्षणिक स्फूर्ति पैदा कर सकते हैं परन्तु वे किसी को मौत के पंजे से नहीं छुड़ा सकते। वे वेचारे स्वयं रोग और मौत के शिकार बनते हैं तो दूसरों को क्या खाक़ अमर रख सकते हैं? मौत को रोकने की शक्ति किसी में नहीं है। इसलिए अमर रहने की चाह है तो उसका एक ही उपाय है-भलाई करना, परोपकार करना। कोई भी व्यक्ति कभी भौतिक शरीर से अमर नहीं हो सकता। वह अपने यशः शरीर से ही, सद्गुणों के सौरभ से ही अनन्तकाल के लिए अमर रह सकता है। जो नेकी के बीज बोता है वही अमर बनता है। अतएव भद्रपुरुषों! यदि अमरत्व चाहते

हो तो परोपकार करो। यही वह उपाय है जिससे तुम सुखी, सुरक्षित, शान्त और अमर हो सकते हो। यह धर्म का सार, तत्त्व, निचोड़ और मूलाधार है।

व्यासजी के युग में बर्हि नाम का राजा हो गया है। वह राजा एक बार अठारह पुराणों के कर्त्ता व्यासजी के पास आया और बोला—महाराज ! मैं भिखारी बन कर आपके पास आया हूँ। याचक की याचना को आप पूर्ण करेंगे। यह आशा ही नहीं पूरा पूरा विश्वास है।

ऋषि बोले—राजन् ! तुम्हारे पास तो दौलत के खजाने हैं। तुम्हें यहाँ आने की क्या जरूरत !

राजा—महाराज ! उन दौलत के अखूट खजानों के बावजूद भी मैं भिखारी हूँ। जो खजाना आपके पास है वह मेरे पास नहीं है। आपके पास जो खजाना है वही वास्तविक निधि है। मेरे पास की निधि तो विधि की विडम्बना है ! आज है और कल नहीं ! मुझे ऐसी निधि दीजिए जो कभी क्षय न हो। वह अक्षय निधि आपके पास है। आप अनुग्रह करके मुझे अठारह पुराणों का ज्ञान दीजिए।

ऋषि—राजन ! हमारा तो यही काम है। बड़ी प्रसन्नता की बात है कि तुम पुराणों का बोध लेना चाहते हो। इसके लिए अठारह वर्ष चाहिये।

राजा—महाराज ! आपने तो बड़ी लम्बी तारीख डाल दी ! मुझे इतना अवकाश कहाँ ? राज्य की जवाबदारी सिर पर है महाराज !

व्यास—अच्छा राजन् ! अठारह साल नहीं निकाल सकते तो अठारह महीनों का समय तो निकालो।

राजा—भगवन् ! मुझे तो रात में भी फुरसत नहीं मिलती तो अठारह महीने कैसे निकाल सकता हूँ ?

व्यास—अच्छा जाने दो अठारह महीनों की बात; १८ दिन तो निकाल सकते हो न ?

राजा—नहीं महाराज ! इतनी भी गुंजाइश नहीं है।

व्यास—राजन् ! माल लेना चाहते हो परन्तु दाम देना नहीं चाहते ! यह कैसे बनेगा ? अच्छा, अठारह प्रहर तो निकाल लो !

राजा—भगवन् ! क्षमा कीजिए। अठारह प्रहर तो दूर अठारह मिनिट का भी समय नहीं निकाल सकता हूँ। कचहरी का समय हो गया है।

वेदव्यास सुलझे हुए महात्मा थे। दूसरा व्यक्ति होता तो गर्म हो जाता। वह कह उठता—राजन् ! तुम मखौल करना चाहते हो। तुम ज्ञान लेने नहीं आये हो बल्कि हमें सताने, दुःखाने और चिढ़ाने के लिये आये हो ! वेदव्यास बड़े अनुभवी, दूरदर्शी और मानव के हृदय के परीक्षक थे; उन्होंने राजा की भावना को परखा,

दिल को परखा और जान लिया कि यह ज्ञान का पिपासु अवश्य है परन्तु इसके सिर पर नानाविध जवाबदारियों हैं और यह कर्त्तव्य का पक्का होने से उन जवाबदारियों का भलीभाँति निर्वाह करना चाहता है। यह दम्भ नहीं कर रहा है। "समय नहीं है" कहकर लोग जवाबदारी से कर्त्तव्य पालन से छिटकना चाहते हैं। वे समयाभाव का बहाना करते हैं। परन्तु यह राजा ज्ञान का पिपासु है परन्तु इस पर रही हुई राष्ट्र की जवाबदारियों से इसे अवकाश नहीं मिल पा रहा है! कर्त्तव्य का इसे भान है! ज्ञान का उद्देश्य भी तो कर्त्तव्य का भान कराना ही है।

कर्त्तव्य और अकर्तव्य का भान कराना ही ज्ञान का काम है। सच्चा ज्ञानी भी वही है जो कर्त्तव्य को करता हो और अकर्त्तव्य को छोडता हो। बस यह करना और यह छोडना ही ज्ञान का रहस्य है। जिसका परिणाम अपने लिए, दूसरे के लिए, जाति, समाज, राष्ट्र और विश्व के लिए अच्छा हो वह कर्त्तव्य करने योग्य है और जिसका परिणाम अपने लिए, दूसरे के लिए और विश्व के लिए खेद जनक है, कष्ट देने वाला है वह अकर्त्तव्य छोडना चाहिये।

एयं खु णाणिणो सारं जं न हिंसइ कञ्चण।

यही ज्ञानियों का ज्ञान है, यही पण्डितों का पाण्डित्य है, यही विद्वानों की विद्वत्ता है कि वे स्वार्थ के वश होकर किसी भी प्राणी को मनसा, वाचा, कर्मणा दुःख न पहुँचावे। यही ज्ञान का सार है।

जो पढ़ लिखकर जुल्म का चक्कर चला रहे हैं उन पढ़े-लिखे अक्षर ज्ञानियों से तो वे अपढ़ अच्छे हैं जो किसी को कष्ट तो नहीं पहुँचाते ! कर्त्तव्य भावना को जागृत करना ज्ञान का उद्देश्य है। यह राजा कर्त्तव्य-निष्ठ है अतएव ज्ञान-दान का पात्र है। यह ज्ञान का पिपासु भी है परन्तु समय नहीं निकाल पाता है इसे संक्षेप में पुराणों का सार बता देना उचित है। उन्होंने राजा से कहा-अच्छा राजन् ! मेरी तरफ कान लगा दे, मैं तुझे अठारह पुराण का ज्ञान एक मिनिट में बतलाता हूँ:—

अष्टादशपुराणेषु व्यासस्य वचनद्वयं।
परोपकारः पुण्याय, पापाय परपीडनम् ॥

राजन् ! समस्त वेद-पुरान-आगम-निगम का सार यदि एक वाक्य में कहना है तो यही कहा जा सकता है कि किसी का भला करने से बढ़कर कोई पुण्य नहीं और किसी को पीड़ा देने से बढ़कर कोई पाप नहीं है। यही समस्त धर्मग्रन्थों का सार है।

भद्रपुरुषों ! जो कुछ यहाँ प्रतिदिन उपदेश दिया जा रहा है वह केवल दो मूल बातों से ही सम्बन्धित होता है—

(१) अच्छी बातों को ग्रहण करो।
(२) बुरी बातों को छोड़ो।

परोपकार करना सब से उत्तम बात है और दूसरे का अपकार करना सब से बुरी बात है। अपकार करना छोड़ो और परोपकार करना सीखो।

लोग कहते हैं कि आज नया जमाना है। इस नये जमाने में उपकार करने के तौर-तरीके भी नये-नये निकलते जा रहे हैं। किसी महापुरुष के पास कोई लोभी, लालची और माया का कीडा आ गया। महात्मा ने सहजभाव से उपदेश-पद प्रेरणा करते हुए कहा-भाई, कुछ परोपकार किया करो। वह बोला—महाराज, आपने कई उपकारी देखे होंगे परन्तु मेरे जैसा उपकारी आपको शायद ही मिला होगा। मैं आपकी दया से परोपकारमय जीवन बिताता हूँ। मेरे उपकारों की बात सुनेंगे तो दंग रह जाएँगे।

महात्मा ने कहा—अच्छा भाई, सुनाओ तो जरा तुम्हारे उपकारों की कहानी! वह बोला—महाराज, आप उपदेश देते हैं कि दुई (द्वैतभाव) को अपने-पराये के भेद को भूल कर एक बन जाओ। मैंने इस दुई को मिटाने के लिए मेरी हवेली के पास गरीबों के कच्चे झोंपडे थे—जो दीवारें खडी थीं—उनको मिटा कर अपने में मिला लिये। मैंने इस प्रकार अपने-पराये का भेद मिटा डाला! कितना बड़ा उपकार है महाराज!

और देखिये, मेरा दूसरा उपकार। जिन भाइयों को पीतल की अगूठी तक पहनने को नसीब नहीं थी उनको मैंने हाथ-पैर में आभूषण पहना दिये। अर्थात् हाथों में हथकडियाँ और पाँवों में बेड़ियाँ डलवा दीं। कितना बडा उपकार है, यह! जिनको घास की झौंपड़ी नहीं मिलती थी उनको आलीशान सरकारी मकान (कारागार) में निवास करा दिया; पक्का बना हुआ है वह मकान और उसके चारों ओर चार दीवारी बनी हुई है। जिनकी सेवा

करने वाला कोई नहीं था उनको इतना बड़ा बना दिया कि अब सरकारी आदमी उनके साथ रहता है ! यह है मेरे उपकारों की कहानी ! क्या खूब उपकार हैं यह ! यह उपकार का उपहास है।

परोपकारी व्यक्ति किसी को दुःख नहीं देता वह दूसरों के दुःखों को ले लेता है और स्वार्थी व्यक्ति दूसरों को सुख नहीं देता किन्तु उनके सुखों को ले लेता है ! स्वार्थी और परमार्थी में इतना ही भेद है।

भद्र पुरुषों ! मैं फिर-फिर दोहराता हूं कि उपकार जीवन है और अपकार मृत्यु है। दूसरों का अपकार करके बार-बार मौत का आह्वान न करो। परोपकार के सात्वीक जीवन का आनन्द लो। जरा हृदय को उदार बना कर देखो कि दूसरों को शान्ति पहुँचाने से तुम्हें शान्ति का अनुभव होता है या नही ? आपका हृदय कह उठेगा कि जो दूसरों को शान्ति पहुँचाता है वह अनिर्वचनीय आनन्द का अनुभव करता है। आप भी "शान्ति देने से शान्ति मिलती है" इस सूत्र का अनुशीलन करो।

बन्धुओं ! उपदेश सुनने और सुनाने का सार यही है कि आप कल्याण और अकल्याण के मार्ग को जानकर कल्याण के पथ में प्रगति करें। शास्त्र कहते हैं:—

सोच्चा जाणइ कल्लाणं, सोच्चा जाणइ पावग ।
उभयं वि जाणइ सोच्चा जं सेयं तं समायरे ॥

श्रवण करने से कल्याण की प्रतीति होती है और श्रवण करने से ही कल्याण का मार्ग भी मालूम होता है। दोनों का श्रवण कर जो कल्याण का मार्ग है उस पर गमन करना चाहिए।

इसी उद्देश्य से चार महीनों तक मैंने सुनाया है और आपने उपदेश श्रवण किया है। इस सुनने-सुनाने का सार यही है कि आप कल्याण-मार्ग में उत्तरोत्तर आगे बढ़ते रहें। अस्तु।

सज्जनो! चातुर्मास के चार महीने व्यतीत हो चुके। समय का धर्म ही बीतना है। सब समय समय का खेल है और समय-समय का खेल मेल है। कोयल हमेशा नहीं बोलती। बसन्त ऋतु आती है, आम्र-मंजरियाँ निकलती हैं और कोयल का आगमन होता है। वसंत-ऋतु निकल जाती है, आमों की मौसम समाप्त हो जाती है तो कोयल कूकना बन्द कर देती है और ब्रतों में चली जाती है। इसी तरह चातुर्मास का प्रारम्भ होता है तो मुनिगण एक नगर में स्थित होते हैं और उपदेश-प्रदान करते हैं। चातुर्मास समाप्त होता है और मुनिगण वहाँ से अन्यत्र विहार करते हैं।

जहाँ संयोग है वहाँ वियोग है और वियोग है तो संयोग है। संयोग वियोग संसार का अनिवार्य चक्र है। यह चक्र चलता ही रहता है—मिलते हैं वे बिछुड़ते हैं। किसी के मिलने में सुख है तो किसी के बिछुड़ने में सुख है। किसी के बिछुड़ने में दुःख है तो किसी के मिलने में दुःख है। आततायियों के मिलने में दुःख है और साधु-पुरुषों के बिछड़ने में दुःख है। साधु का संयोग

बहुत दिनों के बाद होता है अतएव उनके मिलन से हर्ष होता है और बिछुड़ने से दुःख होता है। यह कोई नवीन बात नहीं है! द्वितीया के कूबरे–दुबरे चन्द्रमा को हरकोई बड़े आदर के साथ देखता ही है! क्योंकि वह कई रात्रियों के घने अन्धकार के बाद दृष्टिगोचर होता है। आप लोगों को साधुजनों के विहार से दुःख जरूर होता है परन्तु यह आपकी भावना का आवेग है। आपको यह याद रखना चाहिए कि भावना से कर्त्तव्य का स्थान ऊँचा होता है। कर्त्तव्य की प्रेरणा से ही साधु स्थिर रहते हैं और कर्त्तव्य की प्रेरणा से ही साधु विचरते हैं। उनके लिए एक जगह रहना और विचरण करना समान है। क्योंकि वे दोनों अवस्थाओं में निस्पृह होते हैं। वैसे साधुओं के लिए विचरण करते रहना अच्छा है क्योंकि इससे निस्पृह रहने में—अनासक्त रहने में सहायता मिलती है। साधु के लिए न कोई मित्र है और न कोई वैरी है। सब उसके लिए समान हैं।

साधु ऐसा चाहिए जैसे कालर केर।
ना काहू से दोस्ती ना काहू से वैर॥

साधु सब बन्धनों से परे होता है। वह एक जगह रह कर भी अलिप्त रहता है तो विचरते हुए अलिप्त रहेगा ही। साधु का जीवन साफ चाहिए। उसमें लाग–लपेट नहीं होनी चाहिए। रागी व्यक्ति सत्य बात नहीं कह सकता। जो राग–द्वेष रहित होता है वही सत्य प्रकट कर सकता है।

आप लोगों ने इस भावना-पूर्वक चातुर्मास कराया कि महा पुरुषों के उपदेश-श्रवण करने का लाभ मिलेगा। मैंने यथाशक्ति आपको वीरप्रभु के उपदेशों और शिक्षाओं के सम्बन्ध में समझाने का प्रयास किया है। खुराक मैंने दे दी है। पचाने का काम आपका है।

आज विहार करने का है। इसके पूर्व हिसाब-किताब साफ कर लेना चाहिए। जिस रोज से मैं आया हूँ, आपकी त्रुटियों के लिए व्याख्यान द्वारा कभी २ कटु आलोचना भी मुझे करनी पड़ी है। उपदेश के दौरान में कोई बात मेरे द्वारा ऐसी कही गई हो जिससे प्रत्यक्ष या परोक्ष में किसी भाई या बहिन को आघात पहुँचा हो तो उसके लिए मैं क्षमा चाहता हूँ। मेरा आशय शुद्ध ही रहा है, फिर भी दुःख पहुँचा हो तो अवश्य ही क्षमायाचना कर लेनी चाहिए।

व्याख्यान के समय में शोर-गुल होने के कारण कई बार बहिनों को शान्ति रखने क लिए मैंने कठोर शब्दों में भी प्रेरणा की है उसस बहिनों को जरूर दुःख हुआ होगा, मैं उनसे विशेषतया क्षमा चाहता हूँ।

चातुर्मास के लम्बे काल में जो भी भाई-बहन मेरे सम्पर्क में आये हैं उन सबसे क्षमायाचना करता हूँ। क्षमायाचना से चित्त में शान्ति पैदा होती है और प्रमोद भाव उत्पन्न होता है।

भद्रपुरुषों! पक्षी गुलशन में आते हैं, चहचहाते हैं, दाना चुगते हैं परन्तु गुलशन पर अपनी मिल्कियत नहीं रखते। वे

अपना काम करते हैं और उड़ जाते हैं। साधु भी ऐसे ही निस्पृह भाव से आते हैं और चले जाते हैं। कहा है:—

ये रुहें उड़ जानी आज ये रुहें उड़ जानी ॥ टेर ॥

वीर प्रभु का सुमिरन करलो, दया दान की खेपज भरलो।
ये जग समझो फानी, ये रुहें उड़ जानी ॥ १ ॥
दया, सामायिक, संवर करना, भूत-मसाणी से नहीं डरना।
यही गुरां दी वाणी, ये रुहें उड़ जानी ॥ २ ॥
जो जो तुमको प्रण करवाया, इसे निभा तुम लेना लाया।
यही गुरां दी शानी, ये रुहें उड़ जानी ॥ ३ ॥
हंस आये तुम्हारे शहर में, वहते अनजल दरिया लहरमें।
चुग चले दाना पानी, ये रुहें उड़वानी ॥ ४ ॥
चार मास आनन्द बरताया, अब चलने का वेला आया।
सब से खिमतखिमानी, ये रुहें उड़जानी ॥ ५ ॥
आपस में तुम सब मिल जाओ, देश जाति का कष्ट मिटाओ।
'प्रेम' कहे यह वाणी, यह रुहें उड़जानी ॥ ६ ॥

भद्रपुरुषों! और सन्नारियों! इस विदाई की वेला में मेरा यही उपदेश और संदेश है कि धर्म के महत्त्व को समझ कर आप सब धर्ममय जीवन-यापन करें। जीवन की सार्थकता परोपकार और धर्म की निर्मल आराधना में है। अतएव धर्म की आराधना करते रहिये। नवयुवकों को विशेष रूप से प्रेरणा देना है कि वे धर्म के क्षेत्र से उदासीन न रहें। उत्साह पूर्वक धर्म की आराधना

करिये। इसमें आपका कल्याण है। जो भव्य प्राणी धर्म का आराधन करेंगे वे यहाँ और वहाँ आनन्द ही आनन्द प्राप्त करेंगे।

रतलाम
२-११-५३
मार्गशीर्ष कृ १

ॐ शान्ति

ज्ञान का प्रकाश

पुच्छिसुणं समणामाहणाय,
अगारिणो या परतित्थिया य ।
से केइणेगन्तहियं धम्ममाहु,
अणेलिसं साहु समिक्खयाए ॥

सूत्र कृताङ्ग सूत्र में भगवान् महावीर स्वामी की स्तुति की गई है। उक्त गाथा से आरम्भ कर २६ काव्यों के द्वारा सूत्रकार भगवान् महावीर का गुणानुवाद करते हैं। वह २६ काव्यमय स्तुति 'वीर थुई' कही जाती है। उस स्तुति का आदि पद 'पुच्छिसुणं' है अतएव 'पुच्छिसुणं' के नाम से यह स्तुति अधिक विख्यात है।

इस स्तुति के रचयिता हैं—चार ज्ञान और चौदह पूर्वों के ज्ञाता भगवान् गौतम स्वामी। गौतम जैसे गणधर जिस स्तुति के स्तुति-कारक हों उसके विषय में, उसके प्रसाद और माधुर्य के सम्बन्ध में, तो कहना ही क्या है! स्तुतिकार भगवान् गौतम विपुल ज्ञान लब्धि से सम्पन्न थे। चार ज्ञान और चौदह पूर्वों की अगाध-ज्ञान-राशि के अधिपति थे। वे उच्चकोटि की साधना के धनी थे। उनकी ज्ञानाराधना, दर्शनाराधना और चारित्राराधना अनुपम थी। वे घोर तपस्वी थे। उनका जीवन प्रत्येक दृष्टि से असाधारण, उच्च,

उन्नत, विकसित और परिमार्जित था। अनेकों लब्धियाँ उनके चरणों को चूमती थीं। वे तेजस्वी, ओजस्वी और यशस्वी थे। अपने असाधारण सद्गुणों के कारण ही वे भगवान् के प्रथम गणधर बने। ऐसे असाधारण गुण-लब्धि से सम्पन्न श्री गौतम स्वामी भी अत्यन्त भक्ति से प्रेरित होकर भगवान् की स्तुति करने के हेतु उद्यत हुए। यह कृतज्ञता है, उपकारी के महान उपकारों के प्रति श्रद्धा और सम्मान व्यक्त करना है। उन्होंने इस स्तुति के द्वारा सब साधारण को यह संदेश दिया कि—उपकारी के उपकारों को कभी न भूलो, उन्हें सदा स्मृति में रक्खो। जो उपकारी के उपकारों को भूल जाते हैं वे कृतघ्नी कहलाते हैं। कृतघ्नता जघन्य से जघन्य (नीच से नीच) दुष्कृत्य है। जिन महोपकारी महापुरुष का किसी कुल, जाति, समाज या राष्ट्र पर ही नहीं अपितु समस्त संसार पर उपकार है, उनका गुणानुवाद किये बिना गौतम स्वामी से कैसे रहा जाता। जिस महापुरुष ने संसार को आलोक प्रदान किया, शाश्वत सुख-शान्ति का रास्ता दिखाया और परम एवं चरम पुरुषार्थ को सिद्ध करने का मार्ग प्रशस्त किया—उस परमोपकारी महापुरुष के प्रति अपनी कृतज्ञता, हार्दिक भक्ति और श्रद्धा के सुमन समर्पित किये बिना कौन सहृदय रह सकता है ? गौतम स्वामी ने इस स्तुति के द्वारा प्रभु के प्रति अपने हृदय की भक्ति को प्रकट किया है।

गुणज्ञ और तत्त्वज्ञ व्यक्तियों का कर्तव्य है कि जिनके द्वारा उन्हें ज्ञान का दिव्य आलोक प्राप्त हुआ है उनका युगयुगान्तर

तक उपकार मानें। उपकृत्य (जिसका उपकार किया गया है) व्यक्ति कालान्तर में चाहे जितना आगे बढ़ जाय फिर भी उसे अपने उपकारी का उपकार कभी न भूल कर उसके प्रति सन्मान की भावना रखनी चाहिए।

अणन्तणाणोवगओ वि संतो गुरुसगासे विणयं पउंजे शास्त्रकार कहते हैं कि शिष्य चाहे अन्नतज्ञान से युक्त भी क्यों न हो जाय उसे अपने गुरु के प्रति विनय-भाव रखना चाहिए। यह कृतज्ञता है।

शास्त्रों में दो प्रकार की शिक्षाओं का निरूपण किया गया है। (१) ग्रहण-शिक्षा और (२) आसेवनी शिक्षा। ज्ञान को ग्रहण करना ग्रहण-शिक्षा कहलाती है। जिससे पुण्य-पाप, लोक-परलोक, जड़-चेतन, आत्मा-महात्मा और परमात्मा का बोध हो वह ज्ञान है। शास्त्रों में ज्ञान को बड़ा महत्व दिया गया है। यह वह चक्षु है जिससे आगे-पीछे, दाएँ-बाँए, ऊपर-नीचे, सब ओर देखा जा सकता है।

"णाणं सव्वत्तगं चक्खु"

साधना के मार्ग में चलने वाले पथिक के लिए ज्ञानरूपी चक्षु का होना अत्यन्त आवश्यक है। इसके अभाव में वह ठोकरें खाकर इधर-उधर लथड़ा जाएगा। उसे मार्ग ही नहीं सूझ पड़ेगा तो भला वह कैसे चल सकेगा? इसलिए ज्ञानरूपी चक्षु का होना नितान्त आवश्यक है। दशवैकालिक सूत्र में इसीलिए बतलाया गया है कि

" पढमं नाणं तओ दया "

प्रथम तत्त्वों का ज्ञान करना चाहिए और फिर उसके अनुसार आचरण करना चाहिए। जो व्यक्ति जीव अजीव को, पुण्य-पाप को, धर्म-अधर्म को ही नहीं जानेगा वह भला दयारूप चारित्र का अनुष्ठान कैसे कर सकेगा?

अतएव सर्वप्रथम यह आवश्यक है कि गुरु के द्वारा ज्ञान का प्रकाश प्राप्त किया जाय प्राणियों के भाव-नेत्रों पर अनादिकाल से मोह और अज्ञान का जाला छाया हुआ है, मोतिया बिन्दु पड़ा हुआ है, अतएव वे नेत्र तत्त्वों को नहीं देख सकते हैं। अतएव अज्ञानी प्राणी अन्धे के समान भव संसार में इधर से उधर लथड़ाते रहते हैं। जब अनन्त पुण्य का उदय होता है तब सद्गुरु रूपी वैद्य का संयोग मिलता है और वे ज्ञानरूपी अंजन-शलाका से प्राणियों के भाव-नेत्रों को खोल देते हैं। कहा गया है—

अज्ञानतिमिरान्धानां ज्ञानाञ्जनशलाकया।
नेत्रमुन्मीलितं येन तस्मै श्री गुरवे नमः॥

अहा! कितना अनुपम उपकार है गुरुदेव का! अन्धे को आँख मिल जाय तो और क्या चाहिए! जिस नेत्र-प्रकाश के अभाव में सारा विश्व शून्य मालूम पड़ता था, चारों तरफ अन्धकार ही अन्धकार प्रतीत होता था आज गुरुदेव की कृपा से दिव्य-आलोक प्राप्त हो गया और जगत् के सर्व पदार्थ अपने २ रूप में स्पष्ट प्रतिभासित होने लगे। बलिहारी है गुरुदेव के चरण कमलों की!

यह गुरुदेव की कृपा है, यह उनका प्रसाद और अनुग्रह है कि शिष्य दिव्य ज्ञानी बन जाता है और विश्व-पूज्य हो जाता है। ज्ञान का भव्य और आलोक प्रदान करने वाले गुरुदेव से बढ़कर उपकारी दूसरा कौन है?

गुरु गोविन्द दोनों खड़े किसके लागूं पाय ।
बलिहारी गुरुदेव की गोविन्द दियो बताय ॥

एक ओर गुरु खड़े हैं और एक ओर साक्षात् भगवान् खड़े हैं तो पहले किसको नमस्कार किया जाय? भक्त शिष्य के सामने बड़ी भारी समस्या उपस्थित हो गई, उलझन सामने आ गई, विषम गुत्थी में वह उलझ गया, क्या करे और क्या न करे! आखिर वह निर्णय करता है कि—मेरे लिए गुरुदेव विशेष उपकारी है। मुझे अन्धकार से प्रकाश में लाने वाले, असत् से सत् में लाने वाले, मृत्यु से अमृतत्त्व में लाने वाले, सद् गुरुदेव ही हैं। भगवान् का स्वरूप दर्शन कराने वाले भी गुरुदेव हैं अतएव गुरुदेव को प्रथम नमस्कार करना उचित है। आसन्न उपकारी होने से ही तो सिद्धों की अपेक्षा अर्हन्तों को प्रथम नमस्कार किया जाता है।

भद्रपुरुषों! सर्वप्रथम उन्मार्ग से सन्मार्ग पर लाने वाले गुरु की अनुपम बलिहारी है! कालान्तर में तो ऐसा भी होता है कि शिष्य ज्ञान के क्षेत्र में गुरु से बहुत आगे भी बढ़ जाता है! गुरु में ज्ञान कम भी होता है और शिष्य में विशेष ज्ञान भी आ जाता है। गुरु में वक्तृत्व शक्ति और सभाचातुर्य न भी हो और वह शिष्य में विशेष हो सकता है! परन्तु इससे गुरुदेव का महत्त्व

षम नहीं हो जाता। शिष्य का कर्त्तव्य यही है कि वह उन अल्प ज्ञानी गुरुदेव का सदा विनय करता रहे। ज्ञान की तरतमता का आधार तो ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम है।

आत्मारूपी आकाश में ज्ञानरूपी सूर्य है। उसको बादलों के आवरण ने आच्छन्न कर रक्खा है। आँधी या तूफान आता है तो बादल हट जाते हैं। आँधी भी निर्हेतुक नहीं है, उसका भी कारण है। इसी तरह बादल भी निर्हेतुक नहीं है उनका भी कारण है। बादल स्वयं नहीं आये उनके पीछे भी प्रेरणा है। आकाश अपने स्वभाव से असंग है, अरंग है, अभंग है। उस पर किसी का लेप नहीं लग सकता अतएव वह असंग है, उसका कोई रंग नहीं है अतएव वह अरंग है और उसका कभी भंग नहीं होता अतएव वह अभंग है। इसी तरह आत्मद्रव्य भी असंग है, अरंग है और अभंग है। आकाश की तरह आत्मा भी शाश्वत है। आकाश की तरह आत्मा अवर्ण है, अगंध है, अरस है, अस्पर्श है। आकाश न मैला है, न अन्धकारमय है इसी तरह आत्मा निज स्वरूप से न मैला है न अन्धकारमय है। आकाश और आत्मा में इतनी समानता होते हुए एक महत्त्वपूर्ण असमानता है और वह यह है कि आकाश प्रकाशमय नहीं है और आत्मा प्रकाशमय है।

प्रकाश भी दो तरह का है। एक पौद्‌गलिक प्रकाश और दूसरा ज्ञानरूप प्रकाश। चन्द्र, सूर्य, दीपक आदि का प्रकाश पौद्‌गलिक प्रकाश है और ज्ञान का प्रकाश भाव-प्रकाश है। सूर्य आदि के

पौद्गलिक प्रकाश में प्रकाशत्व के साथ २ दाहकता भी है परन्तु भाव-प्रकाश में दाहकता नहीं होती !

आत्मा भाव-प्रकाश से अर्थात् ज्ञानमय आलोक से आलोकित है। सूर्य के बादलों से घिर जाने पर भी उसका प्रकाश बादलों के आवरण में से भी प्रतिभासित होता है। इसी तरह आत्मा का ज्ञानमय आलोक ज्ञानावरण से आच्छादित होने पर भी प्रतिभासित होता ही है। आत्मा की परिपूर्णज्ञान–ज्योति को प्रकट करने के लिए साधन और युक्ति की आवश्यकता है। अरणि (काष्ठ) में अग्नि तत्त्व है परन्तु उसे प्रकट करने के लिए साधन और युक्ति का अवलम्बन लेना पड़ता है। जब तक वह संघर्ष में से न गुजरे, जब तक वह रगड़ खाकर स्वयं न जल जाय, अपने को न मिटा दे तब तक उसमें से आग प्रकट नहीं होती। तिलों में तेल है परन्तु तिलों से रोटी नहीं चुपड़ी जा सकती है। तिलों में तेल है यह निर्विवाद है। तिलों में से तेल निकल जाने पर खल रह जाती है शरीर आदि पुद्गल खल है और आत्मा उसमें तेल है। दही में छाछ भी है और मक्खन भी है। मिट्टी में सोना भी है। फूलों में इत्र है। चतुर विज्ञानी पुरुप युक्तिपूर्वक मिट्टी में से सोना और फूलों में से इत्र निकाल लेते हैं। फूलों में इत्र है परन्तु उसे निकालने के लिए युक्ति की जरूरत है। युक्ति से ही मुक्ति है। युक्ति के विना–लाठी मार कर फूल में से कोई इत्र निकालना चाहे तो उसे सफलता नहीं मिल सकती। युक्ति की आवश्यकता प्रत्येक स्थल पर है।

किसी घर में नई बहू आई ! सासू ने परीक्षा लेनी चाही कि यह बहू समझदार है या फूहड़ है। यह घर को संभाल सकने

चली है या नहीं। उसने बहू से कहा—मैं अमुक घर जा रही हूँ। तुम सावधानी रखना। घर में अंधेरा न आ जाय। यह कह कर वह चली गई। इधर सूर्य अस्त होने लगा और अन्धकार फैलने लगा। उसके घर में भी अंधेरा आने लगा। यह देखकर अंधेरे से बहू बोली—सासूजी कह गये हैं कि अन्धेरा न आने देना। इसलिए मैं कह देती हूँ कि तुम अन्दर मत आओ। परन्तु अंधेरा कब उसकी सुनने वाला था!

तब बहू बोली—लात के देवता बात से नहीं मानते। उन्हें तो लात से समझाना पड़ता है! बहू गाँव की थी। शरीर से हृष्ट-पुष्ट थी। गाँव की स्त्रियाँ प्रायः परिश्रम और पशुपालन आदि के कारण तन्दुरुस्त रहती हैं। शहर की स्त्रियाँ श्रम नहीं करतीं इसलिए प्रायः अस्वस्थ न मार, कमजोर और दुर्बल हो जाती हैं। शहरी सभ्यता श्रम से दूर भगाती है। शहरी लोग श्रम करने से अपनी प्रतिष्ठा की हानि समझते हैं! श्रम न करना मानों श्रीमन्ताई का चिह्न हो गया है यह भयंकर भ्रमणा है। श्रम न करना सामाजिक अपराध है। श्रम का प्रतिष्ठा न होने से समाज-शरीर रोगों से जीर्ण-शीर्ण हो रहा है। वस्तुतः जीवन का आधार श्रम है। श्रम के बिना मानव जीवन का निर्वाह नहीं हो सकता अतएव श्रम अनिवार्य है। ऐसी अवस्था में जो श्रम नहीं करते हैं और जीवनोपयोगी साधनों का अधिक से अधिक उपयोग करते हैं वे दूसरों के श्रम का अपहरण करते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि समाज में विषमता फैल जाती है। श्रम करने वाला भूखा

नंगा रहता है और श्रम न करने वाले ऐश की जिन्दगी बिताते हैं यह सामाजिक अवस्था है। इससे मानव-समाज में अशान्ति और संघर्ष के बीज पनपते हैं। अतएव सामाजिक दृष्टि से श्रम-प्रधान जीविका का होना हितावह है। शारीरिक स्वास्थ्य की दृष्टि से भी श्रम की बड़ी उपयोगिता है। श्रम करते रहने से शरीर कसा हुआ रहता है, बलिष्ठ बनता है और रोगरहित होता है। श्रम न करने से अंग बेकार हो जाते हैं। बांये हाथ से लोग विशेष काम नहीं लेते हैं तो वह उतना काम नहीं कर सकता जितना दाहिना हाथ करता है। इतिहास बताता है कि पहले यहाँ ऐसे लेखक थे जो दोनों हाथों और दोनों पैरों से भी लिखते थे। जो लोग श्रम से जी चुराते हैं वे अपने शरीर के अवयवों को निकम्मा और सुस्त बना लेते हैं। इसके विपरीत जो स्वावलम्बी हैं, पुरुषार्थी हैं, अपना काम स्वयं हाथों से करते हैं, जो मिहनत और मशक्कत की जिन्दगी बिताते हैं वे देहाती कृषक उन लोगों की अपेक्षा विशेष स्वस्थ जीवन बिताते हैं जो आरामतलब पोलेपोले ढील-ढाले नागरिक हैं। ये श्रमचोर नागरिक वैद्य-डाक्टरों के पोषक हैं। प्रायः श्रमिकों के यहाँ वैद्य डाक्टरों की दाल नहीं गलती।

एक जाट खेत जोत रहा था। उसकी स्त्री मक्की की रोटी, छाछ और सरसों का शाक लेकर खेत पर आई। कृषक वहीं वृक्ष की छाया में बैठकर वह लाया हुआ भोजन प्रसन्नता के साथ खाने लगा। अकस्मात् एक वैद्यराज वहां आ पहुँचे। उन्होंने सोचा—यह किसान छाछ, मक्का और सरसों खा रहा है। ये तीनों चीजें वायु पैदा करने

वाली है। अभी इसके शरीर में वायु का प्रकोप होगा और इसे दवा की आवश्यकता होगी। तब मेरी पूछ होगी और पैसे प्राप्त होंगे। यह सोचकर वह वैद्य वहीं ठहर गया। इधर जाट ने मोटे मोटे रोटे खा लिये और खेत म काम करना शुरू कर दिया। मिहनत करते करते उसके शरीर से पसीना चूने लगा। वैद्यराज बैठे २ आतुरता पूर्वक राह देख रहे थे कि अब दर्द शुरू होगा और मेरी जरूरत पड़ेगी। जाट तो हल्का फूल होकर बैठ गया।

जाट ने वैद्य से पूछा—आप कौन है?

वैद्य ने उत्तर दिया—मैं वैद्य हूँ। अमुक गाँव जा रहा था परन्तु मैंने देखा कि तुमने छाछ, मक्का और सरसों तीनों वायुवर्द्धक चीजें खाई हैं इसलिए मेरा काम यहीं बन जायगा। यहीं चाँदी झड़ेगी।

जाट ने कहा—यह आशा यहाँ न कीजिए। यह आशा तो शहरों के सेठों से करो। हमारे यहाँ इसका क्या काम है?

मिहनत-कशों को-श्रमिकों को सब कुछ हजम हो जाता है और श्रीमन्तों को नरम-नरम चपातियां भी हजम नहीं होती! भद्रपुरुषो! इस झूठी कोमलता, मुलायमता को छोड़ो, झूठी प्रतिष्ठा-हानि की भ्रमणा दूर करो और श्रममय स्वावलम्बी जीवन बिताने का प्रयत्न करो। श्रम की प्रतिष्ठा से ही सुन्दर समाज-रचना हो सकेगी। अस्तु।

हाँ तो वह बहू बोली—देखो ! अंधेरे ! मान जाओ ! खैर चाहते हो तो मेरे घर में मत घुसो, चले जाओ । पर मानने वाला कौन ? वह लठंत लकड़ी लेकर अंधेरे को कूटने लगी । आटे के बर्त्तन, घी के बर्त्तन, तेल के बर्त्तन पड़े थे सब टूट-फूट गये । जुदी २ चीजें एक हो गई । द्वैत-भाव चला गया । पीटते २ जब वह बहू थक गई, पसीना हो आया तो हार कर बोली—मैं क्या करूँ ? यह अंधेरा तो बड़ा ढीठ है ।

सासूजी आयी और अंधेरा देखकर बोली—बहू, यह क्या ? अंधेरा तो आ गया ।

बहू बोली—क्या करूँ ? यह तो बड़ा ढीठ है । इसे बातों से समझाया, लातों से समझाया, परन्तु यह तो माना ही नहीं ।

सासू ने समझ लिया—यह फूहड़ है । इसमें बुद्धि नहीं है । यह घर नहीं संभाल सकती । परन्तु अभी कच्ची मिट्टी है । इसे अभी सुधारा जाय तो यह सुधर सकती है । अभी उपेक्षा कर दी जायगी तो फिर सुधरना कठिन है । कच्ची मिट्टी को कूट २ कर जैसा चाहे वैसा पात्र बनाया जा सकता है परन्तु बर्तन के पक जाने पर फिर सुधार करना अशक्य है । कहा है:—

आली थी तब कूटी थी, कच्ची थी तब कूटी थी ।
अब कूटेगा मोय तो ठबर पड़ा दूं तोय ॥

कच्ची मिट्टी से जैसे जैसे पात्र बनाने की अभिलाषा हो वैसे पात्र बन सकते हैं । बर्तन के पकजाने के बाद सुधार की गुंजाइश

नही रहती। इसी तरह शिष्य, छात्र, बहू आदि कच्ची मिट्टी है। प्रयत्न किया जाय तो इनमे अच्छे संस्कार डाले जा सकते हैं और इनके जीवन का सुन्दर निर्माण हो सकता है।

कतिपय लोग लाड़-प्यार या मोह के वशीभूत होकर छोटे छोटे बालकों को ऐसी २ बातें सिखलाते है जो आगे के लिए अत्यन्त हानिकर होती है। अपनी दिल बहलाई के लिए पिता बालक से कहता है—"मुन्ना! जा तो तेरी मां के थाटा मार तो।" माता कहती है, 'जा रे तेरे बाबूजी की पगड़ी उतार तो।" "क्यों रे थारें गौरी बिन्दनी लावा के काली" इत्यादि। उस समय तो दिल बहलाई (मनोरजन) होती है परन्तु आगे चलकर जब बच्चे के हाथ बनेंगे तब इस दिल बहलाई का कितना भीषण परिणाम आएगा!

बालक कच्ची मिट्टी के समान है। उसको बनाना या बिगाडना माता पिता के हाथों में है। माता-पिता जैसे होंगे वैसे ही संस्कार बालक में उतरेंगे। गर्भ से लेकर पांच वर्ष की उम्र तक बालक जितना ज्ञान ग्रहण करता है उतना वह आगे नहीं ग्रहण करता, यह बाल-मनोविज्ञान वेत्ताओं का कथन है। अभिमन्यु ने गर्भ में ही चक्रव्यूह भेदन की कला सीख ली थी। बच्चों को आप जड या काठ का न समझिए। उनमें समझ शक्ति है। ग्रहण-शक्ति है। वे प्रत्येक नई चीज को बहुत ध्यान पूर्वक देखते हैं और उसको जानने के लिए उत्कंठित होते हैं। अतएव बालकों को नासमझ समझ कर उनके सामने किसी प्रकार की कुचेष्टाएँ न करनी चाहिए।

माता-पिता की बड़ी गुरुतर जिम्मेवारी होती है। सन्तान को जन्म दे देना कोई बड़ी बात नहीं है परन्तु सन्तान के जीवन का निर्माण करना महत्वपूर्ण चीज़ है। वही माता-पिता इस महत्तर दायित्व को निभा सकते हैं जो स्वयं संस्कारसम्पन्न और सुधरे हुए हों। बालक में अनुकरण करने की वृत्ति बड़ी प्रबल होती है। उसके सामने जैसा वातावरण आएगा वह आसानी से वैसा बन जाएगा। बालक के आसपास के वातावरण का अच्छा या बुरा होना माता-पिता के संस्कारित या असंस्कारित जीवन पर अवलम्बित है। माता-पिता यदि संस्कारी हैं तो उनकी सन्तान शीघ्र ही उनके संस्कारों को अपने में उतार लेती हैं। माता-पिता यदि व्यसनी हैं, तो वह व्यसन बच्चों में आये बिना नहीं रहेगा। अतएव बालकों के जीवन-निर्माण की सारी जिम्मेवारी माता-पिता पर है। यदि माता-पिता बालकों को सदाचारी और सुसंस्कारी देखना चाहते हैं तो पहले उन्हें स्वयं सदाचारी और सुसंस्कारी बनना चाहिए।

बालकों के लिए प्रथम स्कूल माता की गोद होती है। जब से बालक गर्भ में आता है तब से ही वह माता के संस्कारों को अपनाने लगता है। इसलिए बालक क जीवन के निर्माण की अधिक जिम्मेवारी माता की है। गर्भ से लेकर बालक के समझदार होने तक माता को बड़ी सावधानी के साथ रहना चाहिए। सदाचार, अनुकम्पा आदि के संस्कार बालक में उतारने का यही अवसर होता है। अतएव माता-पितारूपी शिक्षक को चाहिए कि

बालक को शिक्षा देने के पूर्व स्वयं तैयार हों। सन्तान का संवर्धन ही माता-पिता के अंश से निर्मित होता है। सन्तान माता-पिता का प्रतिबिम्ब ही है। अतएव माता-पिता को बहुत सावधानी रखना चाहिए।

भगवती सूत्र में कहा गया है कि—बालक का मस्तिष्क मातृ-अंश है। सन्तान का मस्तिष्क प्रायः वैसा ही बनता है जैसा उसकी माता का मस्तिष्क होता है। शारीरिक बल पितृपक्ष से बनता है और मस्तिष्क मातृ-अंश से बनता है। जैसी माताएं और स्त्रियां होती हैं उन्हीं के अनुसार ही सन्तान बनेगी। अतएव माताओं को मातृत्व पद की गुरुतर जवाबदारी का ध्यान होना चाहिए। बालक को चिन्तक, विचारक, आलोचक, बुद्धिमान और विद्वान बनाने की जिम्मेवारी विशेषतः माता की होती है। माता बाह्य पोषण देती है परन्तु आन्तरिक पोषण का भी उसे ध्यान रखना चाहिए। अच्छे विचार और अच्छे संस्कार देना माता का कर्त्तव्य है। कुएँ में जैसा पानी होगा वैसा ही तो पात्र में आयगा? जैसा पात्र में होगा वैसा ही पीने में आयगा और जैसा पानी पीने में आयगा वैसा ही उसका परिणाम होगा। इसलिए माताओं का सुसंस्कारी होना नितान्त आवश्यक है।

यह खेद की बात है कि समाज में स्त्रियों और बालिकाओं के शिक्षण की ओर पर्याप्त ध्यान नहीं दिया जा रहा है। स्त्री-समाज में अशिक्षा और अज्ञान का अंधेरा छाया हुआ है जिसकी छाया में अनेक वहम, भ्रमणाएँ और मिथ्या संस्कार पनप रहे हैं और

उनका असर समाज के सुकोमल बालक-बालिकाओं में उतर रहा है। यही कारण है कि समाज उन्नतिशील न रहकर अवनति की ओर गति कर रहा है। समाज-सुधार की बुनियाद यदि कोई है तो वह बालिकाओं को सुयोग्य और सुसंस्कारी बनाना है। ये बालिकाएँ ही आगे चलकर मातृत्व के गौरवपूर्ण पद की जिम्मेवारी निभाने वाली हैं अतएव इनके सुधार पर पर्याप्त लक्ष्य दिया जाना आवश्यक है।

भद्रपुरुषों और महिलाओं! यदि आप बालक को गजसुकुमाल जैसा योगी, भीष्म जैसा ब्रह्मचारी, अर्जुन जैसा वीर देखना चाहते हैं तो उनके अंतरग जीवन का ध्यान रक्खो। तभी वह बालक आपकी इच्छानुसार अपने जीवन का निर्माण कर सकेगा।

बच्चा सफेद कागज़ होता है। उस पर चाहे जिस स्याही से लिखा जा सकता है। जो लिखना चाहो लिखा जा सकता है। परन्तु एक बार जो रंग चढ़ा दिया जाता है, जो लिख दिया जाता है वह अमिट रहता है। फिर उस पर दूसरा रंग चढ़ना, दूसरी बात लिखना मुश्किल होता है! इसलिए पहले ही खूब सोच-समझ कर उस बालकरूपी सफेद कागज़ पर लिखना चाहिए। यहाँ चूक गये कि चूक गये। वह पानी मुल्तान गया, राई के भाव रात में गये। शुरू की जाड़ में गल्ती हुई तो आखिर तक गल्ती ही गल्ती है। आरम्भ की भूल शीघ्र समझ में आ गई तो ठीक है। यदि उस समय आँखें बंद कर ली जाय तो आगे का श्रम सब व्यर्थ हो जायगा। पहली कक्षा में रही हुई कमजोरी यदि दूर न की गई तो वह अन्त तक तकलीफ देती है। मकान की नींव कच्ची रह गई तो ऊपर

चाहे जितनी सुन्दर मंजिल बनाओ—धान जड़ाओ—सब बेकार है। इसी प्रकार बालक के जीवन निर्माण में पहले से ही सावधानी रखने की आवश्यकता है। आज जो गुरु-चेले में, पिता-पुत्र में, राजा-प्रजा में, सासू-बहू में अनुशासनहीनता, निरंकुशता और गड़बड़ देखी जाती है वह इस पहली भूल का ही दुष्परिणाम है। पहले मोह में पड़कर, झूठे लाड़-प्यार के द्वारा बिगाड़ पैदा कर दिया जाता है। इससे बचकर माता-पिता, गुरु, सासू आदि जिम्मेवार व्यक्ति, पुत्र-शिष्य आदि की अन्दर की आत्मा का निर्माण करें तो वे सच्चे कर्त्तव्य-पालक कहे जा सकते हैं, अन्यथा नहीं। समय पर सावधानी रखनी चाहिए। समय निकल जाने पर लाख प्रयत्नों के बावजूद भी इष्ट परिणाम नहीं प्राप्त किया जा सकता। अवसर बार २ नहीं आया करते। गया हुआ समय वापस नहीं आता। समय का लाभ ले लो।

> जा जा वच्चइ रयणी न सा पडिनियत्तइ।
> अधम्मं कुणमाणस्स अफला जन्ति राईओ॥

समय के प्रवाह को रोकने की शक्ति किसी में नहीं है। रेंट चल रहा है, प्यास बुझाना हो तो बुझा लो, मैल धोना हो तो धो लो। इसका लाभ लेना हो सो ले लो। यह सुन्दर अवसर मिला हुआ है। धर्माराधना और परोपकार-साधना करना हो सो कर लो। धर्माराधना और परोपकार-साधना के बिना जीवन अजा-गल स्तन की तरह निरर्थक है। अतएव प्राप्त सामग्री और साधनों का सदुपयोग करलो। नहीं तो आगे नई दुनिया है, क्या पता है यह सुन्दर सामग्री और अवसर मिलेगा या नहीं।

प्राणी प्रमाद में पड़कर और संकल्पों में फँसकर बहुमूल्य जीवन को खो देता है। शास्त्रकार कहते हैं:—

इमं च मे अत्थि, इमं च णत्थि, इमं च मे किच्चमिमं अकिच्चं।
त एवमेवं लालप्पमाणं हरा हरंति त्ति कहं पमाए ॥

यह मेरे पास है, यह नहीं है, यह कर लिया है, यह और करलूँ इस प्रकार प्राणी आशा-तृष्णा के फंदे में फँसा रहता है और उधर यमरूपी चोर उसके आयुष्य-धन का अपहरण कर लेता है। आशा तृष्णा में फँसा हुआ जीव यों ही बिना कुछ किये मृत्युके मुख में जा पड़ता है। काम किसी के पूरे नहीं होते।

रह गये काम जगत के अधूरे करने वाले हो गये पूरे।
तृष्णा कर कर मर गये शूरे तृष्णा नाहीं मरदी है।
रब मिलदा गरीबी नाले दुनिया मान करदी है ॥

तेंतीस सागरोपम की आयु वाले देवों की भी कामना पूरी नहीं हुई। वे पूरे हो गये। जीवन की कड़ियाँ और लड़ियाँ गुजर रही हैं अतः अपने जीवन को बना लो और अपने बालकों के जीवन को भी सुधार दो। ये बालक ही आगे चल कर राष्ट्र के निर्माता बनने वाले हैं। ये ही पौधे आगे चल कर छाया देने वाले घने वृक्ष होंगे।

माता-पिता का कर्त्तव्य है कि वे अपनी जीवन-चर्या के द्वारा बालकों को संस्कारित और शिक्षित करें। मां का दूध बालक के लिए जितना पौष्टिक होता है उतना दूसरा दूध नहीं। इसी तरह माता-पिता के द्वारा दी गई शिक्षा बालकों के लिए जितनी लाभ-

प्रद होती है उतनी दूसरी शिक्षा नहीं। अक्षर ज्ञान देने वाले स्कूल तो बाद में खुलते हैं। पहला स्कूल तो घर है। माता-पिता प्रथम शिक्षक हैं। अतएव प्रत्येक क्रिया में विवेक रख कर बालकों को विवेकवान् बनाना चाहिए। अक्षर ज्ञान का उतना महत्त्व नहीं जितना विवेक और संस्कारों का महत्त्व है। भले ही बालक एम० ए० या महामहोपाध्याय न हो परन्तु विवेकसम्पन्न और सस्कारी हो तो वह हितावह है। कोरा अक्षर ज्ञान ही शिक्षा नहीं है। जो शिक्षा विवेक, सदाचार और विनय सिखाती है वही शिक्षा है। बच्चों के जीवन का निर्माण करने के लिए माता-पिता को अपना जीवन सुसंस्कारी और सदाचारी बनाना चाहिए। इसमें ही इहलौकिक और पारलौकिक हित है।

इस प्रकार के ज्ञान का प्रकाश जब बालक में उतरेगा तो उसका जीवन प्रकाशित हो उठेगा। भगवान महावीर से ज्ञान का आलोक पाकर गौतम गणधर का जीवन चमक उठा। वे कृतकृत्य हो गये। उन्होंने अपनी कृतज्ञता बताने के लिए भगवान की स्तुति की है। भगवान् की परिपूर्ण स्तुति होना तो असंभव है तदपि पानी में पड़े हुए चन्द्रमा के प्रतिबिम्ब को पकड़ने वाले बालक की तरह उन्होंने यह स्तुति करने का प्रयास किया है। वे इसे अपनी दिल बहलाई (आत्म-सतुष्टि) मानते हैं। गौतम सरीखे गणधर भगवान् की स्तुति करते हैं तो हमें भी प्रभु के गुण गाना चाहिए और जीवन को उन्नत बनाना चाहिए। इति शम्।

श्रद्धा का दीप

एस धम्मे धुवे णिच्चे सासए जिणदेसिए

इस गाथा में आत्म-गवेषी मुमुक्षु जीवों की विचार-धारा का निरूपण किया गया है। आत्मा की गूढ़तम पहेली को बूझने के लिए निरन्तर साधना करने वाले आत्माओं की उड़ान कितनी ऊँची होती है, उनका संकल्प–बल कितना दृढ़ होता है और उनकी श्रद्धा कितनी अडोल होती है, यह इस गाथा में सुन्दर रूप से चित्रित किया गया है! सच्चा आत्म-साधक अपनी विकसित विवेक बुद्धि के द्वारा सर्व प्रथम अपने लक्ष्य का निर्धारण करता है। लक्ष्य को निर्धारित कर लेने के पश्चात् वह उसके प्रति परिपूर्ण श्रद्धाशील होता है। श्रद्धा का दीपक वायु के झकारों से कम्पित होकर कदापि बुझ नहीं सकता। भयंकर झंझावात में भी श्रद्धा का दीप ज्यों का त्यों प्रकाशमान रहता है। इतना ही नहीं, श्रद्धा का दीप वह असाधारण दीप है जो वायु के थपेड़ों को सहन करता हुआ विशेष आलोकित होता है। इस प्रकार अपने निर्धारित लक्ष्य के प्रति परिपूर्ण निष्ठा रखते हुए वह साधक निरन्तर प्रगतिशील होता है। वह अनात्मभावों से सर्वथा अलिप्त रहता हुआ आत्म-साधना के पथ पर प्रगति करता रहता है।

उस मुक्ति-पथ के पथिक के लिए यह नितान्त आवश्यक है कि वह अपने सुदूरवर्ती लक्ष्य को एक क्षण के लिए भी न भूले, उसे अपनी आँखों से ओझल न होने दे। यदि वह अपने लक्ष्य के प्रति आँखमिचौनी करता है तो वह इधर-उधर, दाये-बाये भटक कर इर्द-गिर्द गोल गोल चक्कर लगाता रहेगा। वह आगे नहीं बढ़ पाएगा। इसके विपरीत यदि वह अपने लक्ष्य-बिन्दु को सदैव सामने रख कर उसी सरल दिशा में प्रगति करता रहेगा तो वह निश्चित ही अपने लक्ष्य पर पहुँच जायगा—वह अपनी मंजिल तय कर लेगा।

कई बार मुक्ति-पथ के पथिक को अपनी मंजिल के दौरान में ऐसे बीहड़ स्थानों से गुजरना पड़ता है जहाँ लक्ष्य के प्रति श्रद्धा लड़खड़ा सकती है, जहाँ लक्ष्य स्पष्ट २ प्रतीत नहीं होता है, जहाँ पहुँच कर बड़ी डावाडोल स्थिति सन्मुख आती है। ऐसी स्थिति में साधक क्या करे? इस स्थिति में साधक का मार्ग-दर्शन करते हुए शास्त्रकार फरमाते हैं कि उस अवस्था में साधक अपना मार्ग ढूँढने के लिए इस श्रद्धा-दीप का अवलम्बन ले —

"एस धम्मे धुवे णिच्चे सासए जिणदेसिए"

जिनेन्द्र देव का बताया हुआ यह धर्म्म-मार्ग ध्रुव है, नित्य है शाश्वत है, यह अवश्य ही मुझे इच्छित मंजिल पर पहुँचाएगा। भले ही मुझे अभी मेरा लक्ष्य-बिन्दु स्पष्ट २ प्रतीत न हो परन्तु यह निश्चित है कि यदि मैं इसी बताये हुए मार्ग पर चलता रहूँगा तो अवश्य ही लक्ष्य स्थान पर पहुँच जाऊँगा।

जो साधक उस अंधकारमय स्थिति के उपस्थित होने पर श्रद्धा का दीप संजो कर उसके आलोक में गति करता रहता है वह मंजिल पर निश्चित ही पहुँच जाता है। अतः मुमुक्षु के के लिए यह परम आवश्यक है कि वह अपने श्रद्धा के दीपक को सदा आलोकित रखे, उसे झंझावात में भी बुझने न दे।

अब प्रश्न यह होता है कि जिनेश्वर देव ने जिस ध्रुव, नित्य और शाश्वत धर्म का प्ररूपण किया है वह कैसा है? उसका स्वरूप क्या है? थोड़े और सीधे शब्दों में इस प्रश्न का उत्तर यह है कि अपने आपको पहचान लेना ही वास्तविक धर्म का मर्म है। "अपने आपको पहचानो।" "आत्मा को जानो" यही सकल आगम-निगम, वेद, पुराण, सूत्र-सिद्धान्त और धर्म-ग्रन्थों का सार है। "अपने आपको जानो" इस एक वाक्य में ही समस्त ब्रह्माण्ड का, सकल लोक का, सारे चराचर विश्व का ज्ञान समाया हुआ है। आत्मा ही परम और चरम ज्ञेय तत्त्व है। जिसने आत्मा को जान लिया उसने सब कुछ जान लिया और जिसने आत्मा को न जाना उसने कुछ नहीं जाना। इसीलिए आचारांग सूत्र में कहा गया है:—

जे एगं जाणइ से सव्वं जाणइ, जे सव्वं जाणइ से एगं जाणइ।

अर्थात्—जो एक-आत्मा को जान लेता है वह सारे विश्व को जान लेता है और जो सारे विश्व को जानता है वही आत्मा को परिपूर्ण रूप से जानता है।

तात्पर्य यह है कि आत्मा का ज्ञान करना ही वास्तविक ज्ञान है। जिस व्यक्ति ने दुनिया भर के ग्रन्थों का अध्ययन कर लिया,

न्याय-व्याकरण, छन्द, साहित्य, काव्य और विविध भाषाओं में निपुणता प्राप्त कर ली, मन भौतिक और लौकिक विज्ञान का पारगत विद्वान् हो गया, दुनिया के समस्त धर्म-ग्रन्थों को छान डाला–परन्तु यदि उसने एक—आत्मा को (अपने आपको) न जाना तो उसके ज्ञान की कीमत आध्यात्मिक क्षेत्र में कौड़ी की भी नहीं है। इसके विपरीत जिस व्यक्ति ने भाषा और व्याकरण सम्बन्धी निपुणता प्राप्त नहीं की, जिसमें वाक्चातुर्य नहीं है, जिसने अधिक ग्रन्थों का पठन-पाठन नहीं किया है, जो खास किसी विषय का पारगामी विद्वान भी नहीं है परन्तु उसने यदि अपने–आपको पहचान लिया है तो वह वस्तुतः विद्वान है, पण्डित है, तत्त्वदर्शी है। उसका ही कल्याण होने वाला है। शास्त्रकार ने कहा है:—

न चित्ता तायए भासा कुओ विज्जाणुसासणं।
—उत्तराध्ययन अध्याय ६

विविध भाषाओं का ज्ञान या नाना विद्याओं की पारगतता त्राणरूप नहीं है। इससे वास्तविक निस्तार और उद्धार नहीं होने वाला है। सच्चा कल्याण आत्म-ज्ञान से ही होने वाला है। आत्मा का ज्ञान ही सच्चा ज्ञान है। वास्तव में आत्म-तत्त्व ही सर्व प्रथम जानने योग्य है।

इस विराट विश्व में अनन्त पदार्थ हैं। जड़, चेतन, चर, अचर अनन्त पदार्थों से यह विश्व भरा हुआ है, ओतप्रोत है। जिस प्रकार बहुत सारे दही का मथन कर मक्खन निकाला जाता है और

बहुत से फूलों में से इत्र निकाला जाता है इसी तरह अनन्त ज्ञानी सर्वज्ञ, सर्वदर्शी महापुरुषों ने इस अनन्त विश्व के अनन्त पदार्थों का विश्लेषण कर नौ तत्त्व प्ररूपित किये हैं। तत्त्व का अर्थ होता है-सार, निचोड़। विश्व के अनन्त पदार्थों का सार इन नौ तत्त्वों में संगृहीत है इसलिए ये नौ तत्त्व कहे जाते हैं। नौ तत्त्वों के नाम इस प्रकार हैं:—

(१) जीव (२) अजीव (३) पुण्य (४) पाप (५) आस्रव (६) संवर (७) निर्जरा (८) बंध ९ -मोक्ष।

उक्त नौ तत्त्वों का मूलाधार जीव द्रव्य अर्थात् आत्म-तत्त्व है। आत्म-तत्त्व के बिना शेष तत्त्वों की स्थिति ही नहीं रहती है। इसलिए शास्त्रकारों ने जहाँ तात्त्विक दृष्टि से विचार किया है वहाँ सर्व प्रथम स्थान जीव तत्त्व को ही दिया है। उन्होंने आत्म-तत्त्व की प्रधानता का सर्वत्र निरूपण किया है। क्योंकि आत्म-तत्त्व पर ही शेष तत्त्वों की सत्ता रही हुई है। यदि आत्मा नहीं है तो-अजीव तत्त्व को जानने वाला कौन होगा? पुण्य कौन करेगा? फल किसे मिलेगा? पाप करने वाला कौन? भावों की स्फुरणा, योग, कषाय, लेश्या आदि से कर्मों का आस्रव—आय कैसे हो सकती है? कर्मों के आगमन के द्वारों को कौन बंद करेगा? कर्मों को कौन अंश रूप से दूर करेगा? कर्मों का-बंधन किसने किया? कौन उनसे छुटकारा पाने वाला है? जीव-तत्त्व की सत्ता मानने से ही शेष तत्त्वों की सत्ता प्रमाणित होती है अतएव जीव-तत्त्व अर्थात् आत्म-

न्याय-व्याकरण, छन्द, साहित्य, काव्य और विविध भाषाओं में निपुणता प्राप्त कर ली, सब भौतिक और लौकिक विज्ञान का पारगत विद्वान् हो गया, दुनिया के समस्त धर्म-ग्रन्थों को छान डाला-परन्तु यदि उसने एक—आत्मा को (अपने आपको) न जाना तो उसके ज्ञान की कीमत आध्यात्मिक क्षेत्र में कौड़ी की भी नहीं है। इसके विपरीत जिस व्यक्ति ने भाषा और व्याकरण सम्बन्धी निपुणता प्राप्त नहीं की, जिसमें वाक्चातुर्य नहीं है, जिसने अधिक ग्रन्थों का पठन-पाठन नहीं किया है, जो खास किसी विषय का पारगामी विद्वान भी नहीं है परन्तु उसने यदि अपने-आपको पहचान लिया है तो वह वस्तुतः विद्वान है, पण्डित है, तत्त्वदर्शी है। उसका ही कल्याण होने वाला है। शास्त्रकार ने कहा है:—

न चित्ता तायए भासा कुओ विज्जाणुसासणं।
—उत्तराध्ययन अध्याय ६

विविध भाषाओं का ज्ञान या नाना विद्याओं की पारगतता त्राणरूप नहीं है। इससे वास्तविक निस्तार और उद्धार नहीं होने वाला है। सच्चा कल्याण आत्म-ज्ञान से ही होने वाला है। आत्मा का ज्ञान ही सच्चा ज्ञान है। वास्तव में आत्म-तत्त्व ही सर्व प्रथम जानने योग्य है।

इस विराट विश्व में अनन्त पदार्थ हैं। जड़, चेतन, चर, अचर अनन्त पदार्थों से यह विश्व भरा हुआ है, ओतप्रोत है। जिस प्रकार बहुत सारे दही का मथन कर मक्खन निकाला जाता है और

बहुत से फूलों में से इत्र निकाला जाता है, इसी तरह अनन्त ज्ञानी सर्वज्ञ, सर्वदर्शी महापुरुषों ने इस अनन्त विश्व के अनन्त पदार्थों का विश्लेषण कर नौ तत्त्व प्ररूपित किये हैं। तत्त्व का अर्थ होता है–सार, निचोड़। विश्व के अनन्त पदार्थों का सार, इन नौ तत्त्वों में संगृहीत है इसलिए ये नौ तत्त्व कहे जाते हैं। नौ तत्त्वों के नाम इस प्रकार हैं:—

(१) जीव (२) अजीव (३) पुण्य (४) पाप (५) आस्रव (६) संवर (७) निर्जरा (८) बंध (९) मोक्ष।

तत्त्व ही सब तत्त्वों का मूलाधार है। इसीलिए यही इस चराचर विश्व का मूल सूत्रधार है। अत इस आत्म-तत्त्व को जानना परम आवश्यक है।

आचारांग सूत्र में कहा गया है —

से आयावायी लोयवायी, कम्मवायी, किरियावायी।

सर्व प्रथम आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार करना चाहिए अर्थात् आत्मा को समझना चाहिए। जो आत्मा को मानता है और जानता है वही वस्तुत लोक के अस्तित्व को मानता और जानता है। वही वस्तुत क्रियावाद को मानता है और जानता है। वही वस्तुत कर्मवाद को मानता और जानता है। आत्मा को जाने-माने बिना लोक क्रिया और कर्म की सगति ही नहीं बन सकती है। अतएव सर्व प्रथम आत्मवादी होना चाहिए। आत्मा को जानना पहचानना चाहिए।

आत्मा एक स्वतंत्र ठोस वस्तु है। वह विश्व का मूलाधार और सूत्रधार है। वह किन्हीं चीजों का संयोग रूप नहीं है अपितु उसकी स्वतंत्र निराली सत्ता है। वह नित्य है शाश्वत है ध्रुव है। आत्मा आत्मभाव से अनादिकाल से था, है और अनन्तकाल तक रहेगा। उसका कदापि अभाव नहीं हो सकता। वह अनन्त अतीत काल में था, वर्तमान काल में है और अनन्त भविष्यकाल में अपना अस्तित्व बनाये रखेगा। वह विविध पर्यायों को प्राप्त करता हुआ भी आत्मभाव से सदा बना रहेगा। 'आत्मा' शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार बताई गई है —

'अतति—सततं गच्छति विविध पर्यायानिति आत्मा' विविध पर्यायों को निरन्तर प्राप्त करता हुआ भी आत्म-भाव से सदा बना रहने वाला आत्मा है। निगोदवर्त्ती आत्मा भी आत्मा है और सिद्ध आत्मा भी आत्मा है। आत्मा, आत्मा ही रहने वाला है यही इसकी नित्यता है, ध्रुवता है और शाश्वतता है। जैन दर्शन इसी अपेक्षा से आत्मा को नित्य, ध्रुव और शाश्वत मानता है।

आत्मा के सम्बन्ध में विविध दर्शनों की विविध धारणाएँ हैं। कोई आत्मा के स्वतंत्र अस्तित्व का ही अपलाप करता है, कोई उसे एकान्त क्षणिक-अनित्य मानता है और कोई उसे कूटस्थ नित्य मानता है; कोई उसे कर्त्ता मानता है और कोई उसे केवल भोक्ता मानता है। कोई उसे सर्व व्यापक मानता है तो कोई उसे देह परिमाण मानता है तो कोई उसे अंगुष्ठ प्रमाण मानता है। इस प्रकार आत्म-तत्त्व के सम्बन्ध में दार्शनिकों की विचार-धाराएँ भिन्न २ रूप में प्रवाहित हुई हैं। उन सब धाराओं का विवेचन करना और उनकी तर्क संगत कसौटी करना यद्यपि आवश्यक है तदपि इतना समय नहीं है अतएव मोटी मोटी बातों पर ही आपका ध्यान आकर्षित करता हूँ।

चार्वाक दर्शन की विचार-धारा इस प्रकार है। वह कहता है कि पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु और आकाश ये पांच महाभूत हैं। ये भूत जब कायाकार रूप में परिणत होते हैं तब उनसे चैतन्य की उत्पत्ति होती है। जब यह भूत बिखर जाते हैं तब उस शक्ति का नाश हो जाता है। भूतों से चैतन्य की उत्पत्ति होती है। और

भूतों के विघटन से उसका नाश हो जाता है। तात्पर्य यह है कि पाच भूतों से भिन्न आत्मा नामक कोई स्वतन्त्र तत्त्व नहीं है। चैतन्य की जो उपलब्धि होती है वह आत्मा का धर्म नहीं है अपितु भूतों का धर्म है। इस प्रकार यह सारी सृष्टि पाच महाभूतों का ही विस्तार है। मानव शरीर को हम देखते है तो उसमें जो त्वचा है वह पृथ्वी रूप है; खून-वीर्य आदि जल रूप है। जठर आ द अग्नि तत्त्व है, श्वासोच्छ्वास वायु रूप है और पोलार आकाश तत्त्व है। इनसे भिन्न और किसी चीज की उसमें उपलब्धि नहीं होती। अतएव आत्मा जैसी कोई चीज नहीं है।

यह जड़वादी– पचभूतवादी नास्तिक की मान्यता है। इस पर विचार करना है। हम तो माल के ग्राहक हैं। जिस जिस दुकान पर वास्तविक सच्चा माल नहीं मिलेगा उसे छोड़कर हम आगे बढ जाएँगे और जहाँ कहीं सच्चा माल मिलेगा वहीं से हम उसे लेलेंगे। हम वैसे ही अंधे बनकर माल लेने वाले ठगे जाने वाले पूत नहीं हैं। हम तो ठोक बजाकर कसौटी पर कस कर माल लेने वाले हैं।

हाँ, तो यह देखना है कि चार्वाक की इस जड़वादी पचभूतों वाली मान्यता में कहाँ तक सचाई है। आइये, तर्क की कसौटी पर कस कर इसे देख लें कि यह खरा सोना है या पीतल ?

मानव-शरीर पचभूतों का पिण्ड है, यह बिल्कुल ठीक है। शरीर पुद्गलों की—जड की रचना है इसमें कोई सन्देह नहीं।

यहाँ तक चार्वाक की और हमारी मान्यता में कोई खास भेद नहीं है। इससे जब हम आगे बढ़ते हैं और चैतन्य पर विचार करते हैं तो चार्वाक की हमारी धारणाएँ बिल्कुल विपरीत दिशा में चलती हैं। चार्वाक कहता है कि चैतन्य पंचभूतों का धर्म है और जैन दर्शन-आस्तिक दर्शन कहता है कि यह चैतन्य आत्मा का धर्म है। यही विवाद का विषय है और इस पर ही हम यहाँ विचार करते हैं।

यह एक सर्वमान्य सिद्धान्त है कि जैसे कारण होते है वैसा ही कार्य होता है। कारणों के अनुकूल कार्य होता है। मिट्टीरूप अनुकूल कारण से ही घटरूप कार्य की उत्पत्ति हो सकती है। मिट्टी से घट बन सकता है पट नहीं। आटे से रोटी बन सकती है वस्त्रादि नहीं बन सकते। जैसा कारण होता है वैसा ही कार्य होता है। यह माना हुआ सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त के अनुसार चैतन्य जड़ भूतों का कार्य सिद्ध नहीं हो सकता है। क्योंकि चैतन्यरूप कार्य की उत्पत्ति के कारण पचभूत जड़ हैं। जड़ कारणों से चैतन्य रूप कार्य की उत्पत्ति कदापि सम्भव नहीं है।

पांच भूत जड़ हैं। ये ज्ञान से, प्राण से, नेकी-बदी की पहचान से रहित हैं। इनमें पृथक् पृथक् चैतन्य नहीं है इसलिए इनके मिल जाने पर भी इनसे चैतन्य की उत्पत्ति नहीं हो सकता है। रेत के एक एक कण में तेल नहीं है चाहे जितने रेत के कण इकट्ठे कर लीजिए उनसे तेल नहीं निकल सकता। इसी तरह पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु और आकाश में अलग २ चैतन्य धर्म नहीं है तो इनके समुदाय से चैतन्य की उत्पत्ति कैसे मानी जा सकती है?

कहा जा सकता है कि मदिरा जिन चीजों से तय्यार होती है उनमें प्रथक् २ मादक शक्ति नहीं होती परन्तु जब उन सब पदार्थों का सयोग होता है तब उनमें मादक शक्ति उत्पन्न होती है इसी तरह पच भूतो में अलग २ चैतन्य नहीं है परन्तु जब वे शरीररूप म इकट्ठे होते हैं तब उनसे चैतन्य पैदा हो जाता है।

उक्त कथन ठीक नहीं है। जिन जिन चीजों के सयोग से मदिरा बनती है उनमें अवश्य ही प्रथक् २ मद-शक्ति के अश रहे हुए है। यदि उनमें प्रथक् २ मद-शक्ति नहीं हो तो वह समुदित अवस्था में भी नहीं आ सकती है। अतएव मदिरा के अवयवों में मद-शक्ति नहीं है यह कथन युक्तियुक्त नहीं है।

हाँ, तो यह सिद्ध हुआ कि जड भूतो से चैतन्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती। यदि भूतों से चैतन्य उत्पन्न हो सकता होता तो मृत-शरीर में भी चैतन्य पाया जाना चाहिए। मृत शरीर में भी पृथ्वी, पानी आदि पाचो भूतों की सत्ता पाई जाती है। वहाँ भूतो के होने पर भी चैतन्य नहीं पाया जाता है इससे भी यह सिद्ध होता है कि चैतन्य भूतो का धर्म नहीं है अपितु किसी अदृष्ट आत्म-तत्त्व का धर्म है जो मृत-शरीर में नहीं पाया जाता।

कतिपय मोटी बुद्धि वाले कहते हैं कि-जड से चेतन पैदा होता हुआ देखा जाता है। देखिये, काष्ठ जड है परन्तु उसमें घुन पैदा हो जाते हैं। श्लेष्मादि मल में जीव पैदा हो जाते हैं। गोबर से बिच्छू आदि जन्तु पैदा हो जाते हैं।

इसका उत्तर यह है कि उक्त उदाहरणों में भी जड़ से जड़ की ही उत्पत्ति होती है, चेतन की—आत्मा की नहीं। काष्ठादि से घुन का शरीर पैदा हुआ न कि घुन की आत्मा। गोबर से आत्मा नहीं बना। बिच्छू आदि जीवों का शरीर बना है। मकान और चीज़ है और मकान वाला और है। मकानवाला मकान नहीं है और मकान मकानवाला नहीं है। मकान जड़ है और मकान वाला चेतन है। गोबर और काष्ठादि में उत्पन्न होनेवाले आत्मा ने अपने मकान बनाने का मसाला उनसे लिया है। मकान से पहले मकान वाले का अस्तित्व है। मकान वाला नहीं है तो मकान का मसाला कौन जुटाएगा ?

भद्रपुरुषों ! बहुत से लोगों की यह भी धारणा है कि पहले शरीर बनता है और फिर तीन महीने बाद जीव आता है। कैसी अजीब और गलत धारणा है यह ! मकान बनाने वाला राज-मजदूर बाद में आए और उससे बनने वाला मकान पहले ही तय्यार हो जाय ! यह अजीबसी बात है ! यह धारणा तो मदारी के कल्पित रुपयों के समान है ! मदारी के रुपयों से दुकान का भुगतान नहीं हो सकता। शरीर, आहार से बनता है। आहार ग्रहण करने के बाद शरीर बनता है इसको प्रत्येक बुद्धिमान् व्यक्ति स्वीकार करेगा। यदि जीव-आत्मा नहीं है तो शरीर-रचना के हेतु आहार कौन ग्रहण करेगा ? आहार के बिना शरीर नहीं बनेगा। अतः जीव कार्मण शरीर द्वारा आहार ग्रहण करता है और उस आहार से स्थूल शरीर का निर्माण होता है। जैसे रेडियो शब्द के पुद्गलों

को ग्रहण करता है उसी तरह कार्मण शरीर आहार के पुद्गलों को ग्रहण करता है और उनसे स्थूल शरीर की रचना करता है। अतएव 'पहले शरीर बनता है बाद में जीव आता है' यह धारणा सर्वथा मिथ्या है।

हाँ, तो यह भलीभांति सिद्ध हो चुका है कि जड़भूतों से चैतन्य की उत्पत्ति संभव नहीं है। चैतन्य की उपलब्धि सर्वसाधारण को प्रत्यक्ष ही है। यह चैतन्य जिसका धर्म है वही आत्मा है यह सप्रमाण सिद्ध हो जाता है।

सज्जनों! चार्वाक की इस अनात्मवादी भौतिकता ने मानव को मानवता से बहुत नीचे गिराया है। इस विचार-सरणी का अनुसरण करने से मानव हृदय-हीन एवं प्रायः पाषाणवत् बन गया है। वह स्वार्थान्ध होकर विश्व-शान्ति के लिए सुरंग जैसा भयानक हो गया है। इस प्रकार की विचार-धारा से प्रभावित होने वाले व्यक्ति के सामने खान-पान, ऐश-आराम और अपनी सुख-सुविधा के *सिवाय और कोई उच्च आदर्श ही नहीं होता।* खाना-पीना व ऐश-आराम करना ही उनके जीवन का मुख्य सूत्र होता है। जैसा कि वे कहते हैं.—

पिब खाद च चारुलोचने, यदतीत वरगात्रि तन्न ते।
न गत प्रतिनिवर्त्तते, समुदयमात्रमिदं कलेवरम्॥

"हे सुन्दर नेत्रवाली! हे अनुपम सुन्दरि! खूब खाओ पीओ। जो समय जो अवसर निकल जाता है वह फिर लौट कर नहीं आता।

यह शरीर भूतों का समुदाय मात्र है। आत्मा-परमात्मा पुण्य-पाप स्वर्ग-नरक आदि कुछ नहीं है। अतएव स्वेच्छापूर्वक खाओ-पीओ मौज-मजा लूटो।" ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत् "के सिद्धान्त पर चलो।" यह है नास्तिक की विचार-धारा!

कहिये, इस विचार-धारा से संसार का क्या हित हो सकता है? दुनिया इस मार्ग पर चल कर क्या सुख-शान्ति पा सकती है? यह घोर अशान्ति को जन्म देनेवाली विचार धारा है अतएव इसका परित्याग करना चाहिए। यह भयंकर जड़वाद हलाहल विष है इसे पीकर दुनिया कभी जीवित नहीं रह सकती, चैन की सांस नहीं ले सकती। जड़ तुल्य बना देने वाले जड़वाद से बचिये और चैतन्य के वास्तविक उपासक बनिये। यह अध्यात्मवाद ही वह संजीवनी है जो मृत्यु और विनाश की ओर लपकती हुई दुनिया को नवजीवन प्रदान कर सकती है।

आत्मषष्ठवादी यह स्वीकार करता है कि जड़भूतों से चैतन्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती है। चैतन्य किसी चेतन तत्त्व का ही गुण है। इस प्रकार वह आत्मा के अस्तित्व को तो स्वीकार करता है। वह कहता है कि पांचभूत तो रेल के डिब्बे के समान हैं। रेल के डिब्बे इंजिन के बिना स्वयं नहीं चल सकते। रेल के डिब्बों को इधर-उधर चलाने-फिराने के लिए इंजिन की जरूरत रहती है। इसी तरह पचभूतमय जड़शरीर स्वयं कोई क्रिया नहीं कर सकता। उससे काम कराने वाला कोई दूसरा आत्म-तत्त्व अवश्य है। इस तरह आत्म-षष्ठवादी आत्मा को पांच भूतों से अलग स्वीकार करता

है। यहाँ तक तो यह ठीक दशा में चला परन्तु आगे चलकर यह भी लड़खड़ा गया। इसने यह मान लिया कि पाच भूतों के नष्ट होते ही आत्मा भी नष्ट हो जाता है। जैसे बोरी और चीज है और उसमें भरा हुआ अनाज आदि और चीज है तदपि जब बोरी आग में जल जाती है तो उसमें भरा हुआ अनाज भी जल जाता है। इसी तरह पाच भूतों से आत्मा पृथक् होते हुए भी भूतों के विघटन के साथ ही आत्मा का विघटन भी हो जाता है।

आत्मषष्ठवादी की यह मान्यता सर्वथा भ्रान्त है! यदि चैतन्य भूतों का धर्म होता तो अवश्य भूतों के विघटन से चैतन्य का भी विघटन होता। परन्तु यह सिद्ध हो चुका है कि चैतन्य भूतों का धर्म नहीं है फिर भूतों के विघटन से—शरीर के नाश से चैतन्य का नाश कैसे माना जा सकता है? आत्म-द्रव्य आकाश की तरह अमूर्त्त है। जैसे आकाश का नाश नहीं होता उसी तरह आत्म-द्रव्य का कदापि विनाश नहीं होता। आत्मा अच्छेद्य है, अभेद्य है अनन्त है, नित्य है और शाश्वत है।

बौद्ध दर्शन ज्ञान-क्षण परम्परा को ही आत्मा के रूप में स्वीकार करता है। उसके मत में कोई भी पदार्थ एक क्षण से अधिक काल तक नहीं ठहरता। दूसरे ही क्षण वह पदार्थ निरन्वय हो जाता है। जैसे दीपक की लौ प्रतिक्षण नवीन नवीन उत्पन्न होती रहती है इसी तरह पदार्थ क्षण-क्षण में नष्ट होता रहता है और नवीन नवीन उत्पन्न होता रहता है। हमें जो वह का वही पदार्थ

प्रतीत होता है। यह अनादिकालीन वासना के कारण प्रतीत होता है। जैसे दीपक की लौ उत्पन्न होती है और नष्ट होती है और फिर नवीन उत्पन्न होती रहती है तदपि यह प्रतीत होता है कि यह वही दीप-शिखा है। जैसे 'यह वही दीप शिखा है" यह ज्ञान भ्रान्त है उसी तरह क्षण क्षण नष्ट होने वाले और उत्पन्न होने वाले पदार्थ में "यह वही पदार्थ है" ऐसा जो ज्ञान होता है वह भ्रान्त है। वस्तुतः प्रत्येक पदार्थ प्रत्येक क्षण में अपने तुल्य नवीन पदार्थ को उत्पन्न कर नष्ट हो जाता है। अर्थात् प्रत्येक पदार्थ क्षण-भंगुर है। ज्ञान-क्षणों की परम्परा है वही आत्मा है। इन ज्ञान-क्षणों से अतिरिक्त कोई स्थिर रहने वाला आत्म-द्रव्य नहीं है। यह बौद्ध दर्शन का मन्तव्य है।

वैसे तो जैनदर्शन भी पर्याय की अपेक्षा से प्रत्येक पदार्थ को परिवर्तनशील मानता है परन्तु वह यह भी मानता है कि उन बदलती हुई पर्यायों में अनुगत रूप से रहने वाला एक अखण्ड द्रव्य भी है जो सदा बना रहता है। जैनदर्शन जहाँ पर्याय की अपेक्षा से प्रत्येक पदार्थ को प्रतिक्षण परिवर्त्तनशील मानता है वहाँ द्रव्य की अपेक्षा वह प्रत्येक पदार्थ को नित्य भी स्वीकार करता है।

जिस प्रकार अलग २ प्रतीत होने वाली हार की मणियों में डोरा समान रूप से रहा हुआ है उसी तरह अलग २ पर्यायों में द्रव्य अनुगत रूप से रहा हुआ है। बौद्ध दर्शन इस अनुगत रूप से रहने वाले द्रव्य को स्वीकार नहीं करता है। इसे यों भी कह

सकते है कि यह हार की मणियों को ही मानता है उनमें रहे हुए डोरे को स्वीकार नहीं करता। यह ज्ञान-क्षणों को ही मानता है उनमें रहे हुए आत्म-तत्त्व को नहीं मानता। जैनदर्शन द्वारा मान्य क्षणिकवाद और बौद्धदर्शन के क्षणिकवाद में यह बड़ा भारी अन्तर रहा हुआ है।

अब जरा बौद्ध-दर्शन के ज्ञान-प्रवाह सिद्धान्त पर विचार करें। कसौटी पर कसने से यदि वह खरा उतरे तो उसे मानने में कोई आपत्ति नहीं। हम सचाई के ग्राहक है। दाम पूरे देने हैं और माल सच्चा लेना है। हमें सचाई का आग्रह है फिर चाहे वह कहीं भी हो। जिस किसी दुकान पर अच्छा और सच्चा माल है हमें वह ग्रहण करना है। अच्छी चीज जिस किसी के यहाँ भी हो उसे ग्रहण करना हा च हिए। जैनदर्शन की दृष्टि और सृष्टि बड़ी उदार है। वह सब जगह से अच्छाई लेता है। उसका सप्तनय और सप्तभगी का सिद्धान्त इसी उदारता का परिचायक है।

जिस प्रकार आपको सब चीजे एक दुकान पर नहीं मिलती है तो आप जो चीज जहाँ अच्छी मिलती है वह वहाँ से ले लेते हैं। आपको एक ही दुकान का आग्रह नहीं होता है। इसी तरह जैन दर्शन भी अपने नयवाद और स्याद्वाद के सिद्धान्त के आधार पर अन्य दर्शनों में जो जो सचाई और अच्छाई है उसे अपना लेता है। यह उदारता जहाँ नहीं है वहाँ विकास नहीं है।

हाँ, तो हमें यह देखना है कि बौद्ध दर्शन का यह एकान्त क्षणिकवाद कहाँ तक संगत है ? इसमें क्या दोष हैं ?

एकान्त क्षणिकवाद के मूल में ही भूल है। इस एकान्त क्षणिकवाद को स्वीकार करने पर न तो पारलौकिक व्यवस्था ही बनती है और न लौकिक व्यवहार ही बन पाता है। आप सोचिये कि आस्तिक जगत् में बन्ध-मोक्ष, स्वर्ग-नरक, पाप-पुण्य, आत्मा-महात्मा-परमात्मा आदि का कितना अधिक महत्त्व है। इस व्यवस्था के आधार पर ही तो समस्त आस्तिक दर्शन और सिद्धान्त टिके हुए हैं। यदि यह एकान्त क्षणिकवाद मान लिया जाता है तो यह बन्ध और मोक्ष, क्रिया और क्रिया के फल की महत्त्वपूर्ण व्यवस्था ही नहीं बन सकती है। यह सारी व्यवस्था अस्त-व्यस्त हो जाती है। क्योंकि क्रिया का करने वाला कर्त्ता क्रिया करके प्रथम क्षण में ही नष्ट हो जाता है तो उस क्रिया का फल किसे मिलेगा ? क्रिया करने वाला तो नष्ट हो गया और दूसरे क्षण जो उत्पन्न हुआ है उसने वह क्रिया ही नहीं की है तो उसे उसका फल कैसे मिलेगा ? इस तरह क्रिया के फल का ही नाश हो जायगा। जिस व्यक्ति ने क्रिया की है उसे तो उसका फल नहीं मिला और जिसने क्रिया नहीं की उसे उसका फल मिला इस तरह कृत–प्रणाश और अकृत–कर्मभोग दोषों की प्राप्ति होती है। भला यह कैसी व्यवस्था !

> चले कोई और, और मंजिल पहुँचे कोई और !
> चोरी कोई और करे और पकड़ा जाय कोई और !
> करे कोई और भरे कोई !

जप-तप कोई और करे और उसका फल कोई और पावे !
निर्वाण के लिए प्रयत्न कोई करे और मुक्त कोई हो जाय !

यह तो भयकर अधेरगिर्दी है !

तात्पर्य यह है कि एकान्त क्षणिकवाद मे पाप-पुण्य, स्वर्ग-नरक बन्ध मोक्ष आदि की पारलौकिक व्यवस्था नहीं बन सकती है। इसी तरह लौकिक व्यवस्था भी एकान्त क्षणिकवाद में घटित ही नहीं होती।

लौकिक व्यवहार लेन-देन पर मुख्यतया अवलम्बित है। कोई व्यक्ति किसी दूसरे व्यक्ति से कुछ रुपये उधार लेता है। जब वह व्यक्ति अपने दिये हुए रुपये मागता है तो वह कर्जदार कहता है कि भाई, जिसने रुपये दिये थे वह तो उसी क्षण नष्ट हो गया, तुम तो दूसरे हो। तुमने रुपया कहाँ दिये थे जो माग रहे हो ? तथा जिसने रुपये लिये थे वह भी उसी क्षण नष्ट हो गया, मैं तो दूसरा हूँ। इस तरह लेन-देन की व्यवस्था भी सुव्यवस्थित रूप से हो ही नहीं सकती।

तात्पर्य यह है कि लौकिक और पारलौकिक व्यवस्था बराबर सघटित न हो सकने के कारण एकान्त क्षणिकवाद वास्तविक और यथार्थ नहीं है। समस्त आध्यात्मिक जगत् का दारमदार ही इस पारलौकिक व्यवस्था पर है और जब यह व्यवस्था ही घटित नहीं होती तो यह सिद्धान्त क्या काम का ? अत बौद्ध दर्शन का क्षणिक वाद भी युक्तियुक्त नहीं है।

इसी तरह जो दर्शन आत्मा को कूटस्थ नित्य मानते हैं उनके मत में भी बन्ध-मोक्ष की पारलौकिक व्यवस्था घटित नहीं होती है। ऐसा मानने पर तो जो बँधा हुआ है वह सदा बँधा ही रहेगा तो मोक्ष के लिए प्रयत्न करना निष्फल हो जावेगा। और जप-तप आदि के अभाव का भी प्रसंग आजावेगा। अतएव आत्मा न तो एकान्त अनित्य है और न एकान्त नित्य ही है। वह द्रव्य की अपेक्षा नित्य है और पर्याय की अपेक्षा अनित्य है। यह स्याद्वादमयी विचारधारा ही युक्तिसंगत है और इसको मानने से ही समस्त लौकिक पारलौकिक व्यवस्था की संगति होती है।

आत्मा का विषय बहुत गहन है और इसकी बहुत विस्तृत चर्चाएँ हैं। उन सबका उल्लेख अभी नहीं किया जा सकता है। विवादमयी दार्शनिक चर्चाओं को अलग रख कर आत्म-तत्त्व के वास्तविक मर्म को छूने का प्रयास करना चाहिए। जिनेन्द्रदेव ने बहुत ही थोड़े शब्दों में आत्मार्थियों के लिए आत्मा का वास्तविक रूप—आत्म-तत्त्व का गूढतम हार्द (आशय) इस गाथा में खोल कर रख दिया है:—

एगो मे सासओ अप्पा नाणदंसणसंजुओ।
सेसा मे बाहिरा भावा सव्वे संजोगलक्खणा॥

यह गाथा क्या है, सकल अध्यात्म शास्त्र का निचोड़ है! अध्यात्म का महासागर सिमटकर इस गाथारूप गागर में समा जाता है! इसमें आत्मतत्त्व का यथातथ्य निरूपण है! इसमें कहा गया है कि:—

ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग आत्मा का स्वरूप है। आत्मा अपने इस स्वरूप से शाश्वत है। यह शाश्वत आत्मा ही मेरी वास्तविक निधि है। शेष धन-दौलत, कुटुम्ब-परिवार, साज-सामान आदि मुझ से भिन्न हैं। इनके साथ मेरा कोई वास्तविक नाता नहीं है। केवल संयोग के कारण ही मेरा इनका नाता है। वस्तुतः मैं कुछ और हूँ और ये कुछ और हैं।

इस गाथा में अन्यत्व भावना और एकत्व भावना का बड़ा सुन्दर निरूपण है। इस गाथा के तत्त्व को जिसने हृदयंगम कर लिया उसने आत्म-तत्त्व को पा लिया—वह कृतकृत्य हो गया, वह निहाल हो गया, वह सिद्ध-बुद्ध और निरंजन हो गया-वह आत्मा परमात्मा बन गया। इस प्रकार की अन्यत्व-भावना मृगापुत्र ने भाई और वे मुक्त हो गये। इस प्रकार की एकत्व-भावना नमिराज ने भाई और इससे वे सिद्ध-बुद्ध हो गये। बस, यही तो अध्यात्म का सार है, इससे ही बेड़ा पार है, इससे ही सच्चा निस्तार होनेवाला है।

अतएव आत्मार्थी पुरुष दृढ श्रद्धा के साथ अपने अन्तःकरण को इस भावना से भावित करता रहे कि—"मैं अकेला आया हूँ और अकेला जाऊँगा। कुटुम्ब-परिवार मित्र बान्धव आदि के साथ मेरा औपचारिक सम्बन्ध है। सब अलग २ जगह के मुसाफिर हैं। इनका मेरा थोड़े समय का संयोग-मात्र हो गया है।" कहा है.—

एकलो आयो ने एकलो जासो,
क्या करे इतना उदासी।

कुटुम्ब मिल्यो तरु खग निशवासी,
प्रभाते उठ जासी रे जीव ॥

❀ ❀ ❀ ❀

कुण रा छोरा ने कुण रा वाछरूँ,
कुण रा माय ने पाप ।
जीवड़ा जासी एक लो,
जासी पुण्य ने पाप ॥

भूलो मन-भमरा कई भमियो, भमियो दिवस ने रात ।
माया रो लोभी प्राणियों मर ने दुर्गति जात ॥

❀ ❀ ❀ ❀

और भी नमूने लीजिए: —

ना घर तेरा ना घर मेरा चिड़िया रैन वसेरा ।
तू एकला आया, किसको समझता मेरा ॥
अकेला ही जायगा तू जब कूंच होगा डेरा ।
ककण का शोर सुनकर नमि ने विचारा ऐसा ॥
न मैं किसी का कोई यहाँ पर नहीं है मेरा ।
तू एकला ही आया किसको समझता मेरा ॥
वृक्षों पर बैठ पक्षी रजनी गुजारते हैं ।
विछड़ेंगे सब ही साथी जब होयगा सवेरा ॥
तू एकला ही आया किसको समझता मेरा ।

जिस प्रकार सन्ध्या होने पर नाना दिशा-विदिशाओं से पक्षी गण आकर वृक्ष पर एकत्रित हो जाते हैं और रात्रि व्यतीत करते हैं। प्रात काल होते ही सब न्यारी न्यारी दिशा मे उड़ जाते हैं। इसी तरह सयोगवश कुटुम्ब परिवार के साथ थोड़े काल के लिए नाता जुड़ जाता है वास्तव म तो सब आत्माएँ अलग २ हैं और अपने २ कर्म-फल का अनुभव करते हैं। किसी का भी किसी के साथ शाश्वत सम्बन्ध नहीं है। सबकी दिशा अलग २ है। इस थोडे काल के औपचारिक सम्बन्ध म आत्माओं को अनात्मभाव में आसक्त नहीं होना चाहिए। उन्हे अपने एकाकी स्वरूप को नहीं विसराना चाहिए। स्थिति पकते ही सबके सब बिछुड़न वाले हैं। प्रात काल होने पर जैसे पक्षी अलग २ दिशा में उड़ जाते है वैसे ही कुटुम्बीजन अपनी २ अवधि (आयु) पूरी होने पर बिछड़ जाते हैं। जहाँ सयोग है वहाँ वियोग अवश्यभावी है। अतएव विवेक-सम्पन्न आत्माओं को सयोग म आसक्त भावना नहीं रखनी चाहिए। जिन विवेक-सम्पन्न आत्माओं ने आत्मा के वास्तविक एकाकी स्वरूप को हृदयगम कर लिया होता है व सयोग और वियोग के दु ख से उत्तीर्ण हो जाते हैं। वे सयोग-वियोगरूप महासागर से पार हो जाते हैं। अतएव सज्जनो ! आत्मा के एकाकी स्वरूप की भाकी का अवलोकन करो।

नमिराय दाह-ज्वर से पीडित है। रानियाँ उनके शरीर पर लेप करने के लिए चन्दन घिस रही हैं। चन्दन घिसते २ उनके हाथ में पहनी हुई चूडियों से पैदा होने वाली आवाज भी नमिराय

को असह्य वेदना में वृद्धि करने वाली प्रतीत हुई। वह चूड़ियों की झनझनाहट उनसे सहन न हुई। उन्होंने अपनी इस वेदना को व्यक्त किया। फलस्वरूप रानियों ने अपने २ हाथ में सौभाग्य-सूचक एक एक चूड़ी रख कर शेष चूड़ियां उतार डालीं। एक-एक रह जाने से आवाज बंद हो गई। बस, इस छोटी-सी साधारण घटना ने नमिराय के जीवन में असाधारण परिवर्तन ला दिया! नमिराय कुछ के कुछ बन गये!

जब रानियों ने एक-एक चूड़ी रखकर शेष चूड़ियां उतार डालीं और फल स्वरूप आवाज बंद हो गई तो नमिराय ने विचारा—जहाँ तक चूड़ियाँ अनेक थीं वहीं तक कोलाहल और अशान्ति थी। अनेकता में - संयोग में अशान्ति रही हुई है। जब चूड़ी अकेली रह गई तो सारा कोलाहल शान्त हो गया। एकाकीपन में ही शान्ति है। मेरे आस-पास तो संयोगों का जाल बिछा हुआ है। बस, यह संयोग-जाल ही मेरे दुःख का कारण है। यह दाह-ज्वर उतना अशान्तिकारक नहीं है जितना यह धन जन का सयोग अशान्ति का कारण है। बस, मुझे मेरे रोग की सफल दवा प्राप्त हो चुकी। अब मुझे अन्य किसी दवा की आवश्यकता नहीं। मुझे वह अलौकिक औषधि मिल गई जिससे एक जन्म का रोग ही नहीं भव-भव का रोग मिट जाता है। नमिराय शुद्ध भावना के आकाश में स्वतंत्रतापूर्वक उड़ने लगे। विशुद्ध भावना के कारण उनका भौतिक दाह-ज्वर ही नहीं भव-भव का दाह-ज्वर शान्त हो गया। भावना का वेग क्या नहीं कर सकता! कहा है:—

"भावना भव-नाशिनी"

बन्धुओ ! साधारण-सी चूड़ियों की घटना का निमित्त पाकर नमिराय ने अपने भव-भव के रोग को दूर कर दिया। तन-धन और जन के संयोग को दुख का कारण जानकर तत्काल उससे अपने आपको मुक्त कर लिया। बात यह है कि जिनका उपादान शुद्ध होता है वे जरासा भी बाह्य निमित्त पाकर प्रबुद्ध हो जाते हैं।

"जाकी भव तिथि पक गई तिनको यह उपदेश"

कहाँ तो नमिराय की प्रबुद्ध आत्मा जो चूड़ियों का नगण्य निमित्त पाकर शुद्ध-बुद्ध हो गई और कहा हमारी आत्मा जो मुह के सफेद (दांत) चल जाने पर, काल (बाल) के सफेद हो जाने पर राजा-प्रजा क बदल जाने पर भी टस से मस नहीं होती-जहाँ की तहाँ चिपकी रहती है !

याद रखिये बन्धुओं ! यह तन-धन-जन में जो आप अपनापन मान रहे हैं यही सकल दु खों की जड़ है। अनात्मभाव में रमण करने से ही आप बेचैन हो रहे है, परेशान और हैरान हो रहे हैं। सुख पाने के लिए आप तड़फड़ा रहे हैं परन्तु सुख की झांकी तो दूर रही आप निशप दु खी हो रह हैं। इसका एकमात्र कारण यही है कि आप सुख क पिण्डरूप आत्मभाव को छोड़ कर दु खरूप अनात्मभाव में—धन म, कुटुम्ब-परिवार में, शरीर में, साज में, सामान में—आनन्द मान रहे हैं। जिस दिन आप अपनी यह भ्रान्ति छोड़ देंगे उस दिन नमिराय की तरह आप भी

सब आधि-व्याधि और उपाधि से मुक्त होकर शुद्ध-बुद्ध और आनन्द-कन्द बन जाएँगे।

जिनेन्द्रदेव ने अध्यात्म के सार रूप में जो प्ररूपित किया है वह इस प्रकार है—

एगो मे सासओ अप्पा नाणदंसण संजुओ।
सेसा बाहिराभावा सव्वे संजोग लक्खणा॥

"मेरी आत्मा ही मेरी अक्षय-निधि है शेष सब तन-धन-जन मुझ से भिन्न हैं। मैं और हूँ और ये और हैं।" इस प्रकार जब आपको आत्मभाव और अनात्मभाव का भेद ज्ञान हो जायगा और आप मेरू की तरह अडोल श्रद्धा रखते हुए आत्मभाव की ओर बढ़ते रहेंगे तो आप अनन्त आनन्द के अधिकारी हो सकेंगे।

११-१०-५२ } ॥ इति ॥

मानव-धर्म

* मंगलाचरण *

अर्हन्तो भगवन्त इन्द्रमहिताः, सिद्धाश्च सिद्धिस्थिता ।
आचार्या जिनशासनोन्नतिकराः, पूज्या उपाध्यायकाः ॥
श्रीसिद्धान्तसुपाठका—मुनिवरा, रत्नत्रयाराधकाः ।
पञ्चैते परमेष्ठिनः प्रतिदिनं, कुर्वन्तु वो मङ्गलम् ॥

भद्रपुरुषों ! तथा देवियों ! आज मुझे 'मानवधर्म' विषय पर प्रकाश डालने की प्रेरणा की गई है। वास्तव में यह विषय अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और उपयोगी है। मानव की आकृति पा करके भी जिसमें मानवधर्म का अभाव है, वह सच्चा मनुष्य नहीं कहा जा सकता। मानवधर्म के उच्चतर और स्पृहणीय आदर्श ही मनुष्य की आकृति में मानवता की प्रतिष्ठा करते हैं। संक्षेप में कहा जाय तो यही कहा जा सकता है कि मानवधर्म की बदौलत ही मनुष्य की महिमा है। मानवधर्म ने ही मानव को इतर जीवधारियों की अपेक्षा महत्त्वशाली बनाया है। अतएव यह आवश्यक ही है कि मानव सच्ची मानवता को प्राप्त करने के लिए मानवीय धर्म को समझने का प्रयत्न करे, और उसे अपने व्यवहार में लावे।

इस विशाल विश्व में असंख्य प्राणी हैं। कोई छोटे हैं, कोई बड़े हैं। कोई समस्त इन्द्रियों से सम्पन्न हैं, कोई विकलेन्द्रिय हैं। किसी में मनन-चिन्तन करने की विशिष्ट योग्यता है, किसी में नहीं है। कोई ज्ञानी है तो कोई अज्ञानी है। इन विविध-प्रकार के प्राणियों की ओर जरा ध्यान दीजिए और जिनकी हरकतों को आप देख सकते हैं, उन्हें देखिए। आपको पता चलेगा कि चींटी से लेकर कुंजर तक और मधुमक्खी से लगा कर मनुष्य तक—सभी प्राणियों की चेष्टाएँ सिर्फ एक ही उद्देश्य से प्रेरित हैं। सब एक ही लक्ष्य और एक ही ध्येय से नाना प्रकार की प्रवृत्तियाँ कर रहे हैं। वह ध्येय क्या है ? सुख की प्राप्ति ! सभी सुख चाहते हैं, सभी दुःख से बचना चाहते हैं। लेकिन हम देखते हैं कि घोर पुरुषार्थ करने पर भी सबको सुख की प्राप्ति नहीं हो रही है। इसके मूल और प्रधान कारण पर विचार करने से प्रतीत होगा कि सुख की प्राप्ति का कारण उन्हें ज्ञात ही नहीं है। सुख का कारण धर्म है। धर्म का पालन करने से ही सुख की प्राप्ति हो सकती है।

वस्तुतः धर्म ही इहलोक और परलोक सम्बन्धी समस्त सुखों का मूल स्रोत है। कुछ लोगों ने यह धारणा बना रक्खी है कि इस वर्त्तमान जीवन के साथ धर्म के फल का कोई सरोकार नहीं है; किन्तु यह धारणा भ्रमपूर्ण है। धर्म का फल परलोक के लिए 'रिजर्व' नहीं होता ! जिस मनुष्य के व्यवहार धर्म से ओतप्रोत हो जाते हैं, जिसकी जिंदगी की हरेक हरकत में सहज रूप से धर्म का समावेश रहता है, उसका इह-जीवन भी अत्यन्त सुखमय और शान्तिमय बन जाता है।

जीवन को सुखमय बनाने के लिए सम्राट के सिंहासन की आवश्यकता नहीं है विपुल वैभव भी अपेक्षित नहीं है, गगनचुम्बी महल भी अनिवार्य नहीं हैं और विलास की सामग्री भी आवश्यक नहीं है। सुखी जीवन के लिए चाहिए निस्पृहता, निराकुलता, शान्ति, सन्तोष और लघुता। इनके अभाव में उत्तम से उत्तम सामग्री भी सुख नहीं दे सकती और इनके सद्भाव में अकिंचन मनुष्य भी उत्तम सुख का भागी हो सकता है। इस दृष्टिकोण से विचार करने पर स्पष्ट हो जाता है कि वही मनुष्य सुख की प्राप्ति कर सकता है जो धर्म का पालन करता है।

मानवधर्म या किसी अन्य प्राणी का धर्म-यह सब धर्म के विशेष रूप हैं। इन विशेष रूपों को भली भाँति समझने से पहले हमें सामान्य धर्म को समझना चाहिए-उसका विश्लेषण करना चाहिए। धर्म को समझ लेने के पश्चात् ही मानवधर्म को ठीक तरह समझा जा सकता है।

'धर्म' शब्द 'धृ' धातु से बना है, जिसका अर्थ है धारण करना। जो दुःख और विपत्ति के गड्ढे में गिरते हुए प्राणियों को धारण करता है, सँभालता और बचाता है, और उत्तम स्थान में धारण करता है, वह धर्म है।

संसारदुःखतः सत्त्वान् यो धरत्युत्तमे सुखे।

अर्थात् -संसार के दुःखों से बचा कर जो प्राणियों को निरापद् स्थान पर पहुँचाता है, वही धर्म कहलाता है।

किसी वृक्ष को देख कर हमारे मन में अनायास ही विचार आता है कि आखिर यह किस आधार पर टिका है ? वह कौन है जो इसे सैकड़ों वर्षों से धारण किये है—सँभाले है ? यह विचार मन में आते ही हमारा ध्यान स्वभावतः उस वृक्ष के मूल की ओर जाता है। मूल से ही तना, शाखाएँ, प्रशाखाएँ, पत्ते, फल-फूल आदि पैदा होते हैं।

मूल और जड़ भी दो विभिन्न पदार्थ हैं। मूल ज़मीन के भीतर सीधा गया हुआ होता है और वास्तव में वही वृक्ष का आधार होता है। जड़ें मूल में से निकलती हैं और ज़मीन में टेढी-तिर्छी फैल कर मूल को सुदृढ़ बनाए रखती हैं। मूल से तना ज़मीन के ऊपर उठता है और फिर उसमें से बड़ी टहनियाँ, बड़ी टहनियों में से छोटी-छोटी डालियाँ निकलती हैं। डालियों के बाद पत्ते, फिर फूल, फल उत्पन्न होते हैं। तत्पश्चात् फलों में रस की उत्पत्ति होती है। मगर वृक्ष के इस विशाल परिवार का असली आधार तो मूल ही है। कदाचित् वृक्ष के मूल का उच्छेद हो जाता है तो पूरा का पूरा वृक्ष धराशायी हो जाता है। शाखा, प्रशाखा, फल फूल या पत्ता काटने या तोड़ने पर भी वृक्ष खड़ा रह सकता है; लेकिन मूल के कट जाने पर किसी भी हालत में वृक्ष खड़ा नहीं रह सकता। अतएव यदि आप किसी वृक्ष के मधुर फल प्राप्त करने की आशा रखते हैं तो आपको उसके मूल की सुरक्षा करनी होगी।

हाँ, तो धर्म भी एक प्रकार का वृक्ष है। वह वृक्ष ही नहीं, कल्प-वृक्ष है; बल्कि कल्पवृक्ष से भी बढ़कर है। अन्य वृक्ष तो ऋतु

आने पर ही फल देते हैं किन्तु धर्म-वृक्ष सदैव फलता फूलता रहता है। अन्य वृक्षों के फल परिमित होते हैं, धर्मवृक्ष अपरिमित फल का दाता है। उसके फल काल से भी अपरिमित हैं और परिमाण के लिहाज़ से भी अपरिमित हैं। अन्य वृक्षों के फल किसी की प्रकृति के प्रतिकूल भी हो सकते हैं, मगर धर्मवृक्ष के फल सभी के लिए हितकर और सुखकर होते हैं। अन्य वृक्षों के फल अल्पकालीन तृप्ति प्रदान कर सकते हैं किन्तु धर्मरूपी कल्पतरु के फल से शाश्वत तृप्ति प्राप्त होती है। मनुष्य सदा के लिए स्वस्थ, शुद्ध, नीरोग, अजर, अमर, अविनाशी हो जाता है। धर्म-वृक्ष के फल का ऐसा प्रभाव है कि वह आत्मा को परमात्मा के परमोच्च पद पर प्रतिष्ठित कर देता है।

जिस प्रकार वृक्ष के फल-फूल आदि का उपभोग स्वयं वृक्ष नहीं करता उसी प्रकार धर्म का फल स्वयं धर्म को नहीं प्राप्त होता, बल्कि धर्म का पालन और रक्षण करने वाले को प्राप्त होता है। धर्म का स्वरूप ही यह है कि वह अपने पालन करने वाले को धारण करता है। कहा भी है:—

> धारणाद् धर्ममित्याहु-र्धर्मो धारयते प्रजाः ।
> यत्स्याद् धारणसंयुक्त स धर्म इति निश्चय ॥

यह धर्म की शब्द शास्त्र-सम्मत व्याख्या है।

धर्म इन्द्रियों के विनोद का विषय नहीं है। वह इन्द्रियों का पोषक नहीं है। वह तो आत्मिक गुणों का संवर्द्धक और पोषक है तथा आत्मा का विनोद है। धर्म उस वस्तु की प्राप्ति का साधन है

जिसकी प्राप्ति तीन लोक की समस्त विभूति भी नहीं करा सकती। विश्व के उत्तम से उत्तम पौद्गलिक पदार्थ जो देन नहीं दे सकते, वह अनुपम और अनिर्वचनीय वस्तु धर्म की देन है। यदि कोई विश्व के पदार्थों के अस्तित्व को बनाये रखने वाला महान् शक्तिशाली ठोस पदार्थ है तो वह धर्म ही है। इस विराट सृष्टि को सँभालने वाला–सृष्टि के प्रत्येक पदार्थ को अपने–अपने स्वभाव में स्थिर रखने वाला धर्म ही है।

जैसे चन्द्र और सूर्य का बँटवारा नहीं हो सकता, जैसे आसमान का विभाजन नहीं किया जा सकता; यह प्राकृतिक पदार्थ समान रूप से सभी के हैं; उसी प्रकार धर्म भी अविभाज्य है और सबकी समान सम्पत्ति है। फिर भी आश्चर्य है कि लोगों ने अपने दुरभिनिवेश से धर्म को अलग–अलग बाँट लिया है। यह तुम्हारा धर्म है और यह हमारा धर्म है, इस प्रकार की कृत्रिम दीवालें खींच कर धर्म के व्यापक और विशाल स्वरूप को संकीर्ण और क्षुद्र बनाने का प्रयास किया है। मनुष्य की संकीर्ण मनोभावना इतना करके ही नहीं रह गई। वह इससे भी आगे बढ़ी और अपने धर्म को उत्कृष्ट तथा दूसरे के धर्म को निकृष्ट बतलाने लगी है। इसमें कोई आश्चर्य की बात भी नहीं है। आज के मानव की धारणा प्राय: ऐसी बन गई है कि वह अपनी ग्रहण की हुई वस्तु को, चाहे वह बुरी ही क्यों न हो, अच्छी मानता है, और दूसरे व्यक्ति की वस्तु, चाहे वह कितनी ही सुन्दर और सुखद क्यों न हो, बुरी समझता है। दुनिया में कहावत प्रचलित है—

अपनी छाछ खट्टी तो भी मीठी।
दूसरे की छाछ मीठी तो भी खट्टी॥

परन्तु यह सब दृष्टिकोण का ही फल है। इसमें सचाई नहीं, संकीर्णता है। उदारता नहीं, दुराग्रह है। यह पक्षपात से भरा दृष्टिकोण है जो मनुष्य को सत्य के दिव्य प्रकाश से वंचित रखता है। सचाई तो यह है कि जो छाछ खट्टी है वह खट्टी ही है, चाहे अपनी हो चाहे पराई हो। और जो मीठी है वह मीठी ही है, चाहे वह किसी का भी क्यों न हो! छाछ का खट्टापन या मीठा पन किसी व्यक्ति के स्वामित्व या ममता पर निर्भर नहीं। वह तो उसका निज का गुण है।

मगर इस अवसर में इतना ही सोच कर रह जाना पर्याप्त नहीं है। हमें प्रत्येक समस्या, धारणा और घटना के मूल का अन्वेषण करना चाहिए। सोचना चाहिए कि आखिर यह संकीर्ण, पक्षपात-पूर्ण और असत्य मनोभावना मनुष्य में कहाँ से आई है? जब हम इस प्रश्न का समाधान खोजने के लिए गहरे पानी में पैठते हैं तो विदित होता है कि मनुष्य में मानवधर्म की सही समझ न होने के कारण ही यह मनोभावना उत्पन्न हुई है। यही क्यों, हम तो स्पष्ट देख रहे हैं कि मानवधर्म का सम्यक् ज्ञान और पालन न होने के कारण ऐसी-तैसी सैकड़ों बुराइयाँ उत्पन्न हुई हैं जिन्होंने मनुष्य जाति के दुर्भाग्य को आमंत्रित किया है! मनुष्य जाति ने यदि मानवधर्म को ठीक रूप में समझा होता और उसका अनुसरण किया होता तो भारतभूमि का बँटवारा हुआ होता? मानव, मानवता

को तिलांजलि देकर दानवता का शिकार हुआ होता ? धर्म का काम टुकड़े करना नहीं है, किसी को कष्ट देना नहीं है। मनुष्य को मनुष्य से विलग करने का काम धर्म का नहीं। धर्म तो 'सव्वभूअप्पभूअस्स' की शिक्षा देता है। प्राणीमात्र को आत्मा के समान समझने का संदेश धर्म ने ही दिया है !

धर्म एक व्यापक तत्त्व है। धर्म के बिना किसी भी वस्तु का अस्तित्व रह ही नहीं सकता। संसार का सूक्ष्म से सूक्ष्म और स्थूल से स्थूल पदार्थ धर्म से शून्य नहीं हैं। इस अनन्त और अपरिसीम दिखाई देने वाले विश्व का यदि वर्गीकरण किया जाय और मूलभूत तत्त्वों का पता लगाया जाय तो इसमें दो ही मौलिक तत्त्व हैं—एक जड़ और दूसरा चेतन। दोनों में ही अपना-अपना धर्म रहा हुआ है। 'वत्थुसहावो धम्मो' अर्थात् प्रत्येक वस्तु का स्वभाव धर्म है और जिसमें स्वभाव—अपनी सत्ता-नहीं, उसमें अभाव के अतिरिक्त और क्या हो सकता है ?

यदि हम सावधान रहकर, गहरा गोता लगाकर समुद्र की तह में पहुँच जाएँ तो हमें मोती प्राप्त हो सकते हैं। इसी प्रकार यदि हम सावधान एवं सतर्क रह कर धर्म के गंभीर सागर में गोता लगाएँ तो निस्सन्देह हमें लोकोत्तर ज्योति की प्राप्ति होगी। वह ज्योति ऐसी अनूठी ज्योति होगी कि उसके सामने जगत् की समस्त ज्योतियाँ - कोटि-कोटि सूर्य भी नगण्य और तुच्छ प्रतिभासित होंगे। उस अनिर्वचनीय ज्योति में विश्व का कण-कण उद्भासित हो उठेगा और हम सर्वद्रष्टा का गौरवपूर्ण पद पा सकेंगे। उस

परमज्योति में मोती और हीरे पाषाण के खंड ही दिखलाई देंगे, उनका वास्तविक मूल्य वहीं विलुप्त हो जाएगा।

ध्यान रखना चाहिए कि मोतियों की प्राप्ति सागर से ही हो सकती है, किसी कुएँ या गन्दे पानी के गड्हे से नहीं। गंदे पानी के गड्हे में कीचड़ मिल सकता है, मोती नहीं। जो जैसे स्थान पर जाता है, उसे वैसी ही वस्तु की प्राप्ति होती है। कहा भी है —

गम्यते यदि मृगेन्द्रमन्दिरं, लभ्यते करिकपोलमौक्तिकम्।
जम्बुकालयगते हि प्राप्यते, वत्सपुच्छ-खरचर्मखण्डकम्।

अर्थात्–मृगेन्द्र मन्दिर (सिंह की गुफा) में जाने पर गज-मुक्ताओं की प्राप्ति होती है और गीदड़ की मांद में जाने पर बछड़े की पूंछ या गधे के चमड़े का छोटा-सा टुकड़ा ही मिलेगा।

मगर सिंह की गुफा में प्रवेश करना शूरवीर का ही काम है, कायर का नहीं। जिनमें शौर्य धैर्य और कर्त्तव्यपरायणता होती है, उनको विश्व की समस्त विभूतियाँ प्राप्त हो जाती हैं, मगर भीरू और कायर नरों को समस्त विभूतियाँ उसी प्रकार छोड़ जाती हैं, जैसे दिवालिया सेठ को उसके अनुचर आदि, फलहीन वृक्ष को पक्षी और निर्जल सरोवर को हंस छोड़ जाते हैं।

अभी-अभी जो श्लोक मैंने कहा है, उसमें 'मन्दिर' और 'आलय' शब्द आये हैं। यह दोनों मकान के ही नाम हैं। जिस

मकान, स्थान या पात्र आदि में जैसी वस्तु होती है, उसका नाम भी वैसा ही हो जाता है। उदाहरणार्थ—कहा जाता है— यह दूध का कटोरा है। लेकिन कटोरा वास्तव में दूध का नहीं होता, वह तो मिट्टी का, तांबे का या पीतल आदि का होता है। फिर भी दूध का संबंध हो जाने से उसे 'दूध का कटोरा' की संज्ञा प्राप्त हो जाती है।

सज्जनो! आप कटोरे पर मत जाइए, बल्कि यह देखिए कि कटोरे में क्या वस्तु है? एक उर्दू का शायर कहता है:—

सागरे जरीं हो या मिट्टी का हो एक ठीकरा।
तुम निगह उस पर करो जो उसके अन्दर हो भरा।

एक सोने का पात्र है और एक मिट्टी का पात्र है। दोनों में कौन अच्छा और कौन बुरा है, इस बात का बिना सोचे-समझे एकदम निर्णय मत दे डालो। ललचाये हुए नेत्रों से उन पात्रों के बाहरी रूप को मत देखो। पक्षपात का चश्मा चढ़ा कर भी फैसला न करो। अगर सोने के पात्र में जहर भरा हो और मिट्टी के प्याले में वह रसायन भरी हो जिसे लोहे पर डालने से लोहा सोना बन जाय तो आप स्वयं ही सोच सकते हैं कि कौन-सा पात्र उत्तम है? कौन उस जहर-भरे सोने के प्याले को ग्रहण करना चाहेगा?

वास्तव में किसी भी पात्र, स्थान या व्यक्ति की महत्ता उसमें रहे हुए गुण, धर्म या शक्ति पर निर्भर है। अगर कोई पात्र लौकिक दृष्टि से साधारण ही हो, परन्तु उसमें यदि सम्यक्ज्ञान, और

चारित्र आदि का अमृत भरा हो तो वह अपनाने योग्य है आदरणीय है, किन्तु वह सोने का प्याला भी त्याज्य है जिसकी बदौलत हमारा सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र नष्ट होता हो और हम सीधा रास्ता छोड़ कर उससे उल्टे रास्ते जाने लगें। वह सोने के गहने भी किस काम के जिन्हें धारण करने से शरीर को कष्ट उठाना पड़े।

सभव है, आपमें से कोई श्रोता इस रूपक के मर्म को न समझे हों। अतएव मैं इसे स्पष्ट कर देना चाहता हूँ। हमें केवल नाम मात्र के उच्च वर्ण और उच्च जाति वाले व्यक्तिरूपी सोने के पात्र की आवश्यकता नहीं है जिसमें छल-कपट, दुर्व्यसन और दुराचार का जहर भरा हो। किन्तु वह मिट्टी का प्याला अर्थात् हरिजन भी अपनाने के योग्य है जिसका जीवन ज्ञान और सदाचार के अमृत से परिपूर्ण है। तात्पर्य यह है कि धर्म का सबंध किसी जाति विशेष से नहीं है। धर्म सभी के लिए है। धर्मरूपी कल्पतरु की शीतल छाया में प्राणी मात्र के लिए स्थान है। धर्म जात पात को नहीं देखता, गुण- अवगुण को देखता है। धर्मशास्त्र तो स्पष्ट घोषणा करते हैं—

पच्चक्खं खु दीसइ तवो विसेसो।
न दीसइ जाइविसेस कोवि॥

तपस्या की – धर्म की विशेषता तो प्रत्यक्ष दिखाई देती है, मगर जाति की कोई विशेषता दृष्टिगोचर नहीं होती। पात्रता धर्म से आती है जाति से नहीं।

ऐ दुनिया के लोगों ! याद रक्खो, धर्म में जात- पांत को कोई स्थान नहीं है। जरा विचार करो कि अर्जुन माली कौन थे? हरिकेशी मुनिराज कौन थे? जाति से उच्च न होने पर भी वे उच्च कोटी के धर्म की आराधना करके परम पद को प्राप्त हुए। धर्म और अध्यात्म के क्षेत्र में ऊपर के मार्का काम नहीं आते। जाति-पांति से कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। वहाँ किसी प्याले की कीमत नहीं, उसके भीतर भरी हुई वस्तु की कीमत है, अतएव लोक कल्पित जाति-पांति के चक्कर में मत पड़ो और मानवधर्म के मूल्य को समझ कर उसी की आराधना करो। मानवधर्म की आराधना करने से ही तुम आत्मिक धर्म की उच्च भूमिका प्राप्त कर सकोगे।

*

मानवधर्म की शिक्षा लेने के लिए मनुष्य को उन सद्पुरुषों की शरण ग्रहण करना चाहिए, जिन्होंने धर्म के मर्म को आत्मसात् किया है, और धर्मपूर्वक ही अपना जीवन-निर्वाह करने का संकल्प किया है, पहले ही बतलाया जा चुका है कि जो सिंह की गुफा में जाता है, उसी को गजमुक्ता प्राप्त होते हैं; क्योंकि सिंह हाथी को मार कर खाता है और उसके गण्डस्थलों के मोती वहीं बिखर जाते हैं। गुफा में जाने वाला उन मोतियों को प्राप्त कर सकता है। किन्तु गुफा में जाने का साहस वही कर सकता है जो अपनी जान हथेली पर रखता हो ! साहसहीन और भीरू वहाँ जाने की हिम्मत नहीं कर सकते, अतएव वे गजमुक्ता भी नहीं पा सकते।

इसके विपरीत, जो गीदड़ की गुफा में जाता है, वह गजेन्द्र-मुक्ता पाने का अधिकारी नहीं हो सकता।

सज्जनो ! धर्म के सम्बन्ध में भी यही बात समझनी चाहिए। धर्म का सच्चा स्वरूप तो सच्चे धर्मवेत्ता, ज्ञानी-ध्यानी की संगति करने से ही जाना जा सकता है, मिथ्यात्वी, लोभी, लालची प्रतिष्ठा के भूखे और धर्मध्वजी बनने का ढोंग करने वालों से नहीं। यह बात तो सर्वमान्य है कि जहाँ जो वस्तु होती है, वहीं से उसकी प्राप्ति हो सकती है। जहाँ जो वस्तु है ही नहीं, वहाँ कितना ही परिश्रम क्यों न किया जाय, वह मिल नहीं सकती।

आशय यह है कि धर्म और मानवधर्म की सच्ची शिक्षा सुयोग्य धर्मोपदेशक से ही प्राप्त हो सकती है; मगर उस धर्म शिक्षा को ठीक तरह पचाने के लिए पात्रता प्राप्त करना अनिवार्य है। अपने आपको धर्म का पात्र बनाये बिना योग्य से योग्य और ज्ञानी से ज्ञानी उपदेशक भी क्या कर सकता है ? धर्म की पात्रता ही दूसरे शब्दों में मानवधर्म है ! मानवधर्म के पालन से ही मनुष्य उच्चकोटि के धर्म का पात्र बन सकता है।

शास्त्रकारों ने पात्र चार प्रकार के बतलाये हैं:- (१) अतिपात्र (२) सुपात्र (३) पात्र और (४) कुपात्र।

(१) अतिपात्र — तीर्थंकार देव हैं, जिन्हें दान देने का सौभाग्य श्रेयांसकुमार और चन्दनबाला आदि को प्राप्त हुआ। श्रीदशवैकालिकसूत्र में दान देने और दान लेने वाले के विषय में भगवान् ने फरमाया है,—

दुल्लहाओ मुहादाई, मुहाजीवी वि दुल्लहा ।
मुहादाई मुहाजीवी, दो वि गच्छंति सुग्गई ॥

अर्थात्—शुद्ध हृदय से—निष्काम भाव से—दान देने वाले और शुद्ध हृदय से दान को ग्रहण करने वाले संसार में दुर्लभ हैं। संसार सम्बन्धी स्वार्थमयी भावना से रहित दान देने और लेने वाले—दोनों ही सद्गति पाते हैं।

इसलिए ऐ दुनिया के लोगों ! क्यों इधर-उधर भटकते हो ? सत्पुरुषों की चरण-शरण ग्रहण करके धर्म के विशद और वास्तविक स्वरूप को समझो और मानवधर्म को अपने जीवन का पथ-प्रदर्शक बनाओ। मानवधर्म क्या है ? संक्षेप में यही कहा जा सकता है कि अन्य प्राणियों के सुख-दुःख को अपना ही सुख-दुःख समझ कर उनकी रक्षा करो, कष्ट पाते हुए, विपत्ति में पड़े हुए और सिसकते हुए प्राणियों की रक्षा करो, दुखियों के दुःख दूर करो; रोते हुए को हँसाओ। याद रक्खो कि अगर तुम दूसरों को सुखी बनाओगे तो तुम भी अवश्य सुखी बन जाओगे। कभी मत सोचो कि:—

किस किस का फिक्र कीजिए, किस किसको रोइए।
आराम बड़ी चीज़ है, मुँह ढँक कर सोइए ॥

यह स्वार्थपूर्ण जघन्य भावना है। इस प्रकार की स्वार्थपूर्ण मनोवृत्ति अगर सभी लोगों के हृदय में पैठ जाय तो संसार किस आधार पर टिक सकेगा ? पारस्परिक सहायता, सेवा, उपकार,

सहानुभूति और सवदना पर ही यह जगत स्थिर है। जिस दिन यह उदार भावनाएँ मनुष्यमात्र के दिल में से निकल जाएगी, उसी दिन ससार में महाप्रलय के भीषण दृश्य दृष्टिगोचर होने लगेंगे। जो लोग यह सोचते और कहते हैं कि दूसरा कोई कष्ट से छटपटा रहा है तो भले छटपटाए, हम उससे क्या प्रयोजन है? वह अपने कर्मों का फल भोगता है। हमें बीच में पडने की क्या आवश्यकता है? एक दूसरे को मारने के लिए झपटता है तो हमें बचाने की झझट में क्या पडना चाहिए? इस प्रकार सोचने, कहने वालों ने धर्म का मर्म नहीं समझा। वे मानवधर्म के मूल पर कुठार-प्रहार करने वाले आपापथी हैं। जब वे स्वय कष्ट में पडते हैं बीमार होते हैं तो दूसरों से सेवा लेते हैं, दूसरों की सहायता लेते हैं पर जब दूसरों का प्रश्न सामने आता है तो कहते हैं—मरते को बचाना पाप है! ऐसे स्वार्थी लोगों को आपापथी न कहा जाय तो क्या कहा जाय? भारत को ऐसे आपापथियों की आवश्यकता नहीं है। उसे तो दानवीरों, दयालुओं और पुण्यात्माओं की आवश्यकता है।

किसी ने पृथ्वी से पूछा ऐ पृथ्वी! तेरे ऊपर सुमेरू जैसे विशाल पर्वत और लवणोदधि आदि समुद्र स्थित हैं। क्या तू इनके भार से पीडित नहीं होती?

पृथ्वी उत्तर देती है—यह सब तो मेरी सन्तान हैं। मैं इनके भार से पीडित नहीं हू। मैं अगर किसी भारी से भारी भार से व्यथित हूँ—दबी जा रही हूँ तो वह भार है स्वार्थियों का विश्वास

घातियों का ! वह भार मुझे असह्य है। आजकल, इस हुँडावसर्पिणी काल में, ऐसे भी लोग पैदा हुए हैं जो जिस पत्तल में खाते हैं, उसी में छेद करते हैं। वे अपने आपको महावीर का अनुयायी कहते हैं, महावीर के नाम पर अपनी दुकान चलाते हैं और कहते हैं कि महावीर भूल गये ! मगर याद रखना चाहिए कि देव, गुरु और धर्म की निन्दा करने वाला महामोहनीय कर्म का बंध करता है।

हाँ, तो बतलाया जा रहा था कि पात्र चार प्रकार के होते हैं। उनमें से तीर्थंकर भगवान् सर्वोपरि पात्र हैं। कंचन-कामिनी का पूर्ण रूप से परित्याग करके निरन्तर आत्मिक साधना के लिए उद्यत रहने वाले, संयमनिष्ठ साधु-मुनिराज सुपात्र कहलाते हैं। दीन-दुखी जीव, पात्र की तीसरी श्रेणी में गिने जाते हैं। हिंसक, चोर, वेश्यागामी आदि मनुष्य कुपात्र कहलाते हैं।

इनमें से पहले के तीन तो पात्र हैं ही, चौथे नम्बर के कुपात्र भी दया के पात्र तो हैं ही ! यह ठीक है कि दुर्व्यसनी और दुराचारी को बिना सोचे-समझे प्रोत्साहन देना उचित नहीं है, फिर भी जिनेन्द्र देव ने अनुकम्पादान का निषेध किसी के लिए भी नहीं बतलाया है ! जो लोग श्रावक को भी कुपात्र कहते हैं, वे अपने आपको धर्म का अपात्र प्रकट करते हैं। जिसमें यह अपात्रता है, वह जिनधर्म का आराधक किस प्रकार कहा जा सकता है ? पात्रता किस प्रकार आती है, इसके लिए एक उदाहरण लीजिए:—

एक मनुष्य किसी महात्मा के पास गया और बोला-अनुग्रह करके मुझे सुपात्र बना दीजिए।

महात्मा ने सामने रक्खे हुए घड़े की ओर इशारा करके कहा तू उस घड़े के पास जा। वह तुझे सुपात्र बनने का मंत्र बतलाएगा।

महात्मा के तपोबल से घट, देवता द्वारा अधिष्ठित था। देवता के कारण घट में से आवाज निकली:—

ऐ भद्र पुरुष! तू सुपात्र बनना चाहता है, किन्तु केवल पात्र बनने के लिए भी बहुत कष्ट उठाने पड़ते हैं। मैं तुझे अपनी ही कहानी सुनाता हूँ। उससे तुझे पात्र बनने का मार्ग मिल जाएगा। कहानी यों है:—

पहले मैं अपने कुटुम्ब के साथ आनन्दपूर्वक रहता था-अर्थात् पृथ्वी के साथ, पृथ्वी के रूप में ही रहता था। एक स्वार्थी व्यक्ति अर्थात् कुंभार ने मुझे कुदाल से खोदकर पृथ्वी से अलग कर दिया। कुदाल के कठोर प्रहार सहता हुआ भी मैं मौन ही रहा। तत्पश्चात् वह मुझे बड़े बोरे में कैद करके और गधे पर बिठला कर अपने घर पर लाया। घर आकर उसने बड़ी निर्दयता के साथ मुझे ऊपर से नीचे पटक दिया। नीचे गिरने की चोट भी मैंने शान्ति के साथ सहन कर ली। यद्यपि इससे मेरे कई अंग टूट गये, फिर भी मैं चुप ही रहा। मगर इतना ही बस न हुआ। कुंभार ने एक मोटा-सा सोटा उठाया और मुझे पीटना-कूटना आरम्भ किया। इस कूट-पीट का परिणाम यह हुआ कि मैं चूरा-

चूरा हो गया ! फिर भी पात्र बनने की उत्कंठा के कारण मैंने उन चोटों को भी शान्तिपूर्वक सहन कर लिया ! मगर इतना करके भी उस व्यक्ति को सन्तोष नहीं हुआ। उसने मुझे पानी में गलाया और फिर लातों तथा घूसों से बुरी तरह कुचला मसला और रौंदा तब मैं एक शिथिल मृत्तिका-पिण्ड रूप में हो गया। तब उस पुरुष ने मुझे, जिस प्रकार किसी अपराधी को शूली पर चढ़ाया जाता है, उसी प्रकार अपने चाक पर चढ़ा दिया और बड़ी तेजी के साथ चाक को घुमाया। मैं अगणित चक्कर खाता रहा, लेकिन घबराया नहीं। उसने मेरी शक्ल-सूरत बदल डाली। फिर मुख में हाथ डाल कर मुझे चौड़ा किया। जब मैं एक पात्र की आकृति को प्राप्त हुआ तो मुझे छुरी से अर्थात् डोरी से काट कर उस चाक से अलग कर दिया। इसके पश्चात् भी मेरी व्यथाओं का अन्त नहीं हुआ। कुंभकार ने मुझे एक लकड़ी की थपकी से थपाथप खूब पीटा और ऐसा पीटा कि कोई अंग बाकी न रहा। मगर यह सब तो साधारण परीक्षा थी। इसके बाद कठोर से कठोर अग्नि-परीक्षा का समय आया। कुंभकार ने मुझे आग की भट्ठी (आपाक—आंवे) में रख दिया। ऊपर और नीचे ईंधन रखकर आग लगा दी। लगातार कई दिनों तक मैं उस आग में जलता रहा। फिर उससे बाहर निकाला गया।

हे भद्र पुरुष ! पात्र बनने की इस अतिशय कठिन परीक्षा में मैं अकेला ही सम्मिलित नहीं हुआ था। बहुत से साथी थे। उनमें से कितने ही अनुत्तीर्ण हो गये; अर्थात कोई फूट गया और किसी

में दरार पड़ गई। किन्तु भाग्य से मैं सही-सलामत बाहर आ गया। तब मैं पात्र बन सका। और संसार मुझे पात्र के नाम से पुकारने लगा। किन्तु मेरी परीक्षा का यही अन्त न हुआ। कुंभकार ने लेजाकर मुझे बाजार के चौक में रख दिया। तब न जाने कितने स्त्री-पुरुष आये और मुझे टोले लगाने लगे। अर्थात् ठोक-बजा कर मेरी परीक्षा करने लगे। मैं इस परीक्षा में भी उत्तीर्ण हो गया।

इतनी मुसीबतें झेलने के अनन्तर मैं पात्र बन सका। किन्तु इन सब का परिणाम अन्त में सुखद ही हुआ। अब मुझ में 'जीवन' रहता है अर्थात् मैं शीतल जल से परिपूर्ण रहता हूँ। प्यासे लोगों की प्यास बुझा कर उन्हें शान्ति देता हूँ। अब सभी लोग बड़ी सावधानी के साथ मेरे प्रति व्यवहार करते हैं और ध्यान रखते हैं कि मुझे हल्की-सी भी चोट न लगने पाए!

हे भव्य! इतने-इतने कष्ट सहन करने के पश्चात् मैं पात्र बना हूँ। मगर तुम तो सुपात्र बनने की इच्छा करते हो। तुम्हें इससे भी अधिक कठोर परीक्षाओं में उत्तीर्ण होना पड़ेगा। मेरी तरह कुटुम्बी जनों की मोह-ममता त्यागनी होगी, अनेक प्रकार के परीषह-उपसर्ग सहने पड़ेंगे और तपस्या की तीव्र अग्नि में अपने शरीर को झुलसाना पड़ेगा। जप, तप, संयम, इन्द्रियनिग्रह, भोगोपभोगपरित्याग, निन्दा-स्तुति और मानापमान आदि में सम-भाव की साधना करनी होगी। धर्माराधना के क्षेत्र में यदि कठोर-अतिकठोर कष्टों को, आत्मशुद्धि के निमित्त सहर्ष सहन करोगे

तो निःसन्देह तुम में सुपात्रता आ जायगी और तुम विश्व के आधार बन जाओगे। संसार को शान्ति प्रदान कर सकोगे।

सज्जनों! धैर्य, सहनशीलता और कष्टसहिष्णुता के बिना किसी भी बहुमूल्य एवं श्रेयस्कर वस्तु की प्राप्ति नहीं हो सकती। किसी कवि ने ठीक ही कहा है:—

रज्जब जरना खूब है, जो टुक जारी जाय।
बींद बहू के कारणे, केती गारी खाय॥

एक हाड़-मांस की पुतली रूप गृहिणी (पत्नी) को प्राप्त करने के लिए बींद (दूल्हे) को विवाह के समय कितनी गालियाँ सहन करनी पड़ती हैं! तो फिर जो भव्य जीव परमात्मपद को प्राप्त करना चाहते हैं, उन्हें कितना कष्ट न सहना होगा! यह जीवन तो क्षणभंगुर है। जो जन्मा है सो मरेगा। जो बना है सो बिगड़ेगा। जो खिला है सो बिना मुरझाये न रहेगा। संसाररूपी बगीचे की वास्तविक दशा क्या है, इसका बड़ा सुन्दर चित्र एक उर्दू शायर ने खींचा है। वह कहता है:—

कुछ गुल तो दिखला कर बहार अपनी हैं जाते।
कुछ सूख कर कांटों की तरह हैं नजर आते॥
कुछ गुल हैं जो फूले नहीं जामे में समाते।
गुंचे बहुत ऐसे हैं जो खिलने भी नहीं पाते॥

इस प्रकार जन्म ने में शंका हो सकती है कि कोई जन्मे या न जन्मे, क्योंकि देखने-सुनने में आता है कि कई बच्चे जन्म लेने

से पहले गर्भावस्था में ही मर जाते हैं। लेकिन जिसने जन्म लिया है, उसके मरने में कोई शंका नहीं हो सकती। कहा है—

> कहो इस काल से कौन बचा है?
> कहो एक धर्म जो जग में सच्चा है।

सज्जनों! याद रखिए, केवल धर्म ही आपका सच्चा साथी है। धर्म ही परभव में साथ जाने वाला है। धर्म से ही इहलोक और परलोक में सुख की प्राप्ति होती है। पाप करके, बुरे काम करके कभी कोई सुखी नहीं बना और न बन ही सकता है। कृत कर्म कभी निष्फल नहीं हो सकते। आजकल के वैज्ञानिक जगत् के सब से भयानक *अस्त्र अणुबम या उद्जन बम का वार भी,* सम्भव है खाली चला जाय, लेकिन अपने किये अच्छे या बुरे कर्म, यथासमय, अवश्य ही अपना असर दिखलाते हैं। कर्म की शक्ति अमोघ है। वह तीर्थंकर जैसे असाधारण पुण्यशालीजनों के साथ भी रियायत नहीं करता तो साधारणजनों की तो बात ही क्या है!

> कह रहा यह आसमां कुछ समय का फेर है।
> पाप का घट भर चुका अब डूबने की देर है॥

तुम आज जो पाप कर्म कर रहे हो, उसका फल तत्काल न मिलने मात्र से मत सोचो कि हम कर्म-फल से मुक्त हो गये! समय पर कर्म का परिपाक होगा और तब उसका फल भोगना ही पड़ेगा। अतएव मेरी बात पर ध्यान दो और अधर्म से बच कर धर्म का सेवन करो।

धर्म का लक्ष्य सांसारिक वैभव की प्राप्ति होना नहीं है। स्वर्ग में जाकर इन्द्र का प्रतिष्ठित पद पा लेने के लिए भी धर्म की आराधना नहीं की जाती। धर्म का ध्येय तो शुद्ध स्व-स्वरूप की उपलब्धि करना है। आत्मा में वही सब गुण विद्यमान हैं जो परमात्मा में हैं—सिद्धों में हैं। किन्तु कर्मजनित विकारों ने उन गुणों को आच्छादित कर रक्खा है। उन विकारों को दूर करके साधारण आत्मा भी परमात्मा के पद का अधिकारी बन सकता है। इसी उद्देश्य से धर्म की आराधना करना चाहिए।

कहा जा सकता है कि संसारी आत्मा में ईश्वरीय गुणों का अभाव है और ईश्वर में संसारी आत्माओं के वैभायिक गुणों का अभाव है। दोनों में बहुत बड़ा अन्तर है। ऐसी स्थिति में आत्मा धर्म का आचरण करके भी परमात्मा किस प्रकार बन सकता है?

इस प्रश्न का समाधान करने के लिए न्यायशास्त्र में वर्णित अभाव के सम्बन्ध में विचार करना पड़ेगा। अभाव चार प्रकार का है—(१) प्रागभाव (२) प्रध्वंसाभाव (३) अन्योन्याभाव और (४) अत्यन्ताभाव। यह चारों अभाव चार प्रकार के हैं। संक्षेप में इनका स्वरूप इस प्रकार है:—

(१) प्रागभाव—पदार्थ की भविष्यत् काल में होने वाली अवस्था का वर्त्तमानकाल में न होना प्रागभाव कहलाता है। जैसे वर्त्तमान में मिट्टी का एक ढेला है। कुंभार के पास जाकर वह घड़ा बनने वाला है, तो मिट्टी के ढेले में घटपर्याय का जो अभाव है, वह प्रागभाव कहलाता है। प्रागभाव अनादि सान्त होता है। मिट्टी के

ढेले में घटपर्याय का अनादि काल से अभाव है, पर वह अभाव अनन्तकाल तक रहने वाला नहीं है। कुम्भार द्वारा घट बनाये जाने पर इस अभाव का अन्त आ जाता है।

इसी प्रकार सांसारिक आत्मा में ईश्वरीय गुणों का वर्त्तमान में जो अभाव है, वह भी प्रागभाव है। यह अभाव अनादिकाल से चला आ रहा है, पर अनन्तकाल तक रहने वाला नहीं है। संयम और तप की आराधना के द्वारा इस अभाव का अन्त होने पर ईश्वरीय गुणों की प्राप्ति हो जाती है।

(२) प्रध्वंसाभाव—पदार्थ की वर्त्तमान पर्याय का, अगली पर्याय के उत्पन्न होने पर अभाव हो जाता है। वह अभाव प्रध्वंसाभाव कहलाता है। प्रध्वंसाभाव सादि और अनन्त है, अर्थात् उसका प्रारम्भ तो होता है, पर अन्त नहीं होता। जैसे–आत्मा में सिद्ध पर्याय उत्पन्न होने पर संसारी-पर्याय का अभाव हुआ। इस अभाव का प्रारम्भ तो हुआ पर अन्त कभी आने वाला नहीं है।

(३) अन्योन्याभाव—एक ही द्रव्य की अनेक पर्यायों में पर पर जो अभाव पाया जाता है, वह अन्योन्याभाव कहलाता है। जैसे-घड़ा वस्त्र नहीं है और वस्त्र घड़ा नहीं है। यह अभाव सादि और सान्त होता है।

(४) अत्यन्ताभाव—जो अभाव अनादि और अनन्त हो, जिसका प्रारम्भ भी न हो और कभी अन्त भी न हो, वह त्रैकालिक अभाव अत्यन्ताभाव कहलाता है। जैसे—जड़ में चेतनता का

अभाव हैं और चेतन में जड़त्व का अभाव है। जड़ पर कितना ही रंग-रोगन चढ़ा दो, वह कभी चेतन नहीं हो सकता। जड़ और चेतन एक साथ रहते हुए भी अपने-अपने गुण-स्वभाव में ही स्थित हैं। एक दूसरे के रूप में कदापि नहीं पलट सकते।

ए ठीकरियों! तुझ में पात्रता का अभाव है, लेकिन घबरा नहीं, अभी तेरे लिए अवसर है।

ऐ मिट्टी के ढेले! तुझ में पात्रता का अभाव है, लेकिन घबराओ नहीं। तुमको भी घिस कर और मिट्टी में मिल कर पात्र बनने का अवसर प्राप्त हो सकेगा।

ऐ घट और पट! घबराओ नहीं, तुम भी दीर्घ कालान्तर में रूपान्तरित होकर एक दूसरे का रूप धारण कर सकते हो; अर्थात् घट के पुद्गल पट बन सकते हैं और पट के पुद्गल घट बन सकते हैं; क्योंकि दोनों एक ही द्रव्य की अवस्था रूप हैं।

इस प्रकार पहले तीन अभावों में तो समय पाकर सद्भाव रूप होने की गुंजाइश है, लेकिन अन्तिम चौथे अभाव में सद्भाव रूप होने की कोई गुंजाइश नहीं है। इस विवेचन से पूर्वोक्त प्रश्न का उत्तर भी स्पष्ट हो जाता है। अर्थात् आत्मा में परमात्म-दशा प्रकट होने में कोई बाधा नहीं है, क्योंकि आत्मा में परमात्म-गुणों का अत्यन्ताभाव नहीं है।

हाँ, मनुष्य को उद्यम अवश्य करना चाहिए। उद्यम के बिना किसी भी कार्य की सिद्धि नहीं हो सकती। इसके विपरीत, उद्यम-

शील आत्मा प्रत्येक वस्तु की प्राप्ति में समर्थ बन सकता है। बिल्ली उद्यम करती है तो बिना ही गाय-भैंस पाले दूध-दही प्राप्त कर लेती है। कहा भी है—

उद्यमेन हि सिद्ध्यन्ति कार्याणि न मनोरथैः ।

अर्थात् —कार्य की सिद्धि उद्यम करने से होती है, मसूबे करने से नहीं हो सकती।

उद्यम को शास्त्रीय परिभाषा में चारित्र कहते हैं। मगर यह उद्यम या चारित्र ज्ञानपूर्वक—विवेकपूर्ण होना चाहिए। विवेक सफलता की कुंजी है। जहाँ उद्यम हो किन्तु विवेक न हो, वहाँ सफलता की संभावना नहीं की जा सकती। उदाहरणार्थ-कोई पुरुष हिंसा, द्वेष, चोरी आदि करता है तो वह उद्यम तो करता है, परन्तु उससे यदि सुख पाना चाहे तो नहीं पा सकता, क्योंकि उसका विवेकपूर्ण नहीं है। सुखप्राप्ति के लिए विवेकपूर्ण उद्यम है दया, दान सत्य, अहिंसा आदि का सेवन करना इसी प्रकार जहाँ जो चीज होती है, वहां से वही चीज मिल सकती है।

गौतम स्वामी ने भगवान् महावीर स्वामी से प्रश्न किया—हे भगवान ! जीव पुद्गल का भोग है या पुद्गल जीव का भोग है ?

उत्तर में भगवान् फरमाते हैं—हे गौतम ! पुद्गल जीव का भोग है, जीव पुद्गल का भोग नहीं है।

हे भद्र पुरुषो ! इस प्रश्नोत्तर से सिद्ध होता है कि जीव का दर्जा ऊँचा है। अतएव हमको जब कुदरत ने ही ऊँचा बनाया है

तो हमको ऊँचा ही रहना चाहिए। ऊँचे हम तभी रह सकेंगे जबकि दुखियों का दुःख दूर करेंगे, मरते हुए को बचाएँगे, किसी भी रोते हुए को हँसाएँगे, किसी उजड़े हुए को बसाएँगे और अपने हृदयरूपी निर्झर से करुणा की विमल धवल धाराएँ प्रवाहित करके जगत् के संतापग्रस्त जीवों को शीतल बनाएँगे। यही मानव-धर्म की मूल भित्ति है। इसी भित्ति पर धर्म का प्रासाद टिकता है। अगर आपने इतना सीख लिया तो समझ लीजिए कि आपने मानवधर्म का पहला अध्याय सीख लिया। यदि आपके अन्तःकरण में करुणा की तरंगे उठने लगी तो आप मानवधर्म के पात्र बन गये! बोलो भगवान् महावीर की जय!

धूलिया (पश्चिम खानदेश)
८-५-५३ } असम्पूर्ण

मानवधर्म

[२]

मंगलाचरण

अर्हन्तो भगवन्त इन्द्रमहिताः सिद्धाश्च सिद्धिस्थिताः,
आचार्या जिनशासनोन्नतिकरा पूज्या उपाध्यायकाः।
श्री सिद्धान्तसुपाठका मुनिवरा रत्नत्रयाराधकाः,
पञ्चैते परमेष्ठिनः प्रतिदिनं कुर्वन्तु नो मंगलम् ॥

उपस्थित सज्जनों तथा देवियों! कल आपको बतलाया गया था कि मानवधर्म क्या है? किन्तु धर्म का विषय इतना गंभीर और विशाल है कि उसकी विवेचना थोड़े में नहीं की जा सकती। उसका ठीक-ठीक स्वरूप समझने के लिए विस्तार की अपेक्षा है। अतएव आज भी इसी विषय पर प्रकाश डाला जायगा।

धर्म एक व्यापक और आधारभूत वस्तु है, जिसके न होने पर संसार में कुछ भी शेष नहीं रहता। इस विश्व में जितने भी स्थूल और सूक्ष्म पदार्थ हैं, सब धर्म पर ही अवलम्बित हैं। धर्म सर्वोपरि पदार्थ है। धर्म का सेवन करने वाले, अपने समस्त

जीवन-व्यापारों को धर्ममय बना लेने वाले पुरुष त्रिलोकपूज्य बन जाते हैं। साधारण जनता जिन देवताओं के आगे मस्तक टेकती है, वे देवता भी धर्मात्मा पुरुषों के चरणों में अपना सिर झुकाकर अपने आपको कृतकृत्य समझते हैं। शास्त्र में कहा है :—

धम्मो मंगलमुक्किट्ठं, अहिंसा संजमो तवो।
देवा वि तं नमंसंति जस्स धम्मे सया मणो॥

अर्थात्-जगत् में अनेक पदार्थ मांगलिक माने जाते हैं, किन्तु वास्तव में धर्म ही उत्कृष्ट मंगल है। यह सर्वोत्कृष्ट मंगल-मय धर्म अहिंसा, संयम और तप रूप है। जिसका मन धर्म में सदैव लीन रहता है, अर्थात् जो अपने प्रत्येक आचार-विचार को धर्ममय बना लेता है, उसे देव भी नमस्कार करते हैं।

इससे स्पष्ट है कि धर्म सबमें उत्कृष्ट वस्तु है। यहाँ आशंका की जा सकती है कि जब हम धर्म को सर्वोत्कृष्ट मान लेते हैं तो और सभी चीजें धर्म से नीची सिद्ध होती हैं। तो क्या धर्म सिद्ध परमात्मा और अरिहन्त भगवान् से भी ऊँचा है? इस आशंका का समाधान यह है कि- हाँ, धर्म ईश्वर से भी ऊँचा है। जब शास्त्रों ने ही धर्म को उच्च आसन दे दिया है तो फिर शंका के लिए अवकाश ही कहाँ रहता है? शास्त्र सर्वज्ञ भाषित हैं और सर्वज्ञ में अज्ञान एवं कषाय का सर्वथा अभाव होता है, अतएव उनके वचन में असत्यता संभव नहीं है। अज्ञान या कषाय के कारण ही असत्य भाषण किया जाता है। जहाँ यह

दोनों दोष नहीं हैं, वहाँ असत्य भाषण भी सभव नहीं है। अतएव सर्वज्ञ के कथन में शंका को कोई गुंजाइश नहीं है। कहा भी है —

> मेरु गिरि चल जाय सूर्य पच्छिम थाय।
> गूंगा मुख राग गाये, अंधे को भी नैन है॥
> निर्दयी दयालु होय, निर्लज्ज सलज्ज होय।
> दुर्जन स्नेही होय, दुखिया को भी चैन है॥
> अग्नि शीतल होय, चन्द्र उष्ण जोय।
> एती बातें होय नहीं कविजन केन है॥
> समय पाय होय कभी, श्रोता समझो सभी।
> पर कभी न चलत श्री केवली के वैन हैं॥

प्रश्न किया जा सकता है कि धर्म अरिहन्त और सिद्ध भगवान् से भी ऊँचा है, यह कैसे माना जाय? इस प्रश्न का सीधा-सा उत्तर यह है कि धर्म ने परमात्मा को बनाया है, परमात्मा ने धर्म को नहीं बनाया है। अर्थात् जिन आत्माओं ने परमात्मपद प्राप्त किया है, वह धर्म के कारण ही किया है। धर्म को कभी कोई बनाता नहीं, बना सकता भी नहीं क्योंकि धर्म शाश्वत है-वस्तु का स्वभाव है। वस्तु के स्वभाव को बनाने का कोई प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता। शास्त्र में भी कहा है—

> एस धम्मे धुवे नीये, सासए जिणदेसिए।
> सिज्झा सिज्झन्ति चाणेण, सिज्झिस्संति तहावरे॥

इस गाथा से भलीभाँति सिद्ध है कि धर्म ध्रुव, नित्य और शाश्वत-अनादि अनन्त है। धर्म की आराधना करके भूतकाल में अनन्तानन्त जीव मोक्ष गये हैं, आज भी विदेह क्षेत्र से जा रहे हैं और भविष्य में भी जाते रहेंगे।

भूतकाल में जितने भी तीर्थंकर हुए हैं, सब ने यही कहा है कि दयाधर्म का पालन करने से तुम भी सिद्ध बन सकते हो।

जैनधर्म के अनुसार परमात्मा दो प्रकार के हैं— १) साकार और (२) निराकार। साकार परमात्मा वह अरिहंत भगवान् कहलाते हैं, जिन्होंने चार घातिक कर्मों को नष्ट करके केवल ज्ञान, केवलदर्शन प्राप्त किया है। वे नर के रूप में नारायण हैं। उन्हें अनन्त आत्मिक विभूतियाँ प्राप्त हो चुकी हैं। वे शरीर में विराजमान होकर भी चरम और परम आत्मिक विकास के स्पृहणीय आदर्श हैं। जीवनमुक्त हैं। वे विवध प्रकार की आधियों और व्याधियों से ग्रस्त तथा अपने वास्तविक स्वरूप से भटके हुए संसारी जीवों को समस्त दुःखों से मुक्त होने का पथ प्रदर्शित करते हैं। उन्हें हम 'नमो अरिहंताणं' कहकर नमस्कार करते हैं।

निराकार परमात्मा सिद्ध भगवान् कहलाते हैं। उन्होंने शरीर से सदा के लिए छुटकारा पा लिया है। परम निर्वाण की प्राप्ति कर ली है। वे सर्वथा निर्विकार, निराकार, निरजन, और नीराग हैं, वे लोक के अग्रभाग पर सदा के लिए विराजमान हैं।

आध्यात्मिक विकास की दृष्टि से अरिहंतों की अपेक्षा सिद्धों का पद ऊँचा है; तथापि अरिहंत भगवान् भव्य जीवों के परमोपकारक हैं। वे भूले भटके प्राणियों को कल्याण का मार्ग दिखलाते हैं, पापों से हटने की प्रेरणा करते हैं। वही हमें निराकार परमात्मा का बोध कराते हैं। उन्हीं की दिव्यध्वनि से धर्म की प्रवृत्ति होती है। अतएव अत्यन्त निकट-उपकारक होने के कारण उन्हें सिद्ध-निराकार भगवान् से भी पहले नमस्कार किया जाता है। वे अरिहंत देव 'तिन्नाणं, तारयाणं' (स्वयं तिरने वाले और दूसरों को तारने वाले) हैं; 'बुद्धाणं बोहयाणं' (बुद्ध और बोधक) हैं; 'मुत्ताणं मोयगाणं' (स्वयं मुक्त और दूसरों को मुक्त करने वाले) हैं। वे सर्वज्ञ और सर्वदर्शी हैं, अज्ञानियों को ज्ञान देने वाले, पथभ्रष्टों को सत्पथ प्रदर्शित करने वाले, परमज्योतिपुंज और अनन्तशक्तियों से सम्पन्न हैं। ऐसे परमात्मा के प्रति कृतज्ञता प्रकट करना, उनके गुणों का संकीर्त्तन करना और उनके ऊपर अटल अचल श्रद्धा-भक्ति रखना हम सब का कर्त्तव्य है।

इस प्रकार चाहे साकार परमात्मा हों, चाहे निराकार परमात्मा हों, उन्हें परमात्मत्व की प्राप्ति धर्म के द्वारा ही होती है। धर्म ही आत्मोत्थान का एक मात्र कारण है।

पहले बतलाया जा चुका है कि आत्मा और परमात्मा में मौलिक अन्तर कुछ नहीं है। जो अन्तर है वह आत्मिक गुणों के विकास और अविकास के कारण है। शुद्ध आत्मगुणों को प्राप्त कर लेने वाले परमात्मा कहलाते हैं। गुणों के बिना कोई

परमात्मा नहीं बन सकता। जब आत्मा ही गुणों के बिना नहीं हो सकता तो परमात्मा तो हो ही कैसे सकता है? जिस साहूकार के पास जितना ज्यादा द्रव्य होता है, वह उतना ही बड़ा सेठ कहलाता है। लाख रुपये हों तो लखपति कहलाता है और करोड़ रुपये हों तो करोड़पति कहलाता है। यह दूसरी बात है कि आजकल पास में कुछ भी न होने पर भी कई लोग अपने को लक्षाधीश और कोट्यधीश घोषित करते हैं। विवाह आदि के प्रसंगों पर इधर-उधर से ऋण लेकर वैभवशालियों का सा आडम्बर करते हैं और अपनी सन्तति के भविष्य को कटकाकीर्ण बना देते हैं। धर्म के क्षेत्र में भी, अतीत काल में ऐसे व्यक्ति हुए हैं जिन्होंने तीर्थंकर होने का ढोंग किया, सर्वज्ञ-सर्वदर्शी न होने पर भी अपनी जादूगरी से सर्वज्ञ-सर्वदर्शी होने का ढंढोरा पीटा। परन्तु आखिर उनकी कलई खुल कर रही।

सज्जनों! हमारे अरिहंत भगवान् ऐसे नहीं हैं। हमने किसी व्यक्ति-विशेष को अरिहंत नहीं माना है। जो आत्मिक-विकास की पूर्वोक्त स्थिति को प्राप्त करते हैं, वही अरिहंत पद के अधिकारी होते हैं, चाहे उनका नाम कुछ भी हो, संख्या कुछ भी हो, जाति-पांति कुछ भी हो। हमारे यहाँ गुणों की पूजा है, व्यक्ति की नहीं। जैनधर्म के अनुसार अरिहन्त और सिद्ध भगवान दोनों ही अपने-अपने गुणों से युक्त हैं। अथवा यों कहना चाहिए कि जो अपने-अपने २ गुणों से युक्त होते हैं, वही अरिहंत या सिद्ध कहलाते हैं। यह ऐसी व्यवस्था है जिसमें किसी भी प्रकार का भ्रम या विपर्यास नहीं हो सकता।

निराकार परमात्मा का प्रसंग छिड़ गया है तो एक बात का स्पष्टीकरण कर देना उचित होगा। 'लोगस्स' के पाठ में एक पद आता है 'सिद्धा सिद्धिं मम दिसन्तु।' इस पर यह आशंका की जा सकती है कि जब सिद्ध भगवान अशरीर और निराकार हैं तो वे सिद्धि किस प्रकार दिला सकते हैं?

मैं कह चुका हूँ कि शास्त्र की बात कदापि मिथ्या नहीं हो सकती। कोई करोड़ की गिनती नहीं गिन सकता तो इससे यही सिद्ध होता है कि उसे करोड़ की गणना का ज्ञान नहीं है। इससे गिनती का अभाव नहीं हो सकता। अगर ऐसा कोई व्यक्ति कहता है कि करोड़ की संख्या हो नहीं हो सकती तो उसका कथन गणितज्ञ के सामने हास्यास्पद ही सिद्ध होगा। यही बात शास्त्रीय विषय पर भी लागू होती है।

भगवतीसूत्र में एक स्थल पर कहा गया है–'सिद्धा एवं वयंति।' यहाँ भी वही आशंका की जा सकती है कि सिद्ध कैसे बोलते हैं? इसका समाधान इस प्रकार है:—

जैनधर्म में सामान्य रूप से सात नय माने गये हैं। जो दृष्टिकोण वस्तु के किसी एक विशिष्ट धर्म का बोध कराता है, उसे नय कहते हैं। एक ही वस्तु को अनेक दृष्टिकोणों से देखा और कहा जा सकता है। मनुष्य अपने अभिप्राय के अनुसार, वस्तु के अनन्त धर्मों में से किसी भी एक धर्म को प्रधान कर सकता है। जब किसी एक धर्म को प्रधान किया जाता है तब भी

वस्तु में अन्य धर्म विद्यमान रहते हैं, मगर उन्हें गौण कर दिया जाता है। जैनधर्म का यह महान् दार्शनिक सिद्धान्त है, जिसकी लोकव्यवहार में भी पद-पद पर प्रतीति होती है। पुत्र अपने पिता को 'पिताजी' कहकर पुकारता है, किन्तु इसका यह अर्थ तो नहीं समझा जाता कि 'पिताजी' कहलाने वाला व्यक्ति सभी की अपेक्षा पिता है—अपने पिता का भी पिता है! 'पिताजी' कहलाने का अर्थ इतना ही है कि वह अपने पुत्र की अपेक्षा पिता है। इसी प्रकार अगर हम अन्यान्य लोकव्यवहारों के विषय में सूक्ष्म और गंभीर प्रज्ञा से विचार करें तो पता चलेगा कि नय-सिद्धान्त को स्वीकार किये बिना हमारी गाड़ी चल ही नहीं सकती।

तो वस्तु में अनन्त धर्म हैं और उन धर्मों को जानने के लिए दृष्टिकोण या नय भी अनन्त हैं। उनमें से एक नय यह भी है कि भूतकाल में जो वस्तु जैसी थी, उसे वर्त्तमान में वैसी कही जाय; जैसे कि राज-सिंहासन से भ्रष्ट हो चुके व्यक्ति को, भूतकाल की अपेक्षा से, वर्त्तमान में राजा कहा जाता है। इसी प्रकार एक नय की अपेक्षा से, भविष्य में जो वस्तु जैसी होनेवाली है, उसे वर्तमान में वैसा ही कह दिया जाता है; जैसे कि राजकुमार को राजा कह दिया जाता है। इसी नय की अपेक्षा से उल्लिखित पाठों में 'सिद्ध' पद का प्रयोग किया गया है। इन पाठों में मोक्षगत सिद्धों का अभिप्राय नहीं है, किन्तु भविष्य में निश्चित रूप से सिद्ध होने वाले अरिहंतों को ही सिद्ध कहा गया है। अरिहंतों को अपेक्षा-विशेष से सिद्ध कह देने में कोई अनौचित्य नहीं है, क्योंकि वे उसी जन्म

में सिद्ध दशा प्राप्त करते हैं और उनके तथा सिद्धों के ज्ञानदर्शन में कोई अन्तर नहीं है। इस प्रकार भविष्य का वर्त्तमान में आरोप करके अरिहंतों को सिद्ध कह देना उचित ही है।

अभिप्राय यह है कि अरिहन्त और सिद्ध पद की प्राप्ति कराने वाला धर्म ही है। यह बात तो सभी जानते हैं कि बनने वाले की अपेक्षा बनाने वाला बड़ा माना जाता है और जब बनाने वाला बड़ा माना जाता है तो धर्म ही बड़ा और ऊँचा सिद्ध होता है।

स्मरण रखना चाहिए कि धर्म जिन निर्मित नहीं, जिनदेशित है। अर्थात् जिनेन्द्र भगवान ने धर्म को उत्पन्न नहीं किया है, सिर्फ प्रकट किया है। जिसकी उत्पत्ति होती है, उसका नाश भी होता है। लेकिन धर्म का कभी नाश नहीं होता, अतएव उसकी उत्पत्ति भी नहीं हो सकती। धर्म शाश्वत भाव है। यदि धर्म का नाश हो जाय तो विश्व का अस्तित्व ही मिट जायगा किन्तु यह असंभव है। तथ्य यह है कि अरिहंतों ने समय समय पर द्रव्य क्षेत्रकाल और भाव के अनुसार नियम-उपनियम बनाकर धर्म को आगे बढ़ाया है, पर बनाया नहीं है। धर्म सदा काल था, है और रहेगा।

धर्म सर्वप्रिय वस्तु है। धर्म शब्द को सुनते ही हृदय गद्‌गद् हो जाता है। धर्म को यदि जीवन में उतार लिया जाय, अर्थात् जीवन के प्रत्येक आचार और विचार में धर्म ओतप्रोत रहे, तब तो कहना ही क्या है! सिर्फ धर्म का नाम लेने मात्र से ही मनुष्य की अनेक कामनाएँ पूर्ण हो जाती हैं। एक भिखारी किसी के द्वार

पर जाकर धर्म के नाम पर कुछ माँगता है और दाता भी धर्म के नाम पर उसे कुछ दे देता है। भिखमंगा क्या जाने कि धर्म क्या है! फिर भी धर्म के नाम पर उसे कुछ न कुछ मिल ही जाता है। यदि कोई कहे कि—सेठजी, मुझे कुछ दे दीजिए, आपको बड़ा पाप होगा! तो इस माँग का क्या परिणाम होगा, यह कल्पना करना कठिन नहीं है।

ऐसी कोई कामना नहीं है जो धर्म की आराधना करने से पूर्ण न हो सके। वस्तुतः संसार में जो भी इष्ट-मिष्ट फल दिखाई देते हैं, वह प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में धर्म के ही परिणाम हैं। असार संसार में धर्म ही एक सारभूत वस्तु है। धर्म में दानव को मानव और मानव को देव बनाने की क्षमता है। धर्म की बदौलत ही जगत् में सुख-शान्ति का प्रसार दिखलाई देता है। अगर इस धराधाम पर धर्म न रहे तो यहाँ नरक से भी बदतर दारुण दृश्य दिखाई देने लगें। माता अपने मातृधर्म का पालन करके अपने शिशु का संगोपन करती है। पुत्र अपने पुत्रत्वधर्म से प्रेरित होकर अशक्त माता-पिता की सेवा-शुश्रूषा करता है। पत्नी और पति अपने दाम्पत्यधर्म का पालन करके सुखपूर्वक गृहस्थी चलाते हैं। अगर यह सब अपने-अपने धर्म का त्याग कर दें तो संसार की क्या दशा होगी? इस बात का विचार ही रोमाञ्च उत्पन्न कर देता है!

धर्म व्यापक तत्त्व है। उसके टुकड़े नहीं हो सकते। लेकिन आजकल लोगों ने धर्म के भी टुकड़े करने की कोशिश की है।

इसका कारण या तो एकांगी संकीर्ण दृष्टिकोण है या स्वार्थ! कारण कुछ भी हो, इस समय दुनिया में करीब ३००-४०० धर्म अर्थात् पन्थ प्रचलित हैं। सभी अपने-अपने पन्थ को ऊँचा और सच्चा बतलाते हैं और दूसरे पंथों को मिथ्या कहते हैं। परन्तु सचाई यह है कि धर्म टुकड़े होने योग्य वस्तु ही नहीं है। धर्म निराकार वस्तु है और जो निराकार है उसके टुकड़े कैसे हो सकते हैं?

धर्म के यथार्थ स्वरूप को न समझने वाले लोग पथ, सम्प्रदाय या मजहब को ही धर्म मान बैठे हैं; किन्तु गंभीर विचार से प्रतीत होता है कि दोनों में बहुत अन्तर है। धर्म नित्य और व्यापक तत्त्व है, पंथ उत्पन्न होते और नष्ट होते रहते हैं। उनमें धर्म की व्यापकता नहीं—संकीर्णता होती है। धर्म आत्मा है, पंथ उसका शरीर है। अस्त्र-शस्त्र शरीर के टुकड़े कर सकते हैं, आत्मा के नहीं। पथ नष्ट हो सकता है, धर्म अविनश्वर है।

श्री उत्तराध्ययन सूत्र के चौदहवें अध्ययन में एक महत्त्वपूर्ण संवाद का उल्लेख आया है। वह इस प्रकार है—

भृगु पुरोहित के पुत्रों को जातिस्मरणज्ञान उत्पन्न होता है और वे तीव्र वैराग्य से प्रेरित होकर दीक्षा लेने को तैयार हो जाते हैं। भृगु पुरोहित उनकी दीक्षा में बाधक बनता है। मोह-ममता में मस्त पुरोहित उनसे कहता है—हे पुत्रों! तुम परलोक की साधना के लिए गृह त्याग कर दीक्षित होना चाहते हो और अपने

आपको मोक्ष प्राप्ति के लिए संयम की साधना में लगाना चाहते हो। तुम्हारी इच्छा है कि अल्प-कालीन वर्त्तमान जीवन के सुखों का परित्याग करके तपस्या आदि करने से परलोक सुखमय और कल्याणमय बन जाएगा किन्तु तुम भ्रम में पड़े हो। पारलौकिक सुखों की मिथ्या तृष्णा तुम्हें कुपथ की ओर प्रेरित कर रही है। जो कुछ है, यही लोक है। परलोक में जाने वाली आत्मा नामक कोई शाश्वत वस्तु नहीं है। संयोग से उत्पन्न होने वाली और समय पाकर विनष्ट हो जाने वाली चेतना के अतिरिक्त आत्मा कुछ भी नहीं है। जैसे अरणि नामक काष्ठ के सघर्षण से अग्नि उत्पन्न हो जाती है, दूध से मक्खन और तिलों से तेल उत्पन्न होजाता है, उसी प्रकार चेतना भी पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश नामक पाँच भूतों के संयोग से उत्पन्न होती है। यह भूत जब बिखरते हैं तो चेतना भी नष्ट हो जाती है और खेल खत्म हो जाता है। परलोक से आने वाली और परलोक में जाने वाली आत्मा नामक कोई सत्ता नहीं है। फिर किसके कल्याण के लिए प्राप्त सुखों का परित्याग करके संयम के कष्टों को स्वीकार कर रहे हो?

अपने पिता की बात सुनकर पुत्रों ने कहा—पिताजी, हम आपका आदर करते हैं, पर यह तो कहना ही पड़ेगा कि आपके विचार भ्रमपूर्ण हैं। आत्मा शाश्वत पदार्थ है। उसका उत्पाद या विनाश नहीं होता। इन्द्रिय-ग्राह्य न होने के कारण ही उसकी सत्ता में सन्देह या भ्रम होता है; किन्तु यह नहीं मान लेना

चाहिए कि जो हमारी इन्द्रियों द्वारा ग्राह्य नहीं है, उसका अस्तित्व ही नहीं है। इन्द्रियों की शक्ति अत्यन्त सीमित है। वे स्थूलरूपी पदार्थों को ही जान सकती है। अरूपी पदार्थ इन्द्रियों के विषय नहीं होते और सूक्ष्म रूपी पदार्थों को जानने की उनमें शक्ति नहीं है। किन्तु इन्द्रियों से उत्पन्न होने वाले ज्ञान के अतिरिक्त और भी ज्ञान हैं, जिनसे आत्मा का स्वतन्त्र अस्तित्व सिद्ध होता है। आत्मा आत्मभाव से सदैव रहता है। वह अमूर्त्तिक पदार्थ है। उसमें रूप नहीं, रस नहीं, गंध नहीं, स्पर्श नहीं। उसकी प्रत्यक्ष में दिखने वाली साकार अवस्था शरीर आदि के कारण ही है। यह आत्मा अनादि काल से है और अनन्त काल तक रहेगा। परलोक से आया है और परलोक में जाने वाला भी है; उसी आत्मा के कल्याण के लिए हम संयम दीक्षा अंगीकार करना चाहते हैं। आप संयम को कष्टमय समझते हैं, किन्तु संयम में निराकुलता का जो अद्भुत आनन्द है, वह तीन लोक के वैभव की प्राप्ति में भी नहीं है।

पिता ने अपने पुत्रों को बहुत वरगलाया, किन्तु उन्हें तो पूर्वजन्मस्मृतिरूप विशिष्ट ज्ञान प्राप्त हो चुका था। वे कब किसी के चंगुल में फँसने वाले थे? सच तो यह है कि आत्मज्ञानी को कोई भी पथभ्रष्ट नहीं कर सकता। हां, आत्मज्ञान भी बिना साधना के अनायास ही नहीं हो सकता।

रंग लागत लागत लागत लागत है।
भ्रम भागत भागत भागत है॥

यह अनादि काल का सोया जीवड़ा ।
जागत जागत जागत है ॥

यह जीव अनादिकाल से सोया हुआ है। यदि कोई जागा हुआ, सावधान मनुष्य आकर सोये हुए को जगाये तो वह जाग सकता है, लेकिन जो मनुष्य स्वयं ही सोया हुआ हो वह दूसरे को कैसे जगा सकता है? जो स्वयं जागृत है वही दूसरे को जगा सकता है।

किसी किसान का गेहूँ का खेत काटा जा रहा था। सन्ध्या का समय सन्निकट था। अतएव किसान ने खेत काटने वाले आदमियों से कहा—खेत जल्दी-जल्दी काटो, शाम आ रही है!

काटने वालों ने कहा शाम ही तो आ रही है, कोई शेर तो नहीं आ रहा है!

खेत का मालिक बोला—शेर के आने का उतना डर नहीं, जितना शाम के आने का डर है। शाम होने से अंधेरा हो जायगा और फिर खेत नहीं काटा जा सकेगा।

उस खेत के एक कोने में शेर बैठा-बैठा यह बातें सुन रहा था। उसे यह सब वार्त्तालाप सुनकर बहुत भय लगा। उसने समझा—'शाम नामक कोई जानवर आने वाला है जो मुझसे भी अधिक बलवान् है। इसी कारण किसान मेरी अपेक्षा शाम से अधिक डर रहा है! यह सोचकर शेर भयभीत होकर वहीं छिपाकर चुपचाप बैठा रहा।

थोड़ी देर में शाम हो गई। खेत काटने वाले आदमी और खेत का मालिक अपने अपने घर चले गये। कुछ ही देर में एक कुम्हार अपने गधे को ढूँढता हुआ उधर आ निकला। कुम्हार लम्बा-तगड़ा आदमी था। उसके हाथ में एक मोटा डंडा था और उसने काला कम्बल ओढ़ रक्खा था। इस रूप में कुम्हार को देखकर शेर ने समझा-शामत आ गई! शेर डर का मारा और भी सिकुड़ कर बैठ गया।

मनुष्य के कारण ही पलायन हो गया था। कुम्हार को दिखाई भी कुछ कम देता था। इस कारण ज्योंही उसकी नजर शेर पर पड़ी त्यों ही उसका क्रोध भड़क उठा। उसने आव देखा न ताव और शेर की पीठ पर तीन-चार डंडे कसकर जमा दिये। कुम्हार ने शेर को गधा समझ लिया और शेर ने कुम्हार को शामत समझ लिया। इस प्रकार दोनों ही वास्तविकता भूल कर भ्रम में पड़ गये।

शेर डर का मारा चुपचाप कुम्हार के आगे हो लिया। आगे आगे शेर चलने लगा और पीछे-पीछे डंडा लिये कुम्हार। दोनों एक नदी के किनारे पहुँचे। संयोगवश उसी समय एक बब्बर शेर जंगल से पानी पीने के लिए वहाँ आया हुआ था। उसने देखा मेरा एक सजातीय भाई इस प्रकार कुम्हार द्वारा सताया जा रहा है और यह लोमड़ी बना हुआ है। बब्बर शेर को इस बात का बड़ा खेद हुआ कि इस शेर ने अपनी असलियत को भुला दिया है। उसके दिल को गहरी चोट लगी। तब उसने पिटने वाले शेर से कहा-क्या भाई यह कौन है और तुम्हें क्यों पीट रहा है?

पिटने वाला शेर घबरा कर बोला—चुप रहो चुप ! बोलो मत। कहीं यह सुन लेगा तो तुम्हारी भी पिटाई हो जायगी ! यह शाम है !

बब्बर शेर ने कहा —शाम ही तो है; फिर डरने की क्या बात है ! तूँ एक वार गर्जना कर। देख इसका क्या परिणाम आता है !

इस प्रकार आश्वासन और प्रोत्साहन पाने पर भी पिटने वाले शेर में साहस का संचार नहीं हुआ। उसे भय बना रहा कि इसके कहने में आकर कहीं अधिक न पीटा जाऊँ। किन्तु वाणी में भी बड़ी शक्ति होती है। आखिर बब्बर शेर की वाणी से प्रभावित होकर पिटने वाले शेर को हिम्मत बंधी और गर्जना की !

सिंह भले ही अपने स्वरूप को भूल गया था, पर उसका स्वभाव नष्ट नहीं हो गया था। आखिर सिंह तो सिंह ही था। उसकी दहाड़ भी वही हृदय को थर्रा देने वाली दहाड़ थी। उसे सुनकर कुम्हार सिर से पैर तक काँप उठा। आँखों के सामने और भी गहरा अँधेरा छा गया। वह भयभीत होकर भागा और ऐसा गायब हुआ जैसे गधे के सिर से सींग ! कुम्हार ने उस शेर को तभी तक उल्लू बना रक्खा था, जब तक वह अपने स्वरूप को स्वयं भूला हुआ था।

इसी प्रकार आज यह संसारी आत्मा अपने असली स्वरूप को भूला हुआ है। राग, द्वेष, मोह आदि विकाररूपी कुम्हार उसे सता रहे हैं। धर्म के नाम पर अपनी दुकानदारी चलाने वाले स्वार्थी [illegible] है !

किन्तु कुछ भी हो, आत्मा का स्वभाव आत्मा में विद्यमान ही रहता है। वह छिप सकता है, नष्ट नहीं हो सकता। हे सत्पुरुषों! अगर तुम अपने स्वरूप को समझ कर, अपनी अनन्त शक्ति को पहचान कर जागृत हो जाओगे और गर्जना करोगे तो उसी समय इन कुम्हारों (मिथ्यात्वियों) के चंगुल से छूट जाओगे।

संसार में आज जो भी मत-मतान्तर प्रचलित हैं, उनके भुलावे में मत पडो। धर्म अनेक नहीं हो सकते। धर्म तो एक और अखड तत्त्व है। उसे पहचानो और अपनी असलियत को भी समझने का प्रयत्न करो। फिर तुम्हें कोई भ्रम में नहीं डाल सकेगा।

जैन, सनातन, आर्य आदि सभी शब्द सुन्दर हैं, लेकिन उनके अर्थों के अनुसार प्रवृत्ति होनी चाहिए। मैं अपने निज के सम्बन्ध मे जब विचार करता हूँ तो ज्ञात होता है कि मैं जैन हूँ, सनातन हूँ, आर्य भी हूँ और सिक्ख भी हूँ। यह सुनकर आपको आश्चर्य नहीं होना चाहिए। अपनी इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करने वाला या इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करने वालों के पथ का अनुसरण करने वाला जैन कहलाता है, इसलिए मैं जैन हूँ। सनातन का अर्थ है—सदा रहने वाला। तिलक, छापा या जनेऊ के कारण ही कोई सनातन नहीं कहला सकता। सिर्फ साइन-बोर्ड लगाने मात्र से कोई दुकानदार नहीं बन जाता। दुकानदारी साइन-बोर्ड पर निर्भर नहीं है, वरन दुकान में रहे हुए माल पर निर्भर है। एक जबान हो, दुकान में सामान हो और मन में ईमान हो, फिर भले ही साइन-बोर्ड न हो तो भी वह सच्चा दुकानदार है। साइन-

बोर्ड लम्बा-चौड़ा लगा दिया, सुन्दर अक्षरों में लिखवा कर प्रदर्शन कर दिया, परन्तु दुकान में उसके अनुसार सामान न हुआ तो दुकानदारी क्या खाक चलेगी! वह तो ग्राहकों को धोखा देना ही कहलाएगा! और जिस दुकान में माल ही न हो, वहाँ जाने वाले ग्राहकों को मिल ही क्या सकता है?

एक चोर किसी ढोली के घर चोरी करने गया। खटके की आवाज सुनकर ढोली समझ गया कि घर में चोर घुस आया है। ढोली को एक उपाय सूझा और उसने अपनी स्त्री से जोर से कहा कि—वह गहनों का डिब्बा कहाँ है? ढोली ने यह प्रश्न जोर से से किया, ताकि चोर भी उसे सुन सके।

ढोली की स्त्री ने कहा—गहनों का डिब्बा तो चूल्हे के पास रक्खा है। स्त्री का उत्तर सुनकर चोर अँधेरे में टटोलता हुआ चुपचाप चूल्हे के पास पहुँचा। वहाँ एक हँडियाँ औंधी रक्खी थी। अंधेरे में उस पर हाथ फेरने से चोर के हाथ काले हो गए। चूल्हे के ऊपर की ओर कुछ जाले लगे थे। चोर के मुँह पर जाले भी चिपक गये। जब चोर ने मुँह पर हाथ फेर कर जाले हटाने क प्रयत्न किया तो हाथों की कालौंच मुँह पर पुत गई! चोर का मुँह काला हो गया।

चोर का एक साथी भी था और वह चौकसी करने के लिए मकान के बाहर खड़ा था। उसने खिड़की में से कुछ इशारा किया सो उसकी आवाज सुन कर अन्दर वाला चोर खिड़की में से बाहर

झाकने लगा। चन्द्रमा की रोशनी में उसका मुँह देख कर बाहर वाले साथी ने कहा अरे मेरा मुँह तो काला हो गया है!

उसकी यह बात सुन कर पीछे से ढोली बोला—मुँह इसका नहीं, मेरा काला हो गया! यह तो अभी घर जाकर धो लेगा, लेकिन मेरा तो सदा के लिए मुँह काला हो गया। हमेशा तुम लोग मुझे बदनाम करोगे कि ढोली के घर में दो रोटियों का आटा तक नहीं मिला!

तो सज्जनो! ढोली के मकान की तरह जिसकी दुकान में कुछ भी नहीं है, वहाँ मिलना ही क्या है! चाहे यह तिलक-छापे और जनेऊरूपी साइन-बोर्ड न हो, लेकिन ज्ञान का माल और ईमान अर्थात् सचाई होनी चाहिए। यह हुआ तो ग्राहक अपने आप आएँगे।

आशय यह है कि मैं अनादि अनन्त आत्मस्वरूप होने के कारण सनातन हूँ। मैं आर्य भी हूँ। आर्य का अर्थ है श्रेष्ठ। मैं तप, जप, संयम, अहिंसा आदि आर्य कर्मों का आचरण करने वाला हूँ इसलिए मैं आर्य हूँ।

मैं सिक्ख भी हूँ। 'सिक्ख' शब्द शिष्य का अपभ्रंश है। शिक्षा देने वाला शिक्षक और ग्रहण करने वाला शिष्य कहलाता है। शास्त्र और गुरू की आज्ञा मानने के कारण मैं शिष्य (सिक्ख) हूँ।

शब्दों के ऊपरी और रूढ़ अर्थों का विचार करने से उनकी वास्तविकता का पता नहीं चलता। सच्चा अर्थ समझने के लिए गहराई में जाकर विचार करना चाहिए। शब्दों का अर्थ ठीक प्रकार से जानकर उनके अनुसार आचरण भी करना चाहिए। अगर सारा संसार आज जैन न कहला कर सही अर्थों में आर्य ही कहलाए तो भी सब सुखी हो सकते हैं, क्योंकि उस स्थिति में जैनत्व और आर्यत्व में कोई अन्तर नहीं रह जाता। जो विशुद्धपूर्ण आर्यत्व है वही जैनत्व है और जो विशुद्ध जैनत्व है वही आर्यत्व है। जैनत्व के बिना आर्यत्व नहीं टिक सकता और आर्यत्व के बिना जैनत्व नहीं टिक सकता। दोनों परस्पर सापेक्ष हैं।

सम्प्रदाय मत की उपज है और धर्म सत् की उपज है। सत् अर्थात् सत्य शाश्वत है, अतएव धर्म भी शाश्वत है। मतलब यह है कि धर्म और मत दोनों विभिन्न वस्तुएँ हैं। धर्म में व्यापकता है, मत में संकीर्णता है। धर्म अपने आराधक के चित्त में नम्रता एवं सहिष्णुता उत्पन्न करता है, मत उद्दण्डता और असहिष्णुता पैदा करता है। धर्म का अनुयायी सदा सत्य को ही सर्वोपरि स्वीकार करके उसीको अपने जीवन का लक्ष्य बनाता है, किन्तु सम्प्रदाय का अनुयायी अपनी भ्रमपूर्ण धारणाओं को भी सत्य से ऊपर समझता है और कभी कभी तो वह अपनी धारणाओं की वास्तविकता अर्थात् भ्रान्तता समझता हुआ भी उन्हीं से चिपका रहता है। वह इतना आग्रहशील बन जाता है कि सत्य का अपमान करने में भी संकोच नहीं करता। सम्प्रदाय का अनुयायी, अपने से भिन्न

सम्प्रदाय के सद्गुणीजनों को भी दुर्गुणी बतलाता है, ज्ञानियों को भी अज्ञानी कहता है और उनके सदाचार को भी दुराचार का संज्ञा प्रदान करता है। सम्प्रदाय का आधार एकान्तवाद अर्थात् दुराग्रह है, हिंसा है, जब कि धर्म का आधार अनेकान्तवाद अर्थात् विविध दृष्टिकोणों से एक ही वस्तु को समझने की कला एवं अहिंसा है। इस प्रकार सम्प्रदाय और धर्म में बड़ा अन्तर है। इस अन्तर को न समझने के कारण अनेक लोग जीवन पर्यन्त भ्रम में ही पड़े रहते हैं।

सम्प्रदाय और धर्म के अन्तर को समझाने के लिए यह भी कहा जा सकता है कि धर्म जमीन है तो सम्प्रदाय मकान है। जमीन बनाई नहीं जाती, मकान बनाये जाते हैं। मकान बनाये जाते हैं, इसलिए वे नष्ट भी होते हैं। मगर यह धरती मकान बनने से पहले भी थी, मकान बनने पर भी है और जब मकान न होगा तब भी रहेगी। मकान धरती के सहारे टिका है, धरती मकान के सहारे नहीं टिकी है। इसी प्रकार मत, पंथ या सम्प्रदाय, धर्म के सहारे खड़े हैं, उत्पन्न भी होते हैं और नष्ट भी होते हैं। मगर धर्म को किसी सम्प्रदाय या पंथ के अवलम्बन की आवश्यकता नहीं। वह न कभी उत्पन्न होता है, न नष्ट होता है।

धर्म सदैव सुखदायक है, कल्याणकारक है, श्रेयस्कर है, लेकिन उसका सम्यक् आचरण होना चाहिए। मिश्री मीठी होती है और आनन्ददायक भी होती है लेकिन उसे यदि खाने के बदले अपने

या किसी दूसरे के माथे में मारी जाय अर्थात् दुरुपयोग में लाई जाय तो वही दुःख का कारण बन जाती है। इसी प्रकार धर्म के ठीक स्वरूप को समझ कर यदि उसे अपनाया जाय तो वह कल्याणकारी हो सकता है और यदि उसके स्वरूप को ठीक तरह न समझा गया और हिंसा आदि में धर्म माना गया तो वह कल्पित धर्म-वस्तुतः अधर्म-दुःख का ही कारण बन जाता है। ऐसा धर्मसुख के बदले दुःख ही देगा और मामला उलट-पलट हो जायगा।

एक डोम किसी गांव को जा रहा था। लम्बा रास्ता तय कर चुकने के कारण वह थक कर चूर हो गया। उसके पैर लड़खड़ाने लगे और आगे न बढ़ने के लिए मचलने लगे। तब उसने किसी वृक्ष की छाया में बैठ कर सुस्ता लेने का विचार किया। बैठकर वह खुदा से प्रार्थना करने लगा—'या खुदा! तूँ ने सवारी करने के लिए किसी को घोड़ा, किसी को हाथी और किसी को मोटर दी है। क्या तेरे दरबार में मेरी सुनवाई नहीं होगी? मोटर न सही, हाथी न सही, एक मामूली सा टट्टू मिल जाय तो मैं उसी पर सन्तोष कर लूँगा। ऐ खुदा! तेरे दरबार में सुना है, इन्साफ होता है। तेरे लिए सभी इन्सान समान हैं। फिर यह अन्याय क्यों हो रहा है?

इस प्रकार खुदा से प्रार्थना करने वाले उस डोम की आवाज उसी रास्ते पर जाते हुए पुलिस के एक थानेदार ने सुन ली। उसने आवाज देकर डोम को अपने पास बुलाया। यद्यपि उसकी

थकावट मिटी नही थी और पैर उसी प्रकार बेहाल हो रहे थे, फिर भी थानेदार साहब की बुलाहट की उपेक्षा करना संभव नहीं था। डोम थानेदार के पास पहुँचा तो थानेदार ने कहा—मेरी घोड़ी का यह नवजात बच्चा अपने पैरों चल नहीं सकता। इसे उठाकर घोड़ी के पीछे-पीछे चल। डोम ने पहले तो आनाकानी की, अपनी थकावट का रोना रोया, पर अन्त में थानेदार के डंडे से डर कर बच्चे को उठा लिया। उस बच्चे को कंधे पर लादकर डोम चलने लगा और चलता चलता मन ही मन कहने लगा—'या अल्लाहताला! सवारी तो दी, मगर चाहिए थी नीचे को और मिल गई ऊपर को!'

या मालिक! क्यों गुनाह किया, जो ऐसा टट्टू देता है।
माँगा तो चढ़ने की खातिर, उलटा सिर चढ बैठा है।

तात्पर्य यह है कि जो मनुष्य धर्म के स्वरूप को समझ कर उसकी भलीभाँति आराधना करते हैं, वही सुख के भागी होते हैं। जो ऐसा नहीं करते व सुख की अभिलाषा करते हुए भी दु:ख के के ही भागी होते हैं।

संसार में कई सम्प्रदाय हैं और उनमें से कुछ तो ऐसे हैं, जिन्होंने धर्म को उल्टा बदनाम किया है। लोग धर्म के रहस्य को तो समझने का प्रयत्न नहीं करते और ऊपर ऊपर से उन सम्प्रदायों के स्वरूप को देखकर धर्म की कल्पना कर लेते हैं। नतीजा यह होता है कि धर्म का विकृत रूप ही उनके सामने आता है। इस कारण वे धर्म के विरोधी बन जाते हैं। धर्म को

घृणा की दृष्टि से देखने लगते हैं। आजकल खास तौर से नवयुवकों के एक बड़े भाग में इस प्रकार की मनोभावना नजर विशेष रूप से आती है। हमें इस स्थिति की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। ऐसे नवयुवकों के दृष्टिकोण को सुधारने का एक ही मार्ग है और वह मार्ग है धर्म के स्वरूप को सही जानकारी देना। मैं दावे के साथ कह सकता हूँ कि जिसने धर्म के वास्तविक स्वरूप को समझा होगा, वह धर्म का विरोधी कदापि नहीं हो सकता। धर्म का विरोध करने का अर्थ—पवित्र कर्त्तव्य का विरोध करना, वह किसी अवस्था में भी उचित नहीं माना जा सकता, ऐसी बात नहीं है कि नवयुवक धर्म के सही स्वरूप को नहीं समझ सकते। प्राय: आज के युवक साक्षर हैं, उन्हें यदि आधुनिक ढंग से शिक्षक तथा धर्मगुरुवर्ग रोचक और भावपूर्ण भाषा में धर्म का वास्तविक स्वरूप समझाएँ तो वे धर्म की ओर आकर्षित हो सकते हैं और अपने भविष्य को सुखमय बना सकते हैं। हाँ! बात एक ही है कि नवयुवकों को सबसे प्रथम मानव धर्म का पाठ पढाना चाहिए, जिसमें सच्ची मानवता रही हुई है। मानव धर्म का पालन किये विना मनुष्य में मानवता नहीं आ सकती। यदि सच्चे अर्थ में कहा जाय तो मानव धर्म में ही सच्ची मानवता है, और सच्ची मानवता में ही सच्चा मानव धर्म रहा हुआ है यह दोनों परस्पर एक दूसरे के पूरक हैं। मानवधर्म विना-मानवता कैसी ? जिस पुष्प में सौरभ और जिस जलाशय में शुद्ध पवित्र जल नहीं, वह पुष्प और जलाशय ही कैसा ? जिस गुरु में गुरुत्व, जिस

सती में सतीत्व नहीं, वह गुरु और सती कैसी ? जिस राजा में न्याय और पंडित में सदाचार नहीं, वह राजा और पंडित कैसा ? जिस विचार में हित और जिस वाणी में सान्त्वना नहीं, वह विचार और वाणी कैसी ? जिस रत्न में कान्ति और मोती में पानी नहीं, वह रत्न और मोती कैसा ? जिस धनी में दातृत्व और जिस सौन्दर्य में शील नहीं, वह धनी और सौन्दर्य कैसा ?

ठीक इसी तरह जिस मानव में मानव धर्म नहीं वह मानव कैसा ? हाँ ! आज मानव-धर्म बिना मानवता अपमानित होकर जहाँ तहाँ ठोकरें खा रही है। मानवता के अपमान की सुनवाई प्राय कहीं भी नहीं हो पाती। ऊँचे २ न्यायालयों में जहाँ पर अनेकों के मान हानि की सुनवाई होती है, हाय ! मेरी मान-हानि की वहाँ भी कोई सुनवाई नहीं होती। हाँ हो भी कैसे ? जब उच्च न्यायाधीश ही लोभ के वश होकर रिश्वत लेकर मेरा अपमान कर रहा हो, तब उसकी वाणी और लेखनी मेरी मान-हानि के निर्णय के लिए कैसे दुस्साहस कर सकता है यदि मैं उच्च कोटि के शिक्षणालयों में जाती हूँ, प्राय वहा भी मैं शिक्षक और विद्यार्थियों द्वारा तिरस्कृत ही होती हू। अर्थात् वहाँ भी प्राय मेरी कदर करने वाले नहीं मिलते। यदि मैं बड़े बड़े व्यवसाइयों के केन्द्रालयों में जाती हूँ तो वहाँ भी मैं अपने को अपमानित ही पाती हूँ। मोटे मोटे धनी सफेद चाँदी के टुकड़ों और कागज के टुकड़ों में फँस कर मुझे भुलाये बैठे है। इतना ही नहीं कितने ही माया के पुजारी तो मेरा खुल्लम

खुला अपमान कर रहे हैं । ओह ! मानव तूँ मेरे प्रति इतनी उपेक्षा बुद्धि क्यों रख रहा है। याद रख, मेरा अपमान करके कोई फला - फूला नहीं। आज जो फले - फूले नज़र आते हैं, यह मेरे ही पूर्व सन्मान का फल है। भगवान महावीर भगवान रामचन्द्र. श्री कृष्ण और महात्मा बुद्ध तथा महात्मा गाँधी जैसी महान् आत्माओं को उच्चासन देने वाली प्रथम भूमि का रूप मैं ही हूँ। अतः हे मानव ! उच्चादर्शरूप महान् आत्मा बनना चाहता है. तो मेरा सन्मान कर अर्थात् अपने जीवन में उतार मानव, धर्मरूप मानवता के पालन में ही देश, जाति, राष्ट्र का शान्तिमय सुन्दर निर्माण और विश्व कल्याण है।

शुभम् ॥

धूलिया (प० खानदेश)
९-५-५३ शनिवार

मानव-धर्म

(३)

मंगलाचरणः—

अर्हन्तो भगवन्त इन्द्रमहिताः, सिद्धाश्च सिद्धिस्थिताः,
आचार्या जिनशासनोन्नतिकरा, पूज्या उपाध्यायकाः।
श्रीसिद्धान्तसुपाठका मुनिवरा रत्नत्रयाराधका,
पञ्चैते परमेष्ठिन प्रतिदिन कुर्वन्तु नो मंगलम्॥

उपस्थित भद्रपुरुषों तथा देवियों! हम लोग मानव कहलाते हैं हम मनुष्य का चोला धारण करके ससार में विचरण कर रहे है और ससार हमको मनुष्य कह कर पुकारता है, क्योंकि हमें मनुष्य का शरीर और मस्तिष्क मिला है, किन्तु प्रश्न यह है कि क्या मनुष्य का आकार पा लेने मात्र से ही कोई वास्तविक मनुष्य कहलाने का अधिकारी हो जाता है? मनुष्य की आकृति से ही यदि मनुष्य, मनुष्य कहला सकता हो तो वनमानुष और वह वानर, जिनकी आकृति मनुष्य सरीखी होती है, क्यों मनुष्य कहलाने के अधिकारी नहीं हैं? मगर उनकी गणना मनुष्यों में

नहीं की जाती। इससे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि मनुष्य कहलाने के लिए सिर्फ मानवीय आकृति ही पर्याप्त नहीं है। मनुष्य में कुछ और विशेषता भी होनी चाहिए। वह विशेषता, एक शब्द में कहें तो वह है मानवता। जिसमें मानवता है वही सच्चा मानव है और जिसमें मानवता नहीं वह भले ही मानव की आकृति म हो, सच्चा मानव नहीं है।

मनुष्य और चीज है तथा मनुष्यता और चीज है। इन्सान और इन्सानियत में अन्तर है। जैसे म्यान और तलवार एक ही वस्तु नहीं है, थैली और उसमें रहे हुए रुपये अलग-अलग वस्तुएँ हैं उसी प्रकार मनुष्य और मनुष्यता भी पृथक्-पृथक् वस्तुएँ हैं। दूसरे शब्दों में कहें तो कह सकते हैं कि मनुष्य यदि शरीर है तो उसमें रहने वाली मनुष्यता आत्मा है। शरीर का आदर आत्मा से ही है। आत्मविहीन शरीर को जला या दफना दिया जाता है।

इसी प्रकार मनुष्य की आकृति अपने आपमें कोई महत्व नहीं रखती जो कुछ भी महत्व है वह मनुष्यता का है। शास्त्र में चार दुर्लभ बातों का कथन किया गया है। वहाँ भी मनुष्य की आकृति को दुर्लभ नहीं कहा, मनुष्यता को ही दुर्लभ बतलाया है। कहा है—

चत्तारि परमंगाणि, दुल्लहाणीह जन्तुणो।
माणुसत्तं सुई सद्धा, संजमंम्मि य वीरियं॥

यहां चार दुर्लभ बातों में मनुष्यत्व ही दुर्लभ बतलाया है।

मानव-धर्म

(३)

मंगलाचरणः—

अर्हन्तो भगवन्त इन्द्रमहिता, सिद्धाश्च सिद्धिस्थिता,
आचार्या जिनशासनोन्नतिकरा, पूज्या उपाध्यायका।
श्रीसिद्धान्तसुपाठका मुनिवरा रत्नत्रयाराधका,
पञ्चैते परमेष्ठिन प्रतिदिन कुर्वन्तु नो मंगलम्॥

उपस्थित भद्रपुरुषों तथा देवियों! हम लोग मानव कहलाते हैं हम मनुष्य का चोला धारण करके संसार में विचरण कर रहे हैं और संसार हमको मनुष्य कह कर पुकारता है, क्योंकि हम मनुष्य का शरीर और मस्तिष्क मिला है, किन्तु प्रश्न यह है कि क्या मनुष्य की आकृति पा लेने मात्र से ही कोई वास्तविक मनुष्य कहलाने का अधिकारी हो जाता है? मनुष्य की आकृति से ही यदि मनुष्य, मनुष्य कहला सकता हो तो वनमानुष और वह वानर जिनकी आकृति मनुष्य सरीखी होती है, क्या मनुष्य कहलाने के अधिकारी नहीं हैं? मगर उनकी गणना मनुष्यों में

कारण यही है कि मनुष्य-शरीर से ही धर्म की विशिष्ट – साधना और सिद्धि की उपलब्धि की जा सकती है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि मनुष्यतन पाकर यदि वास्तविक मनुष्यता प्राप्त कर ली तब तो ठीक है, अन्यथा मनुष्यतन का कुछ भी मूल्य और महत्त्व नहीं है। नीतिकारों ने 'धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः अर्थात् जो मनुष्य धर्महीन हैं, वह पशुओं के समान हैं; यह कह कर इस तथ्य को प्रमाणित कर दिया है।

आज संसार में जो द्वन्द्व और झगड़े हो रहे हैं, उनका कारण क्याहै ? इस देश का विभाजन क्यों हुआ ? एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र की तरफ भेड़िये की तरह क्यों गुर्रा रहा है ? मानव दानव का अभिनय क्यों कर रहा है ? विचार करने पर विदित होगा कि इसका कारण मानवता या मानवधर्म का अभाव ही है। जहाँ मानवता होगी, वहाँ इस प्रकार की बुराइयाँ पनप ही नहीं सकती।

संसार में कभी पूर्ण शान्ति स्थापित हो सकती है तो मानव-धर्म की भूमिका पर ही हो सकती है। इस कारण मैं कहता हूँ-हे मानवों ! सबसे पहले तुम लोग सन्त माहात्मा बनने की महत्त्वाकांक्षा न करो, पहले सच्चे अर्थ में मानव बनने की कोशिश करो। उच्च अधिकारी का पद प्राप्त करने के लिए सर्वप्रथम विद्यार्थी बनना पड़ता है। विद्यार्थी–जीवन व्यतीत करके और विद्योपार्जन करके ही उच्च से उच्च अधिकारी का पद प्राप्त किया जा सकता। जब तक मनुष्य में मनुष्यता नहीं है, तब तक वह धर्म, गुरु, आत्मा, महात्मा और परमात्मा–किसी– को नहीं समझ सकता। मानव मे

वास्तव में मनुष्यत्व ने ही मनुष्य को असाधारण महिमा प्रदान की है। इस विराट सृष्टि में असंख्य प्रकार के जीवधारी हैं। मनुष्य सब का राजा कहलाता है। उसको यह जो गौरव प्राप्त हुआ है सो केवल मनुष्यता की बदौलत से ही। अन्यथा मनुष्य में और क्या विशेषता है ? डीलडौल में हाथी और ऊँट उससे बड़े हैं। बल में भी वे अधिक हैं। मनुष्य के शरीर का विचार करें तब तो कहना ही क्या है ! गाय भैंस आदि का गोबर मकानों की स्वच्छता के काम आता है, सिंह और हिरण आदि की चमड़ी को वैरागी-सन्यासी भी काम में लेते हैं। हाथी के दांत सुहाग के चिह्न समझे जाते हैं। चमरी गाय के बालों के बने चँवर राजाओं पर दुलाये जाते हैं और-और पशुओं के अंग-उपांग भी अनेक कामों में आते हैं। परन्तु मृतक मनुष्य के शरीर का कौन-सा अवयव काम आता है ? उसे लोग अपवित्र और अपावन समझ कर स्पर्श भी नहीं करते ! ऐसी स्थिति में मनुष्य-शरीर का क्या महत्त्व है ? कहा भी है

> गाय भैंस पशुओं की चमड़ी, आती सौ सौ काम,
> हाथी-दांत तथा कस्तूरी, बिकती महँगे दाम।
> नरतन किन्तु निपट निस्सार, इस का जीवित कारागार॥
> पशुओं का मल-मूत्र रोग का करता है प्रतिकार,
> मानव का मल-मूत्र रोग का कारण है अपरम्पार।
> मानव अहंकार बेकार, इस का जीवित कारागार॥

इतना सब होने पर भी संसार के समस्त शास्त्र मनुष्यभव की उत्तमता का एक स्वर से समर्थन करते हैं। इसका एक मात्र

कारण यही है कि मनुष्य-शरीर से ही धर्म की विशिष्ट – साधना और सिद्धि की उपलब्धि की जा सकती है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि मनुष्यतन पाकर यदि वास्तविक मनुष्यता प्राप्त कर ली तब तो ठीक है, अन्यथा मनुष्यतन का कुछ भी मूल्य और महत्त्व नहीं है। नीतिकारों ने 'धर्मेण हीना: पशुभि: समाना: अर्थात् जो मनुष्य धर्महीन हैं. वह पशुओं के समान हैं; यह कह कर इस तथ्य को प्रमाणित कर दिया है।

आज संसार में जो द्वन्द्व और झगड़े हो रहे हैं, उनका कारण क्या है ? इस देश का विभाजन क्यों हुआ ? एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र की तरफ भेड़िये की तरह क्यों गुर्रा रहा है ? मानव दानव का अभिनय क्यों कर रहा है ? विचार करने पर विदित होगा कि इसका कारण मानवता या मानवधर्म का अभाव ही है। जहाँ मानवता होगी, वहाँ इस प्रकार की बुराइयाँ पनप ही नहीं सकती।

संसार में कभी पूर्ण शान्ति स्थापित हो सकती है तो मानव-धर्म की भूमिका पर ही हो सकती है। इस कारण मैं कहता हूँ–हे मानवों ! सबसे पहले तुम लोग सन्त माहात्मा बनने की महत्त्वाकांक्षा न करो, पहले सच्चे अर्थ में मानव बनने की कोशिश करो। उच्च अधिकारी का पद प्राप्त करने के लिए सर्वप्रथम विद्यार्थी बनना पड़ता है। विद्यार्थी–जीवन व्यतीत करके और विद्योपार्जन करके ही उच्च से उच्च अधिकारी का पद प्राप्त किया जा सकता। जब तक मनुष्य में मनुष्यता नहीं है, तब तक वह धर्म, गुरु, आत्मा, महात्मा और परमात्मा–किसी– को नहीं समझ सकता। मानव में

जब तक मानता नहीं है, तब तक वह विकास के प्रथम सोपान पर भी आरूढ़ नहीं हो सकता।

प्रश्न उपस्थित होता है कि मनुष्य की पहिचान तो उसकी आकृति से हो जाता है परन्तु मनुष्यता की पहिचान कैसे हो? किस प्रकार समझा जाय कि अमुक मनुष्य में मनुष्यता है अथवा नहीं?

इस प्रश्न का उत्तर यह है कि मानवता जिसमें होगी, वह मानव कभी किसी मानव से घृणा नहीं करेगा। वह समझेगा कि सभी आत्माएँ आत्मदृष्टि से ईश्वर स्वरूप ही हैं। उनमें जो विविधरूपता दिखाई देती है, वह औपाधिक है अर्थात् कर्मजनित है। वास्तव में आत्मा और परमात्मा में कोई भेद नहीं है। दोनों में घनिष्ठ संबंध है – दोनों का मूल स्वरूप एक-सा ही है। दोनों चेतनामय हैं ज्ञानमय हैं। जो परम ज्योति परमात्मा में उद्भासित हो रही है, वही प्रत्येक संसारी आत्मा में छिपी हुई है। इसके अतिरिक्त आत्मा के अस्तित्व के बिना परमात्मा का अस्तित्व नहीं टिक सकता। आत्मा परमात्मा का बोधक है और परमात्मा आत्मा का बोधक है। एक आचार्य ने तो स्पष्ट ही कह दिया है —

य परमात्मा स एवाहं, योऽहं स परमस्ततः ।
अहमेव मया ऽऽराध्य, नान्य कश्चिदिति स्थितिः ॥

अर्थात् जो परमात्मा है वह मैं हूँ और जो मैं हूँ वही परमात्मा अतएव मेरे द्वारा मैं ही आराधना करने योग्य हूँ, अन्य कोई नहीं।

यह कोई दर्पोक्ति नहीं है। इस उक्ति में सोलह आना सचाई है। वास्तव में प्रत्येक आत्मा, परमात्मा-स्वरूप ही है। जैसा कि कुछ लोग समझते हैं, परमात्मा, आत्मा से विजातीय नहीं है।

हाँ, तो जब आत्मा और परमात्मा में भी कोई मौलिक अन्तर नहीं है और सभी प्राणी मात्र समान-गुण स्वभाव के धारक हैं, तो मनुष्य-मनुष्य में भेद कैसे हो सकता है ? वास्तव में हम सब एक ही मनुष्यता की बेल के फल हैं ! जिस प्रकार एक मनुष्य की मानव के रुधिर-वीर्य से उत्पत्ति हुई है, उसी प्रकार दूसरे की भी उत्पत्ति हुई है। अतएव यह स्पष्ट है कि चाहे कोई ब्राह्मण हो, शूद्र हो, किसी भी वर्ण या जाति का हो, पर मनुष्य-मनुष्य में कोई अन्तर नहीं है। इसलिए मनुष्यता की पहली पहचान यही है कि वह किसी भी मनुष्य से घृणा न करे।

मनुष्यता प्राप्त कर लेना ही मानवधर्म की आराधना करना कहलाता है। शरीर को ढँकने के लिए सर्वप्रथम लंगोटी की आवश्यकता होती है, पगड़ी, अंगरखा आदि की बाद में। तो जिस प्रकार पहले लंगोटी का होना अनिवार्य है, उसी प्रकार जीवन में मानवधर्म सबसे पहले होना चाहिए। मानवधर्म की नींव पर ही अन्य सब धर्म टिक सकते हैं। सम्यग्दृष्टिपन, श्रावकपन, और साधुता आदि—आगे की जितनी भी अवस्थाएँ हैं, उन सभी का मूल मानवधर्म है। जिसमें मानवधर्म का विकास नहीं होगा, वह आगे की कोई भी अवस्था प्राप्त नहीं कर सकता।

मानवता निःस्वार्थ प्रेम, स्नेह और मोहब्बत में है। जिस मानव में स्नेह नहीं है, मनुष्य के प्रति प्रीति का भाव नहीं है जो दूसरों को अपना समझ कर गले नहीं लगा सकता, उसमें मानवता भी नहीं आ सकती। सच्चा मनुष्य, जिसमें मानवधर्म का विकास हो गया है, न केवल मनुष्य के प्रति, वरन् प्राणी मात्र के प्रति प्रीति का भाव रखता है। तुच्छ से तुच्छ कीट-पतंग भी उसे अपने छोटे भाई के समान प्रतीत होते हैं। वह उन्हें भी दुःख नहीं पहुँचाना चाहता, बल्कि उनके सुख के लिए ही प्रयत्न करता है।

साइकिल पर आपने रंग-रोगन करा लिया है। वह चमक रही है। बढ़िया हॉर्न लगा लिया है। सभी कुछ सुन्दर है किन्तु उसके पहिये में यदि हवा नहीं है तो उसकी सुन्दरता किस काम की? पहिये में हवा होने पर ही साइकिल की अन्य विशेषताएँ सुविधाजनक हो सकती हैं। इसी प्रकार आपने तिलक-छापे लगा लिए, जनेऊ पहन लिया, कोई भी विशेष प्रकार का धर्म चिह्न धारण कर लिया धार्मिकता का ऊपरी दिखावा हो गया, किन्तु यदि मानवता न हुई तो यह सब बेकार है। मनुष्य को अपने जीवन के उत्थान के लिए ऊपरी साज की आवश्यकता नहीं, मानवधर्म प्राप्त करने की आवश्यकता है। मानवधर्म का जीवन में विकास हो गया तो अन्य उच्च कोटि के धर्म विकसित हो सकेंगे। मानवधर्म का विकास न हुआ तो सैकड़ों आडम्बर और दिखावे करने पर धर्म का विकास होना सम्भव नहीं है।

सिक्ख सम्प्रदाय के गुरु श्री नानकदेव ने अपने ग्रन्थ सुखमणि साहब में कहा है--

अवर उपदेशे, आपन करे,
आवत-जावत, जन्मे मरे,

खाली कहने-सुनने से काम नहीं चल सकता। पर उपदेश कुशल बहुतेरे हैं, किन्तु जो व्यक्ति अपने उपदेश को स्वयं अपने जीवन में नहीं उतारता, उसका उपदेश वृथा है। ऐसा उपदेश श्रोताओं पर कुछ भी स्थायी प्रभाव नहीं डाल सकता। यही नहीं, कोरा उपदेश देने वाला उपदेशक एक प्रकार से धृष्ट बन जाता है। अतएव प्रत्येक उपदेशक को अपना उत्तरदायित्व समझना चाहिए। उसके उपदेश को दूसरा कोई स्वीकार करे या न करे, अमल में लावे अथवा न लावे, स्वय उसे तो अमल में लाना ही चाहिए।

आज लोग समाज, देश और विश्व के उत्थान की बड़ी-बड़ी बातें करते हैं। कोई अपनी जाति के सुधार की बातें करता है, कोई देश की उन्नति की योजनाएँ प्रस्तुत करता है और कोई अखिल विश्व को कल्याण का प्रशस्त पथ प्रदर्शित करने तक के दावे में भी संकोच नहीं करता। परन्तु आश्चर्य की बात तो यह है कि अपने आपको सुधारने की ओर उनका ध्यान ही नहीं जाता! आखिर व्यक्तियों का समूह ही समाज है। समाज सुधार का अर्थ है व्यक्तियों का सुधार करना। व्यक्ति सुधरेंगे तो समाज स्वयं ही सुधर जायगा और यदि व्यक्तियों का सुधार नहीं होता तो समाज-सुधार की चिल्लाहट का कुछ भी अर्थ नहीं है। यह एक मोटी-सी बात है। फिर भी लोग इस ओर ध्यान नहीं देते। इसका कारण यही है कि उपदेश

मानवता निःस्वार्थ प्रेम, स्नेह और मोहब्बत में है। जिस मानव में स्नेह नहीं है, मनुष्य के प्रति प्रीति का भाव नहीं है, जो दूसरों को अपना समझ कर गले नहीं लगा सकता, उसमें मानवता भी नहीं आ सकती। सच्चा मनुष्य, जिसमें मानवधर्म का विकास हो गया है, न केवल मनुष्य के प्रति, वरन् प्राणी मात्र के प्रति प्रीति का भाव रखता है। तुच्छ से तुच्छ कीट-पतंग भी उसे अपने छोटे भाई के समान प्रतीत होते हैं। वह उन्हें भी दुःख नहीं पहुँचाना चाहता, बल्कि उनके सुख के लिए ही प्रयत्न करता है।

साइकिल पर आपने रंग-रोगन करा लिया है। वह चमक रही है। बढ़िया हॉर्न लगा लिया है। सभी कुछ सुन्दर है किन्तु उसके पहिये में यदि हवा नहीं है तो उसकी सुन्दरता किस काम की? पहिये में हवा होने पर ही साइकिल की अन्य विशेषताएँ सुविधा-जनक हो सकती हैं। इसी प्रकार आपने तिलक-छापे लगा लिए, जनेऊ पहन लिया, कोई भी विशेष प्रकार का धर्म चिह्न धारण कर लिया, धार्मिकता का ऊपरी दिखावा हो गया, 'किन्तु' यदि मानवता न हुई तो वह सब बेकार है। मनुष्य को अपने जीवन के उत्थान के लिए ऊपरी साज की आवश्यकता नहीं, मानवधर्म प्राप्त करने की आवश्यकता है। मानवधर्म का जीवन में विकास हो गया तो अन्य उच्च कोटि के धर्म विकसित हो सकेंगे। मानवधर्म का विकास न हुआ तो सैकड़ों आडम्बर और दिखावे करने पर धर्म का विकास होना संभव नहीं है।

सिक्ख सम्प्रदाय के गुरु श्री नानकदेव ने अपने ग्रन्थ सुखमणि साहब में कहा है:--

अवर उपदेशे, आपन करे,
आवत-जावत, जन्मे मरे,

खाली कहने-सुनने से काम नहीं चल सकता। पर उपदेश कुशल बहुतेरे हैं, किन्तु जो व्यक्ति अपने उपदेश को स्वयं अपने जीवन में नहीं उतारता, उसका उपदेश वृथा है। ऐसा उपदेश श्रोताओं पर कुछ भी स्थायी प्रभाव नहीं डाल सकता। यही नहीं, कोरा उपदेश देने वाला उपदेशक एक प्रकार से धृष्ट बन जाता है। अतएव प्रत्येक उपदेशक को अपना उत्तरदायित्व समझना चाहिए। उसके उपदेश को दूसरा कोई स्वीकार करे या न करे, अमल में लावे अथवा न लावे, स्वय उसे तो अमल में लाना ही चाहिए।

आज लोग समाज, देश और विश्व के उत्थान की बड़ी-बड़ी बातें करते हैं। कोई अपनी जाति के सुधार की बातें करता है, कोई देश की उन्नति की योजनाएँ प्रस्तुत करता है और कोई अखिल विश्व को कल्याण का प्रशस्त पथ प्रदर्शित करने तक के दावे में भी संकोच नहीं करता। परन्तु आश्चर्य की बात तो यह है कि अपने आपको सुधारने की ओर उनका ध्यान ही नहीं जाता! आखिर व्यक्तियों का समूह ही समाज है। समाज सुधार का अर्थ है व्यक्तियों का सुधार करना। व्यक्ति सुधरेंगे तो समाज स्वयं ही सुधर जायगा और यदि व्यक्तियों का सुधार नहीं होता तो समाज-सुधार की चिल्लाहट का कुछ भी अर्थ नहीं है। यह एक मोटी-सी बात है। फिर भी लोग इस ओर ध्यान नहीं देते। इसका कारण यही है कि उपदेश

देने में कोई कष्ट नहीं उठाना पड़ता, कुछ त्याग भी नहीं करना पड़ता, किन्तु आत्मसुधार करने के लिए त्याग की आवश्यकता होती है। अपने आप पर नियंत्रण करना पड़ता है, अपनी मनोवृत्तियों को काबू में लेना पड़ता है। इतना त्याग कोई करना नहीं चाहता।

बहुत-से नौजवान प्रश्न करते हैं कि पहले आत्मोत्थान करना चाहिए या पहले देशोत्थान करना चाहिए ? एक युवक ने मुझसे भी यही प्रश्न किया था। मैंने उस से पूछा—तुमने भी तो इस विषय में कुछ विचार किया होगा ?

उसने कहा—जी हाँ मेरे खयाल से तो राष्ट्र, जाति और समाज का उत्थान पहले करना चाहिए, तदनन्तर ही आत्मोत्थान हो सकता है।

मैंने उसको समझाते हुए कहा—समाज, देश और जाति का उत्थान अवश्य होना चाहिए, पर इन सब के उत्थान की कुंजी क्या है ? राष्ट्र आदि का उत्थान कैसे हो, यह प्रश्न हमारे सामने आता है। मैंने उस युवक से कहा—अगर तुम्हारी ही तरह समाज के सभी व्यक्ति अपने उत्थान को बाद के लिए छोड़ दें और पहले समाज के उत्थान की बात सोचें और उसके लिए प्रयास करें तो फिर वह समाज क्या है, जिसका उत्थान पहले होगा ? इसका अर्थ यह हुआ कि अपना उत्थान कोई करेगा नहीं और सभी दूसरे के उत्थान का प्रयत्न करेंगे। भाइयों ! यह

उत्थान का तरीका नहीं है। उत्थान का पहला कदम अपने आपको ऊँचा उठाना है। आप ऊँचे उठेंगे तो आपकी देखादेखी और प्रेरणा से दूसरे भी ऊँचे उठेंगे। इस प्रकार समाज का एक-एक अंग ऊँचा उठता जाएगा तो अन्त में सारे समाज का उत्थान हो सकेगा।

किसी भी राष्ट्र में चोरी, लूट और जुल्म क्यों होते हैं? बड़े छोटों के पथप्रदर्शक होते हैं। बड़ों के अच्छे-बुरे जीवन का छोटों पर प्रभाव पड़े बिना नहीं रहता। बड़े भूल करें तो छोटों को शिक्षा कैसे दे सकते हैं? यदि शिक्षा देने का साहस भी करें तो भी उसका असर ही क्या हो सकता है? आज बड़े-बड़े राष्ट्र जुल्म करते और लूट मचाते हैं। तो फिर छोटे राष्ट्र उनका अनुकरण क्यों नहीं करेंगे?

एक बालक खड़ा-खड़ा लघुशंका कर रहा था। किसी भद्र पुरुष की उस पर नजर पड़ी। उसे यह अशिष्टाचार अच्छा प्रतीत नहीं हुआ। उसने सोचा—इसके पिता से जाकर कहूँ ताकि बालक को समझा दे और आगे ऐसा न करने की शिक्षा दे सके इस विचार से वह बालक के पिता के पास गया। वहाँ जाने पर क्या देखता है कि उस बालक का पिता घूम रहा है और लघुशंका भी करता जाता है। यह देख कर उसने अपना माथा ठोका और सोचने लगा—पिता श्री उम्र में ही बड़े नहीं हैं, अशिष्टाचार में भी उतने ही बड़े हैं। यह भला अपने पुत्र को क्या खाक शिक्षा दे सकेंगे।

जिस देश या जिस समाज में मानवधर्म की प्रतिष्ठा होती है और उसका विधिवत् पालन किया जाता है वहाँ अन्याय और अत्याचार के लिए कोई अवकाश नहीं रहता। पर मानवधर्म के अभाव में यह बात नहीं होती। आज प्रायः देखने में आता है कि शक्तिशाली चाहे जो कुछ करे, उसे कोई पूछने वाला नहीं किन्तु कमजोरों और गरीबों की मुसीबत है! यह मानवधर्म की अवहेलना का ही फल है। इस विषमता के कारण सर्वत्र क्षोभ और असन्तोष दिखाई दे रहा है। अनेक प्रकार के वर्ग और दल कायम हो रहे हैं और उनमें आपस में निरन्तर संघर्ष चल रहा है। मजदूरवर्ग कम से कम श्रम करके अधिक से अधिक प्रतिफल पाना चाहता है और पूंजीपतियों का वर्ग अधिक से अधिक श्रम लेकर कम से कम पारिश्रमिक देना चाहता है। इन सब के मूल में मानवधर्म का अभाव ही है। जो मनुष्य सच्ची मनुष्यता प्राप्त कर लेगा अर्थात् मानवधर्म का आचरण करेगा, वह दूसरे के न्यायोचित अधिकार का अपहरण करने का विचार भी नहीं करेगा और न वह उचित से अधिक पाने की ही इच्छा करेगा। वह न्याय-नीति को ही अपने प्रत्येक व्यवहार की कसौटी बनाएगा और उसी से अपने कर्त्तव्य का निर्णय करेगा।

कर्म तो इन्सान को मार ही रहे हैं, पर मानवधर्म की उपेक्षा होने से मानव भी कमजोर मानव का दुश्मन बना हुआ है। मैं ब्लेक-मार्केट का समर्थन नहीं कर रहा हूँ। मैं उसे अधर्म और अनीति समझता हूँ फिर भी क्या यह सत्य नहीं है कि यदि एक

गरीब मनुष्य थोड़ा-सा ब्लेक कर लेता है तो सारे अफसर उसके पीछे पड़ जाते हैं और वही अफसर तथा धनीलोग हजारों-लाखों का इधर-उधर करदेते हैं तो भी उन्हें कोई नहीं पूछता! मगर कर्मसिद्धान्त में किसी की रियायत नहीं है। इसीलिए महापुरुष कहते हैं कि तूँ और कुछ फिर बनना, पहले मानव बन!

जिस मनुष्य को दूसरे के सुख-दुःख की परवाह नहीं है, वह मानव नहीं, दानव है। समझना चाहिए कि उसने मानवधर्म को अपने जीवन में स्थान ही नहीं दिया है।

किसी जीवित मनुष्य के शरीर में जरा-सी सुई चुभाई जाय तो उसे दर्द महसूस होता है। लेकिन किसी भूखे को देखकर भी जो अपना ही पेट भरने में व्यस्त हैं, नंगो को देखकर भी जो सैकड़ों पोशाकें रक्खे बैठे हैं, खुद बंगलों और कोठियों में ऐश करते हैं और हजारों दुखी, अपाहिज, स्थानभ्रष्ट और दलितजीवी जनों को सड़कों पर भटकते देख कर भी जिनके दिल में दर्द पैदा नहीं होता, क्या उन्हें जीवित कहा जा सकता है? वे मुर्दा हैं। उन्हें जिन्दा कहना जीवन का अपमान करना है।

आज हजारों-लाखों शरणार्थी बेघरबार होरहे हैं लेकिन उन्हें कोई शरण देने वाला नहीं है। शरण देना तो दूर रहा, उनसे और अधिक लाभ उठाने का प्रयत्न किया जाता है।

किसी के घर में मुर्दा पड़ा है। लेकिन कफन बेचने वाला कफन के दाम आठ आने गज की जगह बारह आने गज माँगता

है। पर कोई बात नहीं, वह तो मुसीबत में है ही। थोड़ी मुसीबत और सही! किन्तु हे अन्यायी! याद रख, अन्यायोपार्जित धन अधिक समय तक नहीं टिकने वाला है। किसी के सभी दिन एक से नहीं रहते। आज उसके लिए अगर ऐसा दिन है तो अशुभ कर्मों का उदय होने पर कभी तेरे लिए भी वैसा ही दिन आ सकता है! अतएव हे भद्रपुरुष! तूँ मानवधर्म की शिक्षा ले और न्याय-नीति के साथ जीवनयापन कर।

चन्द्रमा सूर्य से कहता है– हे सूर्य! माना कि तुझमें अत्यन्त उग्र तेज है, फिर भी अधिक जोश में मत आ। मुझ पर अधिक जुल्म न ढा। मेरे समस्त तेज और प्रकाश को खत्म मत कर। तूँ कितना ही जुल्म क्यों न कर पर मेरी हस्ती को मिटा नहीं सकता। अधिक से अधिक मेरी प्रतिभा को थोड़े समय के लिए मंद कर सकता है। खैर, मैं तो तेरी तेजी को, तेरे जुल्मोसितम को अपनी शीतलता से सहन करलूँगा, क्योंकि मुझमें ठंडक है, लेकिन याद रखना–जब तूँ मेरे शासन में आ जायगा तो तेरा नामो निशां ही मिट जाएगा।

अभिप्राय यह है कि चन्द्रमा तो कभी दिन में भी दिखाई देता है, लेकिन सूर्य रात्रि में कभी दिखाई नहीं देता।

हे जुल्म ढाने वालो! याद रक्खो, आज तुम जिन पर जुल्म ढा रहे हो, वे तो किसी प्रकार उसे सहन कर लेंगे, लेकिन जब तुम्हारा बुरा वक्त आ जायगा तो तुम्हें बचाने वाला कोई नहीं मिलेगा। एक कवि ने कहा है:—

सदा एक जैसा जमाना नहीं है,
कि दुखियों को अच्छा सताना नहीं है।
अरे महल वालो! न उनको सताओ,
जिन्हें रहने को आशियाना नहीं है।

हे भव्य जीवो! देख कर चलो। हृदय की आँखें बन्द करके मत चलो। दिल और दिमाग को अपने नियंत्रण में रक्खो। अधिक जोश में मत आओ।

जोशो खरोश में देखिए, खूबी बयान की।
पूछी जमीन की तो बतलाई आसमान की।

मनुष्य जोश में, पद के अभिमान में आकर फूल जाता है और भूल जाता है कि—

एक दशा दशरथ की, बाजत घनघोर नाद,
एक दशा दशरथ की, पुत्र-शोक मन में।
एक दशा रघुवर की, धनुप तोड़ ठाड़े भये,
एक दशा रघुवर की, भयो वास वन में।
एक दशा रावण की, जीते सुर असुर नर,
एक दशा रावण की, कुटुम्ब कटा रन में।
अरे अभिमानी नर! काहे को गुमान करे,
सूर्य भी की तीन दशा, होती एक दिन में॥

सूर्य जब उदित होता है तो रक्तवर्ण होता है। दिन चढ़ते-चढ़ते दोपहर तक इतना प्रचण्ड हो जाता है कि उसकी ओर आँख

भी नहीं उठाई जा सकती। किन्तु सन्ध्या के समय यह अस्त हो जाता है। लेकिन उसे अस्त होने का कोई खेद नहीं। जिस खुशी के साथ और जिस अनुराग को लेकर उसका उदय हुआ था, उसी खुशी और अनुराग को लेकर वह अस्त होता है। वह जानता है कि उसने कोई बुरा काम नहीं किया है। उसने सोतों को जगाया है और घोर तिमिर से आच्छन्न जगत् को अद्भुत ज्योति प्रदान करके उद्भासित किया है। उसने चर-अचर विश्व में जीवन का संचार किया है। इसी प्रकार जन्म लेकर जो मनुष्य मानवधर्म का पालन करते हैं और अपने जीवन-व्यवहार में अधर्म को प्रश्रय नहीं देते, अच्छे काम करते हैं और बुरे काम नहीं करते, उन्हें मरने का कोई मलाल नहीं होता। वे मित्र मान कर मृत्यु का आलिंगन करते हैं। वे मृत्यु को जर्जर शरीररूपी कारागार से छुड़ा लेने वाला हितैषी सुहृद् मानते हैं। इसके विरुद्ध, जो लोग अधर्म के कीचड़ में फँसे रहते हैं, वे पछताते हुए, छटपटाते हुए और हाय हाय करते हुए दम तोड़ते हैं। मानवधर्म के पालन करने का यह फल कोई मामूली फल नहीं है। वास्तव में मानवधर्म जन्म को भी धन्य बनाता है और मृत्यु को भी धन्य बना देता है।

कभी-कभी ऐसा भास होने लगता है कि मानवधर्म का पालन न करने वाले मजे उड़ा रहे हैं और मानवधर्म को अपने जीवन का आदर्श बना लने वाले सकट भुगत रहे हैं। किन्तु ऐसी स्थिति स्थायी नहीं होती। जिसने दृढतापूर्वक धर्म का पल्ला पकड़ा है, वह इस प्रकार की विषम एव विपरीत अवस्था में भी उद्भ्रान्त

नहीं होता और अपने विवेक के दीपक को प्रज्वलित रखता है। अपने सामने कठिनाइयाँ देख कर कातर नहीं बनता और मृत्यु को सन्मुख देखने पर भी उसका मुख मलीन नहीं होता। वह जानता है कि साधना के पथ में अनेक आपत्तियाँ आती हैं अतएव वह अपने पथ को अवरुद्ध नहीं होने देता और समस्त विघ्न-बाधाओं को अपने फौलादी पंजों से कुचलता हुआ आगे ही आगे बढ़ता चला जाता है।

अनभिज्ञ जन कभी-कभी धर्म-साधक के साथ बुरी तरह पेश आते हैं। वे साधक का उपहास भी करते हैं; परन्तु सच्चा साधक उन्हें भी अपनी साधना में सहायक ही समझता है।

एक समय की बात है। हम कुछ सन्त चातुर्मास समाप्त करके रावलपिण्डी से वापिस लौट रहे थे। लालामूसा नगर के पास कुछ कुम्हारों ने हम को देखा। देखते ही उनके कान खड़े हो गए। एक ने पूछा— ये लोग कौन हैं?

दूसरे ने कहा—इनके देश में सब ऐसे ही होते हैं!

तीसरा—मगर इन्होंने मुँह क्यों बाँध रक्खा है?

चौथा—इसलिए कि खेती पकी खड़ी है। कहीं उसमें मुँह न मार दें! यह कितना भद्दा उपहास है? चौथे आदमी की बात पशुओं पर लागू होती है। पशु ही चलते-चलते मुँह मार कर खेत खा जाते हैं। मनुष्य पर यह बात लागू नहीं होती। परन्तु वह बेचारा क्या करता? उसके पास ऊँची कल्पना नहीं थी।

विवेक नहीं था। जिसके पास जैसी वस्तु होती है, वह वैसी ही दे सकता है। कहा भी है :—

> जा पै जैसी वस्तु है, वैसी दे दिखलाय।
> या का बुरा न मानिए, लेन वहाँ पै जाय॥

हाँ, तो वे लोग उपहास करके प्रसन्न हो गए और हम उनकी बाल चेष्टा को देख-सुनकर प्रसन्नतापूर्वक चल दिये।

आप हमारे साथ बीती इस उपहास-भरी घटना को सुन कर हँस रहे हैं। परन्तु कदाचित् आपके साथ ऐसी बीते तो आप क्या करेंगे?

> दूसरों की लगी को दिल्लगी मानते हैं।
> अपने लगे तो लगी मानते हैं॥

किन्तु जिन्होंने गजसुकुमार का जीवन वृत्तान्त सुना या पढ़ा है, मेतार्य मुनि का इतिहास बाचा है, स्कंधक मुनि की कथा पढ़ी है और कामदेव श्रावक की जीवनी के पन्ने पलटे हैं, वे जानते हैं कि धर्म की आराधना करने वाले की विचारधारा कैसी होती है! उनके दयामय अन्तःकरण से अपने हत्यारे के प्रति भी करुणा का विमल प्रवाह ही बहता है। उसका भी वे कल्याण ही चाहते हैं।

सच्चा धर्मनिष्ठ साधक शत्रु और मित्र को समान भाव से देखता है। वह जानता है कि प्रत्येक के अन्तरतर में अनिर्वचनीय

ज्योतिपुंज विराजमान है। घट-घट में परमात्मा का वास है। फिर भी आज जो विपरीत प्रवृत्ति किसी की दीख पड़ती है, उसका कारण कर्म हैं। यह कर्म किसी के सगे नहीं बने। राव-रंक, योगी-भोगी, सधन-निर्धन, देव-दानव सब पर इनका अप्रतिहत शासन है। इन कर्मो के कारण ही कोई ज्ञानी और कोई अज्ञानी बना है। जीव-जीव में जो अन्तर है, वह सब कर्मो का ही प्रभाव है। शायर कहता है :—

एक एक को एक से आला बना दिया,
इन कर्मो ने किसी को दारा तो किसी को सिकन्दर बना दिया।

व्याख्यान के प्रारंभ में ही मैंने बतलाया है कि सच्चा धर्मात्मा मनुष्य, किसी भी मनुष्य से घृणा नहीं कर सकता। घृणा करना पाप है और कोई भी धर्मशास्त्र इस पाप का समर्थन नहीं कर सकता। अगर कोई शास्त्र मनुष्य के प्रति घृणा करने का विधान करता है तो समझना चाहिए कि वह सच्चा शास्त्र नहीं है। वह मानव जाति के टुकड़े टुकड़े करने वाला भयानक शस्त्र है!

आज अनेक लोग मनुष्य जाति के एक बड़े वर्ग को अछूत या अन्त्यज कह कर ठुकरा रहे हैं। यह सर्वथा अनुचित है। अपने आप को ऊँचा और दूसरों को नीचा समझना अभिमान का दुष्परिणाम है। मनुष्य जाति एक और अखण्ड है। शास्त्र कहता है—

न दीसई जाइ विसेस कोवि।

—उत्तराध्ययन सूत्र

अर्थात्—मनुष्य-मनुष्य में जाति की कोई विशेषता नहीं दिखाई देती है। जहाँ जाति में भेद होना है, वहाँ आकृति में भी भेद होता है। परन्तु मनुष्यों की आकृति में कोई अन्तर नहीं है। इसीलिए यह भी कहा गया है—

मनुष्यजाति रेकैव।

—आदि पुराण

अर्थात् सभी मनुष्यों की जाति एक ही है।

कई लोग समझते हैं कि स्पृश्य और अस्पृश्य का भेद कर्मोदय के कारण है। किन्तु उनकी समझ भी ठीक नहीं है। आखिर आठ कर्मों में से कौन-सा कर्म है जो किसी को स्पृश्य और किसी को अस्पृश्य बनाता हो? कहा जा सकता है कि जिसके नीच गोत्र कर्म का उदय है, वे अस्पृश्य होते हैं। किन्तु यह मान्यता टिक नहीं सकती। शास्त्र के अनुसार सभी पशुओं के नीच-गोत्र कर्म का उदय है तो क्या वे सब अस्पृश्य समझे जाते हैं? गाय और भैंस को अस्पृश्य कर क्या कोई उनके दूध का त्याग करता है? कौन उच्चता का अभिमानी ऐसा है जो घोड़े और हाथी को अस्पृश्य समझ कर उन पर सवारी न करता हो? ऐसी स्थिति में यह मान्यता शास्त्र सगत सिद्ध नहीं हो सकती। वास्तव में स्पृश्य-अस्पृश्य व्यवस्था लोकाचार मात्र है, जिसकी उत्पत्ति घृणा, द्वेष और अभिमान से हुई है।

वर्णव्यवस्था का विधान आजीविका के आधार पर हुआ था और समाज की सुविधा के लिए किया गया था। किन्तु बाद में

उसमें विकार आ गया और छुआछूत की बुराई भी उत्पन्न हो गई। भगवान् महावीर ने उस बुराई को दूर करने का भरसक प्रयत्न किया। भारतवर्ष के इतिहास में भगवान् महावीर ही पहले व्यक्ति थे, जिन्होंने अस्पृश्यता के विरुद्ध आवाज बुलन्द की और लोगों को समझाया—

कम्मुणा बंभणो होइ, कम्मुणा होइ खत्तिओ।
वइसो कम्मुणा होइ, सुद्दो हवइ कम्मुणा ॥

—उत्तराध्ययन

अर्थात् आजीविका के कारण ही ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र का भेद होता है।

इससे स्पष्ट है कि वर्ण-व्यवस्था आजीविका पर अवलम्बित है, जन्म पर नहीं। ब्राह्मण की सन्तान होने मात्र से कोई ब्राह्मण नहीं हो सकता। ब्राह्मण का कर्म अर्थात् आचार ही किसी को ब्राह्मण बनाता है। ब्राह्मण के छह कर्म हैं—विद्या पढ़ना, पढ़ाना, दान देना और लेना, अहिंसात्मक यज्ञ करना, कराना। यज्ञ करना-करवाना न कहकर अहिंसात्मक यज्ञ करना-करवाना कहने का अभिप्राय यह है कि लोगों ने जिह्वालोलुपता के वशीभूत होकर यज्ञों को हिंसात्मक बना दिया है। मगर व्यासजी के शब्दों में—

हिंसा नाम भवेद् धर्मो भूतो न भविष्यति।

अर्थात्—हिंसा न कभी धर्म हुआ, न है और न होगा।

संसार के सभी प्राणी जीना चाहते हैं, मरना कोई नहीं चाहता यज्ञ के लिए कल्पित दीन पशु की पुकार सुनिये —

> कहे पशु दीन सुन यज्ञ के करैया मोहि,
> होमत हुताशन में कौनसी-बड़ाई है।
> स्वर्ग सुख मैं न चहूँ देहु मोहि यों न कहूँ,
> घास खाय रहूँ मेरे मन यही भाई है।
> जो तूँ यों जानत है वेद यों बखानत है,
> जग्य जर्यो जीव पावे स्वर्ग सुखदाई है,
> जारे क्यों न वीर ! या में अपने कुटुम्ब ही को,
> मोहिं जिन जारे जगदीश की दुहाई है॥

दूसरे के घर में आग लगाना आसान है, पर याद रख, जो तूँ पड़ौसी के घर में लगी आग को देखकर हँसता है, तो थोड़ी देर में तुझे रोना भी पड़ेगा, क्योंकि तेरी और पड़ौसी की झौंपड़ी मिली हुई है। पड़ौसी की झौंपड़ी जली नहीं कि तेरी झौंपड़ी का नम्बर आने ही वाला है। हाँ, तूँ अपनी झौंपड़ी बचाना चाहता है तो सुन्दर मार्ग यही है कि तूँ पड़ौसी की झौंपड़ी में लगी आग बुझा। अगर तूँ पड़ौसी की लगी को नहीं बुझाता है तो समझ ले कि तूँ अपनी ही झौंपड़ी जला रहा है।

जिसके दिल में मानवता होगी वह दुखी को देखकर अवश्य ही दुःखी होगा। जिसने मानवता का दिवाला ही निकाल दिया हो, उसके सामने मनुष्य तड़फ रहे हों, दुःख से व्यथित

और पीड़ित हो रहे हों, तो भी वह देखता रहेगा और उनके दुःख को दूर करने का प्रयत्न नहीं करेगा। वह कहेगा कि यह तो अपने कर्मों का भोग भोग रहा है; हमको बीच में पड़ने की क्या आवश्यकता है! इस प्रकार की निर्दयतापूर्ण विचारधारा दानवता नहीं तो क्या है?

एक बार मेरे सामने एक चूहे पर बिल्ली झपटी। लेकिन चूहा बचकर मेरे पास पाट के नीचे आकर बैठ गया। शायद वह भी समझता था कि मुझे यहाँ शरण मिलेगी और मेरी रक्षा हो जाएगी। हालांकि मुझे बाहर जाना था, पर मैं गया नहीं और वहीं बैठा रहा। आज कुछ लोग कहते हैं कि जीव को मारने वाला तो सिर्फ एक ही पाप (प्राणातिपात) का भागी होता है परन्तु किसी मरते हुए प्राणी को बचानेवाला १८ पापों का भागी होता है! कितनी अज्ञानता और मूढता है! ऐसे ऐसे मिथ्यात्वी पैदा हो गये हैं जो भगवान् महावीर के मार्ग को कलंकित करने में संकोच नहीं करते और धर्म के नाम पर निर्दयता और हिंसा का पोषण करते हैं! वे कहते हैं—

एक बिल्ली कुए की मुंडेर पर बैठे हुए कबूतर पर झपटी। आहट पाकर कबूतर तो उड़ गया, पर कर्मवश वह बिल्ली कुए में गिर पड़ी और मर गई। इस सिलसिले में जैनाभासों का कहना है कि उस बिल्ली के मरने का पाप कुआ खुदाने वाले को लगा। जरा आप लोग ही सोचिये कि यह मान्यता कहाँ तक ठीक है? क्या कुआ खुदवाने वाले ने बिल्ली को मारने के लिए कुआ

संसार के सभी प्राणी जीना चाहते हैं, मरना कोई नहीं चाहता यज्ञ के लिए कल्पित दीन पशु की पुकार सुनिये:—

कहे पशु दीन सुन यज्ञ के करैया मोहि,
होमत हुताशन में कौनसी-बडाई है।
स्वर्ग सुख मैं न चहूँ देहु मोहि यों न कहूँ,
घास खाय रहूँ मेरे मन यही भाई है।
जो तूँ यों जानत है वेद यों बखानत है,
जग्य जरौं जीव पावे स्वर्ग सुखदाई है,
जारैं क्यों न वीर ! या में अपने कुटुम्ब ही को,
मोहिं जिन जारै जगदीश की दुहाई है॥

दूसरे के घर मे आग लगाना आसान है, पर याद रख, जो तूँ पड़ौसी के घर में लगी आग को देखकर हँसता है, तो थोड़ी देर में तुझे रोना भी पडेगा, क्योंकि तेरी और पड़ौसी की झौंपड़ी मिली हुई है। पड़ौसी की झौंपडी जली नहीं कि तेरी झौंपड़ी का नम्बर आने ही वाला है। हाँ, तूँ अपनी झौंपडी बचाना चाहता है तो सुन्दर मार्ग यही है कि तूँ पड़ौसी की झौंपडी में लगी आग बुझा। अगर तूँ पड़ौसी को लगी को नहीं बुझाता है तो समझ ले कि तूँ अपनी ही झौंपडी जला रहा है।

जिसके दिल में मानवता होगी वह दुखी को देखकर अवश्य ही दुःखी होगा। जिसने मानवता का दिवाला ही निकाल दिया हो, उसके सामने मनुष्य तड़फ रहे हों, दुःख से व्यथित

और पीड़ित हो रहे हों, तो भी वह देखता रहेगा और उनके दुःख को दूर करने का प्रयत्न नहीं करेगा। वह कहेगा कि यह तो अपने कर्मों का भोग भोग रहा है; हमको बीच में पड़ने की क्या आवश्यकता है ! इस प्रकार की निर्दयतापूर्ण विचारधारा दानवता नहीं तो क्या है ?

एक बार मेरे सामने एक चूहे पर बिल्ली झपटी। लेकिन चूहा बचकर मेरे पास पाट के नीचे आकर बैठ गया। शायद वह भी समझता था कि मुझे यहाँ शरण मिलेगी और मेरी रक्षा हो जाएगी। हालांकि मुझे बाहर जाना था, पर मैं गया नहीं और वहीं बैठा रहा। आज कुछ लोग कहते हैं कि जीव को मारने वाला तो सिर्फ एक ही पाप (प्राणातिपात) का भागी होता है परन्तु किसी मरते हुए प्राणी को बचानेवाला १८ पापों का भागी होता है ! कितनी अज्ञानता और मूढता है ! ऐसे ऐसे मिथ्यात्वी पैदा हो गये हैं जो भगवान् महावीर के मार्ग को कलंकित करने में संकोच नहीं करते और धर्म के नाम पर निर्दयता और हिंसा का पोषण करते हैं ! वे कहते हैं—

एक बिल्ली कुए की मुंडेर पर बैठे हुए कबूतर पर झपटी। आहट पाकर कबूतर तो उड़ गया, पर कर्मवश वह बिल्ली कुए में गिर पड़ी और मर गई। इस सिलसिले में जैनाभासों का कहना है कि उस बिल्ली के मरने का पाप कुआ खुदाने वाले को लगा। जरा आप लोग ही सोचिये कि यह मान्यता कहाँ तक ठीक है ? क्या कुआ खुदवाने वाले ने बिल्ली को मारने के लिए कुआ

खुदवाया था ? उसका उद्देश्य तो यह था कि पानी पीकर प्राणियों को शान्ति प्राप्त हो।

हाँ तो वह बिल्ली थोड़ी देर तक तो वहाँ खड़ी रही, पर जब उसने देखा कि अब दाल गलने वाली नहीं है तो वह वहाँ से चली गई। उस समय सूर्योदय हो गया था और कुछ भाई दर्शनार्थ आ गये। उन्होंने उस चूहे को पकड़ कर ईंटों के एक ढेर में छोड़ दिया। उस चूहे की जान बच गई।

कुछ देर बाद कुछ बाइयाँ भी दर्शन करने के लिए आई उनमें से एक बाई ऐसी थी, जिस पर उस आपापथी सम्प्रदाय के विचारों का असर था। गुरु महाराज ने उस बाई से पूछ लिया-आज मुनि प्रेमचन्दर्जी ने एक चूहे की प्राणरक्षा की है। इसका उनको क्या फल हुआ ? उसने उत्तर दिया – राग-द्वेष रूप पाप का बध हुआ, क्योंकि महाराज को चूहे पर राग हुआ और बिल्ली पर द्वेष हुआ। साधु को ऐसा करना नहीं कल्पता।

ऐसा कहने वाली बेचारी अनजान बाई का क्या दोष था ? दोष तो उनका है जिन्होंने दया-दान को पाप कह कर जनता के दिमाग में जहर भर दिया है। वह बाई उन गुरुओं के सम्पर्क में थी जो जीव को बचाने में अठारह और मारने में एक पाप बतलाते हैं। जब गुरुओं की ही ऐसी धारणा हो तो उनके अनुयायियों की ऐसी धारणा होने में आश्चर्य ही क्या है ?

आज लोगों के दिल में दया कम हो रही है, तिस पर दया में पाप बतलाने वाले धर्मगुरु भी मिल जाएँ तो कहना ही क्या

है! यह तो स्वयं जलती हुई आग में घी की आहुति देने के समान है!

इस प्रकार की विचारधारा मानवधर्म के मूल पर कुठाराघात करने वाली है। जो पंथ मनुष्य को दुखिया का दुःख दूर करने के लिए मना करता है, मरते को बचाने में पाप कहता है, मुसीबत में पड़े हुए की मुसीबत दूर करना अधर्म कहता है, भूख से छटपटाते को रोटी का टुकड़ा देने में पाप कहता है और शस्त्र को तीखा करना बतलाता है, वह पंथ जगत के लिए अभिशाप के सिवाय और क्या हो सकता है! जहाँ इस प्रकार की अज्ञानतापूर्ण मान्यताएँ प्रचलित हैं, वहाँ मानवधर्म की क्या गुंजाइश है?

सज्जनों! प्रत्येक प्राणी के साथ धर्मस्नेह का वर्ताव होना चाहिए। स्नेह के बिना जीवन ही क्या है? वास्तव में सच्चा स्नेह ही जीवन है। हिन्दी-कविता में कहा गया है:—

स्नेह-हीन जग जीने से तो मरना भला कहाता।
अतः स्नेह बिन दीपक तूँ भी झटपट स्वर्ग सिधाता॥

स्नेह के बिना अर्थात् तेल के बिना तो दीपक भी बुझ जाता है। वह भी स्नेह के बिना जीवित रहना पसंद नहीं करता।

उर्दू का शायर कहता है:—

मरना भला है उसका, जो अपने लिए जिये।
जीते हैं वे जो मर चुके, औरों की भलाई के लिये।

संस्कृत के विद्वान् भी कहते हैं :—

> आत्मार्थे हि लोकेऽस्मिन्, को न जीवति मानवः ।
> परोपकारार्थे यः जीवति स जीवति ॥

वास्तव में जिन्दे वही हैं जो अपने सुखों को ठुकरा कर औरों को सुख पहुँचाते हैं। अपने लिए जिन्दे रहने में क्या विशेषता है। कौवा और कुत्ता भी अपने लिए जिन्दे रहते हैं और अपना पेट भरते हैं!

एक कवि कहता है:—

> करो परोपकार सदा, मरे बाद रहोगे जिन्दा।
> नाम जिनका जिन्दा रहे, उनका तो मरना क्या है?
> देह त्यागेंगे तो हम देह नयी पाएँगे,
> जीव मरता है नहीं, मरने से डरना क्या है?

और भी कहा है:—

> करते परोपकार जो, हैं नरों में नर-वर वही,
> उपकार से जो शून्य हैं, हैं नरों में नर-खर वही।
> कूप सुन्दर किन्तु जल बिन है नहीं कुछ काम का,
> उपकार-शून्य मनुष्य भी पशु तुल्य त्यों नर नाम का॥

परोपकार मानवधर्म का एक महत्त्वपूर्ण अंग है। वास्तव में परोपकार ही जीवन है। बड़े-बड़े धर्मप्राण वीरों ने हँस-हँस कर धर्म के लिए अपने प्राणों को न्यौछावर कर दिया! लेकिन आज वे वीर कहाँ हैं?

कहाँ चल बसे काम के करने वाले,
दया धर्म के नाम पर मरने वाले?
बहा दे लहू अपना, धर्म की खातिर,
जो मरना है पर इस तरह मरने वाले।
नहीं मिलता हम को निशां तक भी उनका,
जो थे दूसरों से हसद करने वाले॥

उन धर्मवीरों की जींदगियाँ हमको चेतावनी दे रही हैं। आज उनका भौतिक शरीर हमारे सामने नहीं हैं, लेकिन उनकी जीवनी और उनके कार्य हमारे सामने हैं। मुनिवर गजसुकुमार ने हँसते हुए साधु धर्म पर अपने प्राणों को निछावर कर दिया। मेतार्य मुनि ने एक पक्षी की रक्षा के लिए अपने जीवन की आहुति दे दी। गुरु गोविन्दसिंह के दो लाड़ले लाल हँसते-हँसते दीवाल में चुन दिये गये, मगर अपने धर्म से विचलित न हुए। धर्म के पुतले पंजाब के वीर बालक हकीकतराय से जब धर्म परिवर्त्तन के लिए कहा गया तो उसने कहा—क्या तुम यह लिख कर दे सकते हो कि धर्म बदल लेने से मैं कभी मरूँगा नहीं? एक न एक दिन मरना ही है तो धर्म की रक्षा के लिए ही क्यों न मरूँ?

दुनियाँ के लोगों! ये धर्मवीर पुरुष जीना भी जानते थे और मरना भी जानते थे। मगर जीना तो दूर रहा, तुमने तो मरना भी नहीं सीख पाया। सच्चा मरना क्या है? सुनिए:—

मरन मरन सब ही कहे, मरन न जाने कोय।
एक मरन ऐसा मरे, फिर मरना नहि होय॥

कीड़ों और मकोड़ों की तरह धर्म विहीन जीवन व्यतीत करके चल बसना न जीवन है, न मरण है। ऐसे व्यक्ति का जीवन भी निरर्थक है और मरन भी निरर्थक है।

नारी संग जीवन गया, द्रव्य गया मद्यपान।
प्राण गये कुसंग में, तीनों गये नादान॥

इसके विपरीत जिनका जीवन धर्ममय होता है, जो तपोमय जीवन यापन करते हैं और सत-समागम करके लाभ उठाते हैं, उनका जीवन सार्थक होता है, वे धन्य बन जाते हैं।

तप करता जीवन गया, द्रव्य गया पुण्य-दान।
प्राण गये सत्संग में, तीनों गये न जान॥

वास्तव में जो महापुरुष अपने जीवन के स्वर्णकाल में,—यौवन में—तप का आचरण करते हैं, वे अपने जीवन का सच्चा लाभ उठाते हैं। तपस्या का अर्थ है—अपनी कामनाओं, और वासनाओं पर विजय प्राप्त करना। कहा भी है—इच्छानिरोधस्तप' अर्थात् अपनी इच्छाओं पर काबू पाना ही तप है। औरों को मारने वाले कभी सुखी नहीं हो सकते, उनको भी मारने वाले तैयार हो जाते हैं, लेकिन जो अपनी इच्छाओं को और मन को मारते हैं, वे अमर हो जाते हैं। वे ही सच्चे वीर हैं। भगवान महावीर ने फर्माया है —

अप्पा चेव दमेयव्वो, अप्पा हु खलु दुद्दमो।
अप्पा दन्तो सुही होइ, अस्सिं लोए परत्थ य॥

—श्री उत्तराध्ययन सूत्र

विजय प्राप्त करना है तो अपनी आत्मा पर विजय प्राप्त करो। औरों को जीतना कठिन नहीं है, जितना अपने आपको जीतना। अपने आपको जीतने वाला – अपने विकारों पर विजय प्राप्त करने वाला इस लोक में भी सुखी होता है और परलोक में भी सुखी होता है।

किसी शहर में एक मौलवी साहब रहते थे। आपको विदित ही है कि शिक्षा की कमी के कारण महिला-समाज में वहम बहुत घुसे रहते हैं। किसी बालक बालिका की आँख दुखी या और कोई शारीरिक पीड़ा हुई तो माताएँ उन्हें मौलवी साहब के पास लेकर दौड़ती थीं। मौलवी साहब एक हाथ में झाड़ू लेकर मुँह से अंटसंट मंत्र-सा पढ़ने लगते। कहते —

जमीन बाँधूं, आसमान बाँधूँ,
नदी बाँधूँ, दरियाव बाँधूँ,
जल बाँधूं, जल की धार बाँधूँ,
छू:! छू:!! छू:!!!

इस प्रकार मौलवी महोदय महामहिमामय मंत्र का पारायण करते और बच्चे के मस्तक पर झाड़ फेर देते। बदले में औरतें भक्ति-

भाव से प्रेरित होकर मौलवी साहब का कटोरा घी-बूरे से भर देतीं।

मौलवी साहब का मकान कच्चा था। बरसात की मौसम में वह ऊपर से टपकने लगा तो उनकी बीबी ने मौलवी साहब से उस सुराख को बन्द कर देने के लिए कहा। मौलवी साहब बार-बार छत पर जाते और हाथ फेर कर आ जाते। प्रत्येक बार उन्होंने कहा-लो सुराख बद कर दिया है। लेकिन पानी का टपकना बन्द न हुआ। तब मौलवी की पत्नी ने झुंझला कर कहा-बड़े मौलवी बने फिरते हो! जमीन, आसमान, नदी और समुद्र बाँधने का दावा करते हो, मगर मकान का छोटा-सा छेद बद नहीं कर सकते ?

यह सुनकर मौलवी साहब बोले-जमीन और आसमान आदि को बाँधना आसान है, किन्तु यह छोटा-सा सुराख तो दिखाई ही नहीं देता। उसे बद करूँ तो कैसे करूँ ?

एक कवि भी इसी प्रकार कहता है —

है नहीं मुश्किल जीतना, दस लाख सुभटों का।
है आफरी उसकी जिसने कि अपना मन जीता।

अभिप्राय यह है कि जिसने मानवधर्म को भली भाँति समझ कर उसकी आराधना की है। वही आत्मविजय की उच्च भूमि पर पहुँचने का अधिकारी बन सकता है। जो दया में, दान में और परोपकार में पाप समझता है। चार पैसे के लिये धर्म को

तिलांजलि देने को तैयार रहता है। दुर्व्यसनों का पुजारी है और अपनी इन्द्रियों को बेकाबू होने देता है, वह न मानवधर्म का पालन कर सकता है और न आत्मधर्म की साधना कर सकता है।

हो फँसा व्यसनों में जो, वह वीर है किस काम का।
जंग जिसको लग चुका, वह तीर है किस काम का॥

रण-विजयी वास्तव में विजयी नहीं होते, क्योंकि उनकी विजय आगे होने वाली पराजय की पूर्वभूमिका है। रण-विजेता मुट्ठी भर शत्रुओं का संहार करता है, परन्तु असंख्य नये शत्रु पैदा कर लेता है। सच्चे विजेता तो वे हैं जो अपनी इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करते हैं। दुनिया में उनका कोई दुश्मन नहीं रह जाता। वे जानते हैं कि हमारा सच्चा शत्रु कौन है! वे शत्रुता की भावना की जड़ों को उखाड़ फेंकते हैं। सारा संसार उनका मित्र और आत्मीय बन जाता है। वे ही सच्चे धर्मी हैं; उन्होंने ही मानवधर्म के वास्तविक धर्म को पहचाना है।

मानवधर्म और प्रसंगोपात्त धर्म के संबंध में, समय का ध्यान रखते हुए जो बातें बतलाई गई हैं, उनसे आपको मानवधर्म की कल्पना आ सकती है। मेरे शब्दों से आपकी दृष्टि के समक्ष यदि मानवधर्म का चित्र उपस्थित हो गया है तो आप उसे सुन कर ही न रह जाएँ, वरन अपने जीवन में उतारने का प्रयत्न करें। धर्म सुनने मात्र के लिए नहीं, जीवन में व्यवहृत करने का विषय है। ऐसा करने पर ही उससे लाभ हो सकता है।

हाँ, एक बात कहनी शेष रह गई है। आप भूले न होंगे कि मैंने कल आपको धर्म के तीन रूप बतलाये थे और अवसर मिलने पर उनके ऊपर प्रकाश डालने का विचार भी व्यक्त किया था। मगर देखता हूँ, आज भी काफी समय हो गया है। फिर भी संक्षेप में उन्हें बतला देना चाहता हूँ –

(१) वस्तुस्वभावधर्म—'वत्थुसहावोधम्मो' अर्थात् प्रत्येक वस्तु का अपना-अपना जो स्वभाव है, वह वस्तुस्वभावधर्म कहलाता है। यह धर्म प्रत्येक वस्तु में विद्यमान रहता है। कोई भी वस्तु इससे शून्य नहीं है। अग्नि का धर्म जलाना है, पानी का धर्म अग्नि को बुझाना है, अन्न का धर्म क्षुधा को शान्त करना है। आत्मा का धर्म शुद्ध चेतना है।

(२) आत्मकल्याणधर्म—श्रुतधर्म और चारित्रधर्म—दोनों मिल कर आत्मकल्याणधर्म कहलाते हैं। श्रुतधर्म मनुष्य में विवेक को जगाता है और चारित्र-धर्म आत्मा की प्रगति में सहायक होता है। विवेक के दिव्य दीपक के प्रकाश से आत्मा जब अग्रसर होती है तो उस वस्तुस्वभावधर्म की उपलब्धि हो जाती है।

(३) कर्त्तव्यपालनधर्म—जैसे आत्मकल्याणधर्म से वस्तुस्वभावधर्म की प्राप्ति होती है, उसी प्रकार कर्त्तव्यपालनधर्म से भी आत्मकल्याण धर्म की प्राप्ति होती है। अभिप्राय यह है कि कर्त्तव्य का यथावत् पालन करने से आत्मा श्रुत-चारित्र धर्म की पात्रता प्राप्त कर लेता है।

समाज में मनुष्य जिस दर्जे पर है, उस दर्जे के अनुकूल कर्त्तव्यों का सुचारु रूप से पालन करना कर्त्तव्य पालन धर्म है। उदाहरणार्थ–न्यायाधीश को अपने कर्त्तव्य का निष्पक्ष रूप से पालन करना चाहिए। पंच को प्रामाणिकता के साथ पंचायत करना चाहिये। पुत्र को श्रद्धा-भक्ति के साथ और कृतज्ञता की भावना के साथ माता–पिता की सेवा करनी चाहिए; पत्नी को पति के प्रति और पति को पत्नी के प्रति वफादार होकर रहना चाहिए; स्वामी को चाहिए कि वह सेवक को अपना सहायक समझे और उसके साथ सदय एवं सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार करे; सेवक का कर्त्तव्य है कि वह स्वामी के हानि-लाभ को अपना ही हानि–लाभ समझे और अपने नियोग का जी चुराये बिना पालन करे। शासक का कर्त्तव्य है कि वह जनता की सुख-सुविधा को ही अपने जीवन का व्रत समझे। जनता को चाहिए कि वह समाज और देश के हित को व्यक्तिगत हित से ऊँचा समझे और समाज या देश के लिए हानिकार कोई काम न करे। इस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति यदि ईमानदारी के साथ अपने-अपने कर्त्तव्यों में तत्पर रहें तो संसार का नक्शा ही बदल जाय।

यह कर्त्तव्यपालनधर्म ही वास्तव में मानवधर्म है। यह धर्म सब धर्मों का मूल है। इस धर्म के अभाव में ऊपर कहे दो धर्म प्राप्त नहीं किये जा सकते। तीनों धर्म परस्पर सापेक्ष हैं और तीनों में उत्तरोत्तर कार्य–कारणभाव है। कर्त्तव्य पालन धर्म, आत्मकल्याण धर्म का साधन है और आत्मकल्याणधर्म

वस्तुस्वरूपधर्म का साधन है। साध्य की पूर्ण प्राप्ति हो जाने पर साधना समाप्त हो जाती है। आत्मा कृतकृत्य हो जाता है।

सज्जनो! यदि सुख चाहते हो तो हमेशा दूसरों का बिगड़ा को बनाओ, मरते हुए को बचाओ, रोते हुए को हँसाओ, उजड़े को बसाओ और दुखियो का दुःख दूर करो तो इस लोक और परलोक में सुख पाओगे।

ॐ शान्ति! शान्ति!! शान्ति!!!

धूलिया (प. खानदेश)
१०-५-४३ रविवार

सुख-प्राप्ति का साधन

मंगलाचरण

अर्हन्तो भगवन्त इन्द्रमहिताः, सिद्धाश्च सिद्धिस्थिताः,
आचार्या जिनशासनोन्नतिकराः, पूज्या उपाध्यायकाः।
श्रीसिद्धान्तसुपाठका मुनिवरा – रत्नत्रयाराधकाः,
पञ्चैते परमेष्ठिनः प्रतिदिनं, कुर्वन्तु नो मंगलम् ॥

उपस्थित भद्र पुरुषों तथा देवियों! इस संसार में अनन्तानन्त प्राणी हैं। कोई छोटे और कोई मोटे हैं। किसी को परिपूर्ण इन्द्रियाँ प्राप्त हैं तो कोई-कोई अपूर्ण इन्द्रियों वाले हैं। कोई अपने हित-अहित का विशिष्ट विचार करने की शक्ति से युक्त हैं तो किसी को वैसी मानसिक शक्ति प्राप्त नहीं है। फिर भी यदि उन प्राणियों की चेष्टाओं को सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय और विचार किया जाय कि किस उद्देश्य को सामने रखकर वे विविध प्रकार की प्रवृत्तियाँ कर रहे हैं, तो प्रतीत होगा कि जीव मात्र की चेष्टा का एक ही उद्देश्य है—दुःख से बचना और सुख पाना। सुख की प्राप्ति ही सब का मूल ध्येय है। उसी के लिए सब जीव अपने-अपने सामर्थ्य और ज्ञान के अनुसार निरन्तर प्रयत्नशील

रहते हैं। छोटी-सी चींटी को लीजिए। उसके स्वल्प ज्ञान में सुख की जो कल्पना है—वह जिसे सुख समझती है, उसी को पाने के लिए अविश्रान्त गति से दौड़धूप करती है। मगर अन्यान्य प्राणियों की बात जाने दीजिए। मनुष्य के संबंध में ही विचार कीजिए।

मनुष्य विकसित प्राणी है। सोचने-विचारने सोच विचार करके कार्य करने और स्फुट वाणी में विचार व्यक्त करने की उसमें असाधारण क्षमता है। ऐसी स्थिति में यदि मनुष्य सुख प्राप्ति के लिए उद्योग करे तो इसमें आश्चर्य ही क्या है? और यही हो भी रहा है। मनुष्य प्रात काल, सायंकाल रात और दिन भर सुख के लिए ही भागीरथ प्रयत्न कर रहा है।

फिर भी हम देखते हैं कि इतना अधिक प्रयत्न करने पर भी सब सुखी नहीं हैं। कहना तो यह चाहिए कि अपने आपको पूरी तरह सुखी समझने वाला एक भी मनुष्य शायद न मिले। आखिर इसका कारण क्या है? सुख की प्रबलतर कामना होने पर भी और सुख के लिए आकाश पाताल एक कर देने पर भी जब मनुष्य सुख से वंचित रहता है, तो अवश्य ही यह विचारणीय हो जाता है कि सुख क्यों प्राप्त नहीं हो रहा है!

ज्ञानी जनों ने इस विषय में गंभीर और तलस्पर्शी विचार किया है। अगर हम उस विचार को समझने का प्रयत्न करें तो निस्सन्देह उससे लाभ उठा सकते हैं।

ज्ञानी जनों का कहना है कि सुख-प्राप्ति के लिए प्रयत्न करने से पहले सुख के सच्चे स्वरूप को समझो और इस बात का निश्चय कर लो कि उसे प्राप्त करने के वास्तविक साधन क्या हैं ? जिसका स्वरूप ही न जानोगे और जिसे पाने के साधनों को न समझोगे, उसे कैसे प्राप्त कर सकोगे ?

आम तौर पर लोग इष्ट पदार्थों के संयोग को सुख मानते हैं। धन-दौलत मिल जाय, पुत्र-पौत्र आदि की प्राप्ति हो जाय, बंगला–कोठी निवास करने को प्राप्त हो, तो वे सुख समझते हैं। किन्तु यह समझ विपरीत है। पर-पदार्थों के संयोग में सुख नहीं है · यही नहीं, संयोग मात्र सुख के विघातक हैं। मनुष्य जितना-जितना पर-पदार्थों को अपनाता जाता है, उतना ही उतना अपना दुःख बढाता है। एक महान् सन्त ने अपनी अनुभव-वाणी उच्चारी है :–

संयोगमूला जीवेन प्राप्ता दुःखपरम्परा ।

इस छोटे से वाक्य में बड़ी ही महत्त्वपूर्ण बात बतला दी गई है। मनुष्य सुखी क्यों नहीं हो रहा है और दुखी क्यों हो रहा है; इस रहस्य को यहाँ थोड़े ही शब्दों में खोल कर रख दिया है। सन्त कहते हैं—यह जीव अनादि काल से दुःख के चक्कर में पड़ा है। इस चक्कर से निकलने के लिए छटपटा रहा है। अनेक प्रकार के पदार्थों का आश्रय लेकर सुखी बनना चाहता है। सुख पाने के लिए संसार भर की सामग्री संचित करता है। मगर इस भोले जीव को यह पता नहीं कि वही सामग्री उसके दुःख का कारण है ! आत्मा से भिन्न सभी पदार्थ पर हैं। उन पर-पदार्थों

को स्व समझ कर जब अपनाया जाता है, उन पर ममत्व स्थापित किया जाता है, तभी दुखों का बीज बो दिया जाता है दुखों का मूल कारण पर-पदार्थों का सयोग ही है।

ससारी जीव की सब से बडी भूल यह है कि उसने परपदार्थों में सुख मान लिया है। मगर वास्तव में सुख आत्मा का गुण है जड वस्तुओं का नहीं। जब जड वस्तुओं में सुख है ही नहीं तो वे आपको कैसे दे सकेंगी? सुख तो आपकी ही आत्मा में है। अगर आत्मा के असली स्वरूप को समझो तो पता चलेगा कि वहाँ असीम सुख का सागर लहरा रहा है। परन्तु उस ओर आपका ध्यान नहीं जाता। इसी से सुख की प्राप्ति नहीं होती।

कहा जा सकता है कि मनोज्ञ और सरस भोजन करने से, सुन्दरस्पर्श, शब्द और गध आदि का सेवन करने से प्रत्यक्ष सुख का अनुभव होता है, फिर कैसे माना जाय कि जड पदार्थों म सुख नहीं है? इसका उत्तर यह है कि मनोज्ञ और इष्ट पदार्थों का सवन करने पर सुख की जो प्रतीति होती है, वह सुख नहीं, सुखाभास है, आत्मा के असली सुख गुण का विकार है। वह सुख भी आत्मा का ही है, भोग्य पदार्थों का नही। इस सत्य को सिद्ध करन क लिए दूर जान का आवश्यकता नहीं। कल्पना करो, आप भूखे हैं और इसी समय आपको सरस भोजन मिल गया आपने गले तक ठूस-ठूस कर खाया और बहुत सुख का अनुभव किया। जब आप भोजन समाप्त कर चुके तो नगी तलवार लेकर एक आदमी आपके सामने आया। उसने दस पाच

आदमियों के खाने योग्य वैसा ही भोजन फिर आपके सामने रख दिया और कहा–'इसे भी खाओ। अगर थोड़ा-सा भी बच गया तो गर्दन उतार लूँगा।' ऐसी स्थिति में वह भोजन आपको सुखदायी होगा या दुखदायो? अगर वह दुखदायी होगा तो क्यों? जो भोजन थोड़ी देर पहले आपको सुख दे रहा था वही अब दुःख क्यों देने लगा? अगर भोजन में सुख है तो अब भी वह सुख क्यों नहीं देता?

इसी प्रकार अन्य पदार्थों के संबंध में भी विचार कर लेना चाहिए। विचार करने से स्पष्ट हो जाता है कि न भोजन में सुख है, न किसी दूसरे पदार्थ में। सुख तो आत्मा में ही है।

अब प्रश्न उपस्थित होता है कि यदि सुख आत्मा का गुण है और वह आत्मा में स्वभावतः विद्यमान है तो फिर सदैव उसका अनुभव क्यों नहीं होता? इसका उत्तर यह है कि आवरणों के कारण जैसे आत्मा की शुद्ध चेतना विकृत हो गई है, उसी प्रकार सुख गुण में भी विकार आ गया है। कर्मों के कारण वह छिप गया है। अनुकूल निमित्त मिलने पर उसका आविर्भाव हो सकता है।

यह एक सर्वमान्य बात है कि यदि कोई प्राणी सुख चाहता है तो उसे सुख प्राप्त हो सकने योग्य ही कार्य करने चाहिए। यह सीधी और सरल बात है; इसकी सचाई के लिए किसी पंडित, मौलवी या धर्माचार्य की साक्षी की आवश्यकता नहीं है। अगर हम सुख चाहते हैं तो हमें सुख का मार्ग ही अपनाना होगा।

सुख पाने का मार्ग है सुख देना। हम तो चाहें सुख, मगर दूसरों को दें दुःख, तो यह बात कुदरत को मजूर नहीं। आज हम देखते हैं कि मनुष्य सुख तो चाहते हैं, लेकिन सुख के काम नहीं करना चाहते। दुःख नहीं चाहते लेकिन काम दुःख के करते हैं। यह गलत धारणा नहीं तो क्या है कि दूसरों को दुःख देकर मनुष्य सुख पाना चाहता है! कायदा यही है कि जमींदार (कृषक) जमीन में जो कुछ बोएगा, वही उसको मिलेगा। ऐसा कभी नहीं हो सकता कि वह बोए तो चने, मगर पैदा हों गेहूँ। इसी प्रकार किसी के अन्तःकरण में दुःख का बीज डालकर अर्थात् किसी का दिल दुखाकर सुख का आशीर्वाद चाहना भी विरुद्ध प्रवृत्ति है। शायर कहता है—

दुःख देता और को वह सौख्य पाता है नहीं।
पैर में लगते ही काँटा, टूट जाता है वहीं।

जहर बोलता नहीं है, क्योंकि उसमें बोलने की शक्ति नहीं है, वह जड है। पर याद रक्खो, जड होने पर भी वह अपना असर दिखलाए बिना नहीं रहेगा। तो अगर आप लोगों ने किसी का दिल दुखा कर अपने हृदय में जहर डाल लिया है तो समय पर आपको अवश्य ही उसका फल भोगना पडेगा।

आप वणिक् लोगों को रात-दिन हिसाब किताब का काम करना पडता है। कई छोटी बडी संख्यायें आप लिखते हैं। और उनका जोड लगाते हैं। अगर आप पहले की छोटी रकम

लिखने में कोई गलती कर जाएँ और बाद की सब संख्याएँ सही-सही लिखें तो क्या जोड़ बराबर मिल सकती है ? नहीं, क्योंकि मूल रकम में ही भूल की जा चुकी है। जब तक शुरू की भूल नहीं सुधार ली जायेगी, तब तक गणित का बड़े से बड़ा विशेषज्ञ भी उस जोड़ को ठीक नहीं कर सकता। ठीक इसी प्रकार मनुष्य ने भी शुरू में ही अपने बही खाते में एक बड़ी भूल कर डाली है। जब तक वह भूल ठीक नहीं की जाएगी, तब तक उसके जीवन का बही खाता ठीक नहीं हो सकता। वह प्रारम्भिक भूल है समझ का दोष। अपनी समझ को विपरीत बना लेने पर सारी प्रवृत्तियाँ दूषित हो जाती हैं। अगर सुख के स्वरूप और साधन की समझ ठीक हो तो सुख के लिए अनुकूल प्रवृत्ति हो सकेगी। समझ ही विपरीत हुई तो सुख पाने के लिए किये गये प्रयत्न दुःख ही प्रदान करेंगे।

मकान बनाते समय कदाचित नींव टेडी-तिर्छी हो जाएगी तो ऊपर की मंजिलें भी वैसी ही टेढी - तिर्छी रहेंगी। इसलिए मैं कहता हूँ—हे मनुष्य ! जब तक तेरी पहली भूल नहीं सुधरती, तब तक तूँ सुख के मार्ग पर चलने की योग्यता नहीं प्राप्त कर सकता। तूँ सुख की कल्पना करके अपने लिए दुःखों की ही सृष्टि करेगा।

सुख पाने के लिए मन का टेढ़ापन दूर होना चाहिए। विचार पहले मन में आते हैं, फिर वाणी पर, बाद में शरीर द्वारा कार्य रूप मे परिणत किये जाते हैं।

आपके मन में पक्का विश्वास होना चाहिए कि आत्मा अनन्त आनन्द का धाम है और उसके आनन्द नामक गुण में विकृति आ गई है। उस विकृति को भलीभाँति समझने के लिए पानी का उदाहरण दिया जा सकता है। पानी अपने स्वरूप से शीतल और स्वच्छ ही होता है, पर अन्य पदार्थों के संयोग से उसमें विकार-अन्यथापन आ जाता है। कोई पानी खारा और कोई कडुआ भी हो जाता है। मगर वह पानी का स्वभाव नहीं है, वह संसर्ग-जन्य दोष है। कहा गया है—'यथा भूमिस्तथा तोयम्' अर्थात् जैसी भूमि होगी, वैसा पानी होगा। क्षारयुक्त, तेलयुक्त या जैसी भी जमीन होगी, अपने संसर्ग से पानी को भी वह वैसा ही बना देगी। जिस जमीन में गंधक आदि विस्फोटक तेजाबी पदार्थ होंगे, वहाँ का पानी गर्म होगा। इस प्रकार उष्ण आदि होना पानी का स्वभाव नहीं, जमीन का दोष है। उस भूमि से उसका सम्बन्ध था, इस लिए वह वैसा हो रहा था, लेकिन जब उस भूमि से उसका सम्बन्ध टूट जाता है, उसका असर भी दूर हो जाता है, पानी अपनी असलियत में आ जाता है।

हे भद्र पुरुषों! पानी तो निर्मल और शीतल ही था, लेकिन जब वह मिट्टी और कूड़े-कचरे में से गुजरा तो उसकी संगति में पड़ कर मलिन हो गया। लोग कहते हैं-पानी मलिन है, लेकिन पानी मलिन नहीं होता। अगर पानी ही मलीन हो जाय तो स्वच्छ कौन करेगा?

सज्जनों! आज पानी ही गँदला कहला रहा है। हे गांधी टोपी वालों! हे पगड़ी वालों! जरा सोचो और समझो कि यह

फकीर क्या कह रहा है ? मेरा इशारा किधर है ? जिस पानी से दूसरों की गंदगी और मैल साफ होता था, आज उसी पानी से शरीर एवं कपड़ा और अधिक गंदा हो रहा है। लेकिन वस्तुतः यह पानी का दोष नहीं है, संगति का दोष है।

कांग्रेस के नेताओं ने देश की बेकारी, गरीबी और भुखमरी आदि को दूर करने का भरसक प्रयत्न किया। बहुत से माई के लालों ने फाँसी पर चढ़ कर और आजीवन कारावास की यातनाएँ सह कर सहर्ष अपने प्राणों की आहुति दी। बहुतों ने दीर्घ काल तक विदेशी शासकों के साथ संघर्ष किया। इन सब के त्याग और बलिदान के परिणामस्वरूप भारतवर्ष शताब्दियों की पराधीनता से मुक्त हुआ। उन वीरों में से अनेक इस धरा-धाम को त्याग कर चल दिये हैं और अनेक अब भी देश की सेवा कर रहे है। मगर खेद के साथ कहना पड़ता है कि कांग्रेस संस्था में आज वह तप और त्याग की स्फूर्त्ति दिखाई नहीं देती भारत के आज़ाद होने पर भी यदि उसी सजग दिल से काम हुआ होता तो आज यह अस्तव्यस्त अवस्था दृष्टिगोचर न हुई होती। किन्तु जो पानी कल तक दूसरों को शुद्ध करता था, वह आज और गंदा कर रहा है तो उस पानी को बुरा मत कहो, उस पानी को फैंकने की कोशिश मत करो, बल्कि उसके दोषों को दूर करने की चेष्टा करो। बीमार की बीमारी को खत्म करने की आवश्यकता है, बीमार को खत्म करने की नहीं। बुद्धिमान् हकीम या डाक्टर बीमार को मारने का प्रयत्न नहीं करता। हाँ मैं

बुद्धिमान् और सेवाभावी डाक्टर या हकीम की बात कह रहा हूँ उनकी नहीं जो अपने स्वार्थ को ही सर्वोपरि समझते हैं और कहते हैं—

आए हम हकीम वैद्य, नकद रुपया झटपट लेव,
पहली पुड़िया में खेलें दाव, दूसरे में चढ़ा दें ताव
तीसरी पुड़िया में हेरा-फेरा, चौथी में श्मशानों में डेरा।

ऐसे वैद्यराजों की, लीडरों की या धर्मगुरुओं की हमें आवश्यकता नहीं है। होशियार और अनुभवी डाक्टर छूत के मरीज को तन्दुरुस्त मनुष्यों से अलग रखता है और उसका इलाज भी अवश्य करता है। इसी प्रकार आज यदि किसी मनुष्य में या समूह में कोई बुराई है तो उस बुराई को ही दूर करने का प्रयत्न करना चाहिए।

हाँ, बुराई को दूर करने से पहले यह अवश्य सोचना पड़ेगा कि बुराई किन कारणों से उत्पन्न हुई है। बुराई के कारणों को समझ लेने पर ही वह दूर की जा सकती है। पानी स्वभाव से निर्मल और शीतल होने पर भी संसर्ग-दोष से दूषित हो जाता है, उसी प्रकार आत्मा के नैसर्गिक गुण ज्ञान, दर्शन, सुख आदि भी संसर्ग-दोष से मलीन हो गये हैं। किन्तु जैसे पानी, मिट्टी गंधक आदि के संसर्ग से पृथक् होने पर शुद्ध हो जाता है, उसी प्रकार संसर्गज-दोष हटने पर आत्मा भी अपने अनन्त ज्ञान और अनन्त सुख रूप सहज स्वभाव में आ जाता है। मगर ऐसा हो तभी सकता है जबकि आत्मा को अपने सहज स्वभाव की प्रतीति हो,

उसे प्राप्त करने की प्रवल उत्कंठा हो और तड़प हो। जब तक बनने वाले में स्वयं की योग्यता न होगी और तमन्ना न होगी, तब तक बनाने वाला कुछ नहीं कर सकता। ऐसा न होता तो तीर्थंकर देव निर्वाण पधारते समय सब जीवों को अपने साथ ही ले गये होते! कहा भी है:—

> किं करोत्येव पाण्डित्य मस्थाने नियोजितम्।
> अन्धकारप्रतिच्छन्ने, घटे दीप इवाहितः॥

अर्थात् पंडित की पंडिताई और विद्वान् की विद्वत्ता, बनने वाले व्यक्ति की योग्यता पर ही निर्भर है। अगर बनने वाले में बनने की कुछ भी योग्यता नहीं है तो सुयोग्य से सुयोग्य पुरुष भी उसे योग्य नहीं बना सकता। घड़े का मुँह ढक्कन से ढँक दिया जाय और फिर उसके पास चौमुखा चिराग जलाया जाय तो भी उस घड़े के अंदर प्रकाश नहीं हो सकता। जबतक घड़े का ढक्कन नहीं हट जाता तब तक अनेक प्रयत्न करने पर भी उसमें प्रकाश का प्रवेश नहीं हो सकता।

इसी प्रकार हे मनुष्यों! जब तक तुम्हारी बुद्धि पर आवरण चढ़ा हुआ है तब तक तुम मन्दिर, मस्जिद, गंगा, यमुना आदि में से कहीं भी जाओ, नदियों, नालों, पहाड़ों और चट्टानों से सिर टकराओ, लेकिन तुम्हारा कल्याण नहीं होने का। अगर तुम प्रकाश चाहते तो ढक्कन को अर्थात् सम्प्रदायवाद को, बाड़ेबन्दी को, अपनी संकुचित भावनाओं को दूर कर दो और उस सत्य की

शरण गहो जो विश्व में सर्वोपरि है और जिसकी महिमा का अन्त नहीं है। अगर तुम सत्य के पावन चरणों में अपनी सकीर्ण भावना, अपने चिरकालीन कुसंस्कार और अपने दुराग्रह को समर्पित नहीं कर सकते तो तुम्हें वह दिव्य और भव्य ज्योति प्राप्त नहीं हो सकती।

जगत् में जितने भी महापुरुष हो गये हैं, उन्होंने प्राणीमात्र के हित के लिए अपने अनुभवपूर्ण उद्‌गार निकाले हैं। उन्होंने सत्य की जो ज्योति स्वय साधना करके उपलब्ध का थी, उसकी तेजस्वी किरणें जगत् म बिखेरी हैं। अगर कोई मनुष्य उनसे लाभ नहीं उठाना चाहता तो इसमें न उन महापुरुषों का दोष है और न उन किरणों का ही। एक कवि ने ठीक ही कहा है—

ऋतु वसन्त में सभी हसन्त, पर केर न लाता है नूर।
पढ सुन कर शास्त्र न करता अमल, फिर तो ज्ञानी का क्या है कसूर॥

वसन्त ऋतु में वृक्ष आदि प्रफुल्लित होकर हँस उठते हैं, लेकिन उस समय भी केर की झाड़ी पर पत्ते नहीं आते। इसमें वसन्त ऋतु का क्या दोष है? सूर्य का उदय हो गया, पृथ्वी पर प्रसृत तिमिर नष्ट हो गया, सभी प्राणी जाग उठे सब में नयी स्फूर्ति आ गई, चारों ओर प्रकाश का पुंज चमकने लगा, फिर भी उल्लू को यदि अंधेरा ही नजर आए तो इसमें सूर्य का दोष नहीं। इसी प्रकार महापुरुषों की वाणी सुनने पर भी कोई भाग्यहीन उससे लाभ नहीं उठाता तो इसमें महापुरुषों का कोई दोष नहीं है।

सच बात तो यह है कि मनुष्य के जीवन का निर्माण करने में संगति महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। संगति अनजान में भी अपना असर डालती रहती है।

यह दुनिया शीशे के मानिन्द है। शीशे के सामने जैसा भाव तुम प्रदर्शित करोगे वैसा ही प्रतिविम्ब तुम्हें देखने को मिलेगा। अगर तुम सौम्यमूर्ति बन कर शीशे को देखोगे तो तुम्हारा प्रतिविम्ब भी सौम्य ही दृष्टिगोचर होगा। यदि तुम भृकुटि चढ़ा कर देखोगे तो प्रतिविम्ब भी वैसा ही दिखाई देगा। यदि चांटा या मुक्का उठाओगे तो प्रतिविम्ब में भी तुम्हें वैसा ही उत्तर मिलेगा। इसी प्रकार अगर तुम अपने आसपास के मनुष्यों को सुखी बनाने का प्रयत्न करोगे तो तुम भी सुखी होओगे और यदि उन्हें दुःख पहुँचाने के काम करोगे तो तुम्हें भी दुःख भुगतना पड़ेगा। जैसा दोगे वैसा लोगे। जैसा करोगे वैसा भरोगे।

प्राचीन काल के मनुष्य भी सुख चाहते थे, लेकिन वे सुख पाने के सही साधनों को भी जानते थे। अतएव वे स्वयं सुखी बनने के लिए दूसरों को सुख पहुँचाते थे। मगर आज के लोगों की समझ और ही तरह की हो गई है। वे स्वयं सुखी बनना चाहते हैं, पर दूसरों को सुख नहीं पहुँचाना चाहते। यहाँ तक कि अपने पड़ौसियों को दुःखी देख कर प्रसन्न होते हैं और उसी में अपनी बड़ाई समझते हैं। पर याद रक्खो, पड़ौसी की झौंपड़ी में आग लगा कर तुम सुख से नहीं रह सकते। पड़ौसी के घर की

आग की चिनगारियाँ तुम्हारे घर तक भी आएँगी और उसे भी भस्म करके छोड़ेंगी। अतएव यदि तुम में कुछ भी समझ है, और यदि सचमुच ही सुख की अभिलाषा है तो दूसरों को सुखी बनाओ। यही सुख पाने का मार्ग है। इस मार्ग को अपनाए बिना सुख की प्राप्ति कदापि नहीं होगी।

इसी प्रकार जो मनुष्य किसी देशोद्धारक या समाजसुधारक संस्था के कार्यों में विघ्न डाल कर प्रसन्न होता है, वह भी कालान्तर में दुःखी होता है। जो संस्था किसी समूह के सुख के लिए संस्थापित की गई है, उसमें प्रत्येक सुखार्थी को यथाशक्ति सहयोग ही देना चाहिए।

बहुत बार मनुष्य व्यर्थ ही परेशानी मोल ले लेता है। वह ऐसे काम कर बैठता है कि जिनसे लाभ तो कुछ होता नहीं, उल्टी अपनी सुख-शान्ति में बाधा उपस्थित होती है। दूसरों की निन्दा करना एक ऐसा ही कार्य है। थोड़ा विचार कीजिए कि पराई निन्दा करने से निन्दक को क्या लाभ होता है? निन्दा के शब्दों से मुँह मीठा तो हो नहीं जाता। मगर जब उस व्यक्ति को, जिसकी निन्दा की गई है, अपनी निन्दा का पता चलता है, तो वह बदला लेने की कोशिश करता है और तब अशान्ति उत्पन्न हो जाती है। अतएव विचारशील व्यक्ति को समझना चाहिए कि किसी के माल को बुरा बतलाने की आवश्यकता नहीं है। ऐसा करने से पड़ोसी से शत्रुता पैदा करने के सिवाय और कोई लाभ नहीं है।

सुख के सच्चे स्वरूप को न समझने वाले कई लोग अपने अहंकार के पोषण में सुख समझ लेते हैं। अहंकार के पोषण के

लिए जब कोई खुराक नहीं मिलती तो वे दूसरों की निन्दा करते हैं; दूसरों को अपने से हीन बतला कर आप खुद उच्च बनना चाहते हैं। ऐसा करने से उन्हें थोड़ी देर के लिए मानसिक तुष्टि मिलती है। परन्तु इसका परिणाम असन्तुष्टि और घोर अशान्ति होता है।

हे मनुष्य ! अगर तुझे ऊँचा बनना है तो उच्च कोटि के गुण प्राप्त कर। अपने चरित्र को ऊँचा बना। दूसरे को नीचा बतला कर आप जो ऊँचा सिद्ध होना चाहता है सो यह तेरी भूल है। ऐसा करने से तो तूँ और भी नीचा हो रहा है, पर खेद है कि तूँ इस तथ्य को समझ नहीं पाता।

तुम्हें अपनी दुकान में अच्छा माल रखने की आवश्यकता है। तुम्हारे पास अच्छा माल होगा तो पड़ौसी का बुरा माल अपने आप ही अवगणनीय हो जाएगा।

निन्दा की यह बीमारी व्यक्तियों तक ही सीमित नहीं है। आज तो देशसेवा के ऊँचे ध्येय को समक्ष रख कर स्थापित किये गये राजनीतिक दल भी इस रोग के शिकार हो रहे हैं। किन्तु उन पर भी यही बात लागू होती है। देश जब स्वतन्त्र हो गया है और उसने जनतंत्रप्रणाली को स्वीकार कर लिया है तो किसी न किसी दल को तो शासन करना ही है। अगर तुम उस दल की नीति से सन्तुष्ट या सहमत नहीं हो तो उसकी ऊलजलूल निन्दा न करके जनता की सेवा करो। अपनी दुकान में सेवारूपी अच्छे

माल का संग्रह करोगे तो दूसरे की दुकान आप ही फेल (असफल) हो जाएगी। तेरी दुकान में तो फटा टाट भी नहीं और जिसकी दुकान में अनेक प्रकार का सुन्दर माल भरा है, उसकी निन्दा करने चला है! इससे तो तूँ स्वयं निन्दा का पात्र बन जाएगा। आखिर कब तक तूँ जनता की आँखों में धूल झौंकता रहेगा? कहने का आशय यह है कि दुकान के ग्राहकों को बहकाने की, शान्ति भंग करने की और दूसरे दुकानदार को परेशान करने की जरूरत नहीं है। मधुर वाणी, सेवा, सचाई और अच्छे कामों की जरूरत है। ऐसा होने पर ग्राहक अपने आप तुम्हारी ओर खिंचे आएँगे; क्योंकि ग्राहक तो वहीं जाना चाहते हैं जहाँ उन्हें अच्छा माल मिलता है।

आज इस देश में अनेक दल हैं– कांग्रेस, समाजवादीदल, कम्युनिस्ट पार्टी आदि। मुझे इनमें से किसी से सरोकार नहीं है; अगर कुछ सहानुभूति हो सकती है तो प्रजा के सुख बढ़ाने वाले कार्यों से, फिर वह किसी भी दल के द्वारा क्यों न किए जाएँ। मेरा काम तो अच्छाई और बुराई को बतला देना है। प्रभु की वाणी द्वारा सुख का मार्ग प्रदर्शित कर देना ही वक्ता का कर्त्तव्य है।

प्रभु-वाणी यह सब को सुनाए जाएँगे ॥ टेर ॥
मानो न मानो यह मर्जी तुम्हारी,
हम उपदेश की झड़ियाँ लगाए जाएँगे ॥ प्रभु० १ ॥
ऊगे न ऊगे यह भूमि धर्म है,
हम समकित का बीज बुवाए जाएँगे ॥ प्रभु० २ ॥

कितने ही अभागे जीव अच्छे ज्ञानी और चारित्रवान् पुरुषों की संगति मिल जाने पर भी अपने जीवन को नहीं बना सकते उनके संस्कार ही इतने मलीन होते हैं कि सत्संगति का उन पर असर ही नहीं होता।

सोहबते अहले सफ़ा से तीरा दिल कब साफ हो,
जंग से आलूदा हो जाता है आहन आब में।

पानी के संसर्ग से प्रत्येक वस्तु धुल कर स्वच्छ हो जाती है, किन्तु लोहा और भी मलीन हो जाता है, अर्थात् उस पर जग लग जाता है, जिससे उसकी प्रतिभा (चमक) नष्ट हो जाती है। इसमें पानी का क्या दोष है ? लोहे का स्वभाव ही ऐसा है कि पानी उसे माफ़िक नहीं आता।

तात्पर्य यह है कि जीवन निर्माण में संगति का प्रभाव महत्त्वपूर्ण भाग लेता है। कई बार संगति से जीवन का बदलना तक देखा जाता है निकृष्ट आचरण करने वाले भी किसी महापुरुष की संगति पाकर उत्कृष्ट पुरुष बन गये और सदा के लिए सुखी हो गए। कहा भी है—

संसर्गजा दोषगुणा भवन्ति।

अर्थात्—मनुष्य में दोषों की और गुणों की उत्पत्ति संगति के कारण होती है। गुणवान् की संगति से गुण और दोषी की संगति से दोष उत्पन्न हो जाते हैं।

प्राय: देखा जाता है कि माता-पिता अपने बालकों के सम्बन्ध में इस बात का ध्यान नहीं रखते कि वे कैसे लोगों के संसर्ग में

रहते हैं। नतीजा यह होता है कि छोटे-छोटे बच्चे भी बुरी सगत में पड़ कर कुकर्म करने लगते हैं। वे जैसा देखते और सुनते हैं, वैसा ही करने की चेष्टा करते हैं। जन्म लेने पर ही नहीं, गर्भावस्था में भी बालक पर माता-पिता की चेष्टाओं का प्रभाव पड़ता है। कहा जाता है कि अर्जुन के पुत्र अभिमन्यु ने गर्भावस्था में ही चक्रव्यूह के भेदन की विधि सीख ली थी। जैन शास्त्र भगवती सूत्र में भगवान महावीर ने कहा है:—

गर्भ में रहा हुआ बालक, गर्भावस्था में ही काल कर जाय तो स्वर्ग में भी जा सकता है और नरक में भी जा सकता है, क्योंकि उसमें मन भी है और आत्मा भी है। अगर कोई बालक किसी रानी के गर्भ में आता है और गर्भावस्था के समय कोई दूसरा राजा चढ़ाई करता है, तो राजा-रानी आपस में जो विचार विमर्श करते हैं, उसे वह बालक भी सुनता-समझता है। यही नहीं, वह गर्भस्थ बालक विचार करता है कि दुश्मन मेरे राज्य पर कब्जा करना चाहता है, मेरे भविष्य के सुख-साधनों को मेरी सृष्टि को, मेरे जन्म लेने से पहले ही नष्ट कर देना चाहता है! मैं उसे यों मारूँगा, यों लड़ूँगा आदि। गर्भस्थ बालक जब इस प्रकार का सकल्प-विकल्प करता है और कदाचित् उसी समय उसकी मृत्यु हो जाय तो वह नरक में जा सकता है।

कोई-कोई गर्भ में स्थित बालक मृत्यु हो जाने पर स्वर्ग में भी जा सकता है। उसके माता-पिता गुरुदर्शन, शास्त्रश्रवण, दान आदि की चर्चा करते हैं तो गर्भस्थ बालक उस चर्चा को

सुन कर सोचता है कि मैं भी जन्म लेकर बड़ा होने पर गुरु-दर्शन, शास्त्रश्रवण, और सुपात्रदान आदि का लाभ लूँगा। ऐसी सद्भावना के समय यदि वह काल कर जाता है तो उसे स्वर्ग की प्राप्ति होती है। चाहे वह बालक कुछ भी नहीं कर रहा है, फिर भी अपनी भावना की प्रशस्तता के कारण उसे यह फल प्राप्त होता है। यद्यपि सभी गर्भस्थ बालकों पर माता-पिता का ऐसा प्रभाव नहीं पड़ता, फिर भी जिनकी इन्द्रियाँ परिपूर्ण हो चुकी हों और जिनकी ग्रहण-शक्ति उग्र हो, उन पर ऐसा प्रभाव पड़ने में कुछ आश्चर्य नहीं है।

कहने का आशय यह है कि यदि आप अपने बच्चों को अच्छे देखना चाहते हैं, बच्चों के जीवन को सुखमय बनाना चाहते हैं और उनकी बदौलत स्वयं सुखी बनना चाहते हैं, तो पहले आप स्वयं अच्छे बनें क्योंकि जिनके बड़े जैसे होते हैं प्रायः वे भी वैसे ही होते हैं।

एक मौलवी साहब एक बहुमूल्य माला हर समय अपने पास रखते थे और उस पर अपनी उँगलियाँ घुमाते रहते थे। एक दिन वे कहीं जा रहे थे। रास्ते में उन्हें टट्टी की हाजत हुई तो माला एक झाड़ी में लटका कर वे हाजत से फारिग होने लगे। मौलवी साहब बैठे तो उनके पैर से लग कर एक पत्थर दूसरे पत्थर से टकरा गया। उसकी आवाज से, वहीं पर छिप कर बैठा हुआ एक खरगोश डर कर भागा। संयोगवश भागते समय मौलवी साहब की माला खरगोश के गले में पड़ गई। माला गले

में पड़ जाने पर वह और भी ज्यादा भयभीत हुआ कि यह क्या बला गले पड़ गई ! उससे छुटकारा पाने के लिए खरगोश और भी तेजी से भागा।

मौलवी साहब अपनी माला लेने के लिए उसके पीछे-पीछे दौड़े। मगर वे खरगोश का मुकाबिला न कर सके। खरगोश छलांगें मार कर दूर चला गया और वे देखते ही रह गये। मौलवी साहब को बड़ी निराशा हुई। सोचने लगे– क्या करूँ ? किससे कहूँ जो मेरी माला मुझे दिला दे ? अकस्मात् वहीं पास में चरते हुए एक गधे पर उनकी नजर पड़ गई। गधे के लम्बे-लम्बे कान देख कर उन्होंने सोचा– मालूम होता है, माला ले जाने वाला इसी का लड़का है। शिकायत करनी चाहिए। इस प्रकार सोच कर मौलवी साहब गधे के पास गये और उसकी पीठ पर हाथ फेर कर कहने लगे– 'तुम्हारा बेटा मेरी तसबीह (माला) लेकर भाग गया है।' मौलवी साहब का यह कहना था कि गधे ने तड़ाक से उनके घुटनों में लातें जमा दीं। मौलवी साहब कराहते हुए घुटना पकड़ कर कहने लगे– या खुदा ! जिनके बड़े ऐसे हैं, उनके छोटे शरारती क्यों न होंगे ?

कहने का आशय यह है कि जिन बच्चों के माँ बाप झूठे और दुराचारी हों, उनके बच्चे भी अगर वैसे हों तो इसमें आश्चर्य ही क्या है ? उनके अच्छे होने की आशा किस प्रकार की जा सकती है ?

जो मोह-निद्रा में सोते हैं प्राणी,
ज्ञान-घटी से उनको जगाए जाएँगे ॥ प्रभु० ३ ॥
जो भव्य प्राणी सुनेंगे यह वाणी,
वे कर्मों का रोग मिटाए जाएँगे ॥
जिन-वाणी यह सब को सुनाए जाएँगे ॥ प्रभु० ४ ॥

सज्जनो ! दाने का उत्पन्न होना या न होना भूमि पर निर्भर है। कृषक तो हृदय पर हाथ रख कर आशा और विश्वास के साथ मिट्टी में दाने बिखेर देता है। कोई जमीन बदले में बहुत अनाज दे देती है और कोई भूमि डाले हुए बीज को ही हजम कर जाती है। मगर किसान कभी निराश नहीं होता। वह तो ईमानदारी के साथ बीज डालता जाता है। आहिस्ते-आहिस्ते सुधार होने पर बंजर भूमि में भी अंकुर उत्पन्न हो जाते हैं। मैं भी इसी प्रकार की आशा और श्रद्धा से आपको प्रभु द्वारा प्रदर्शित सुख का मार्ग बतला रहा हूँ।

जब मैं दूसरे दलों से शासक-दल की निन्दा न करने के लिए कहता हूँ, तब शासकदल को भी यह परामर्श देता हूँ कि वह अपने महान् उत्तरदायित्व के प्रति सजग रहे। उसे मातृभूमि की सेवा करने का अवसर मिला है। उसे प्रामाणिकता के साथ, अपने हित को गौण करके, दीनों, दुखियों, दलितों और दरिद्रों की सेवा करनी चाहिए। देश के निवासियों को सुखी बनाने का प्रयत्न करना चाहिए। ऐसा करने से ही देश की स्वाधीनता का लक्ष्य पूरा होगा। प्रजा का सुख ही शासकदल की खरी कसौटी

है। अगर वह प्रजा को सुखी बनाने के प्रयत्नों में सफल नहीं होता तो ईमानदारी के साथ उसे शासन से हट जाना चाहिए। अगर शासकदल में सम्मिलित होकर कोई अनुचित लाभ उठाता है और प्रजा के सुख की उपेक्षा करता है तो अपने कर्त्तव्य से भ्रष्ट होता है।

एक भेड़िये ने किसी बकरी को पकड़ लिया। अचानक वहाँ एक सिंह आ पहुँचा और उसने बकरी को बचा लिया। बकरी, भेड़िये के चंगुल से मुक्त होकर बहुत प्रसन्न हुई; किन्तु कुछ ही क्षणों के पश्चात् सिंह स्वयं उसका भक्षण करने को तैयार हो गया। यह देख कर बकरी भयभीत हो उठी और कहने लगी– मैं समझती थी कि अब मैं सुख-पूर्वक जिंदी रह सकूँगी। मुझे क्या पता था कि मुझे मुक्त करने वाला ही मेरे प्राणों का ग्राहक बन जाएगा। अगर आपको यही करना था तो भेड़िये से छुड़ाने की क्या आवश्यकता थी?

इस देश की हालत ऐसी नहीं होनी चाहिए। प्रजा को स्वाधीनता मिली है तो सुख भी मिलना चाहिए। अगर गोरे शासकों के स्थान पर देशी शासक बन गये और प्रजा का शोषण ज्यों का त्यों रहा तो स्वाधीनता का कुछ भी अर्थ नहीं रहता। अतएव जिनके हाथ में सत्ता है, उन्हें अपने उत्तरदायित्व को निस्वार्थ भाव से निभाना चाहिए। देश सुखी होगा तो वे स्वयं सुखी हो सकेंगे और यदि देश सुखी न बन पाया तो उनका भी सुख कायम नहीं रह सकेगा। यह सन्तोष की बात है कि शासक-वर्ग में आज भी कुछ

निस्वार्थ, परखे हुए देशभक्त मौजूद हैं जो अपने सुख का बलिदान करके देश के सुख के लिए प्रयत्नशील हैं। दूसरों को भी इन्हीं का अनुकरण करना चाहिए।

सज्जनो! मानव-भव संसार की चौरासी लाख योनियों में सर्वश्रेष्ठ है। स्वर्ग के देवता भी मर्त्यलोक में आकर मनुष्य की योनि पाने की कामना करते हैं। अतएव इसमें कुछ न कुछ विशेषता होनी चाहिए। कवि कहता है:—

जो फरिश्ते करते हैं, कर सकता है इन्सान भी।
पर फरिश्तों से न हो जो काम है इन्सान का॥

जो काम देव कर सकते हैं, वह इन्सान भी कर सकता है; परन्तु इन्सान जो काम कर सकते हैं, उन सब को देव नहीं कर सकते। यह कवि का कथन है। और बातों को अगर छोड़ दिया जाय और आत्मिक सुख को प्राप्त करने वाले कार्यों पर ही विचार किया जाय तो कवि के कथन में किसी को विवाद नहीं हो सकता। आत्मा में अथाह और सीमाहीन स्वाभाविक सुख का जो महासागर तरंगित हो रहा है, उसमें अवगाहन करने की योग्यता मनुष्य के सिवाय संसार के किसी भी अन्य प्राणी में नहीं है— स्वर्ग के राजा इन्द्र में भी नहीं है। विकास की चरम सीमा को स्पर्श करने की क्षमता अगर किसी में है तो वह सृष्टि का शृंगार यह मनुष्य ही है। यह तो बड़ी-बड़ी बातें हैं। इन्हें जाने दीजिए। देवता तो तप, जप, ब्रह्मचर्य पालन आदि कार्य भी नहीं कर सकते।

ऐसी स्थिति में मनुष्य को देवी-देवताओं के सामने नत-मस्तक होकर गिड़गिड़ाने की आवश्यकता नहीं है। मनुष्य अपने कर्त्तव्य का पालन करे तो देवता उसके चरण छूने के लिए आ जाएँगे।

हे फूल! तुझे किसी भ्रमर को आमन्त्रण देने की आवश्यकता नहीं है। किसी भ्रमर से अपने पास आने का अनुरोध मत कर। तू अपने जीवन में खुशबू भर ले तो भौंरे अपने आप खिंचे चले आएँगे।

कवि ने कहा है –

> शीलवानों के चरण-कमलों में देव-देवता
> स्वर्ग से आते यहाँ, मस्तक झुकाने के लिए॥

आज आप लोग नदियों, नालों और पहाड़ों में देवी देवताओं को मनाते फिरते हैं लेकिन याद रक्खो, आप में अगर सुगंध होगी तो किसी भँवररूपी देवी-देवता को निमन्त्रण देने की आवश्यकता नहीं होगी। आपके सद्गुणों का सौरभ देवी-देवताओं को स्वर्ग से इस धरती पर खींच लाएगा।

जिस मनुष्य में अहिंसा, संयम और तप का विशिष्ट विकास हुआ है, वह क्या देवताओं का पुजारी क्यों बने? उसके पास तो वह अलौकिक निधि है जो देवों के राजा को भी प्राप्त नहीं है!

सच्चे सुख को प्राप्त करने का उपाय सदाचार है। कोई मनुष्य कितना ही सूक्ष्म और विशाल ज्ञान प्राप्त कर ले, पर यदि

उसमें सदाचार नहीं है तो उसका ज्ञान निष्फल है। मनुष्य में जो विवेकशक्ति और बुद्धि है, उसकी सार्थकता सदाचार में ही है। 'ज्ञानं भारः क्रियां विना' अर्थात् ज्ञान के अनुसार सत्क्रिया न की गई तो ज्ञान मनुष्य के मस्तिष्क पर भार रूप ही है। सब जगह सदाचार का ही बोलबाला है। सदाचार का सर्टिफिकेट पेश किए बिना कहीं भी काम नहीं चल सकता। सदाचार के अभाव में सैकड़ों गुण भी महत्त्वहीन हैं। किसी नारी का रूप सुन्दर हो और सभी अंगोपांग सुन्दर हों, किन्तु यदि नाक कटी हो तो उसका सारा सौन्दर्य व्यर्थ है, इसी प्रकार सदाचार के न होने पर शेष सभी गुण व्यर्थ हो जाते हैं। सच्चरित्रता एक अनमोल वस्तु है और सच पूछो तो वही सच्चा जीवन है।

आचार की रक्षा के लिए सावधानी रखनी पड़ती है। आचार अर्थात् रोटी के साथ खाने का पदार्थ, जो नींबू, आँवला, केर आदि कई चीजों का होता है, वह भी बिना होशियारी के सुरक्षित नहीं रहता। पानी अथवा आटे आदि से भरा हाथ लग जाय तो वह खराब हो जाता है। इसी प्रकार मनुष्य का आचार, चरित्र–चोर, हिंसक, व्यभिचारी आदि दुर्गुणी पुरुषों की संगति से दूषित हो जाता है। जिस प्रकार आचार खराब होने पर उसे फेंक दिया जाता है, उसी प्रकार दूषित आचार वाले व्यक्ति को भी विशुद्ध संस्था या सोसाइटी से निकाल कर बाहर कर दिया जाता है।

यदि कोई लड़का किसी शाला या परीक्षा में प्रवेश पाना चाहता है, तो पहले उसे अपने सदाचार का प्रमाणपत्र पेश

ऐसी स्थिति में मनुष्य को देवी-देवताओं के सामने नत-मस्तक होकर गिड़गिड़ाने की आवश्यकता नहीं है। मनुष्य अपने कर्त्तव्य का पालन करे तो देवता उसके चरण छूने के लिए आ जाएँगे।

हे फूल ! तुझे किसी भ्रमर को आमंत्रण देने की आवश्यकता नहीं है। किसी भ्रमर से अपने पास आने का अनुरोध मत कर। तू अपने जीवन में सुगन्ध भर ले तो भौंरे अपने आप खिंचे चले आएँगे।

कवि ने कहा है -

शीलवानों के चरण कमलों में देव देवता
स्वर्ग से आते यहां, मस्तक झुकाने के लिए॥

आज आप लोग नदियों, नालों और पहाड़ों में देवी देवताओं को मनाते फिरते हैं लेकिन याद रक्खो, आप में अगर सुगंध होगी तो किसी भँवररूपी देवी देवता को निमंत्रण देने की आवश्यकता नहीं होगी। आपके सद्गुणों की सौरभ देवी देवताओं को स्वर्ग से इस धरती पर खींच लाएगा।

जिस मनुष्य में अहिंसा, संयम और तप का विशिष्ट विकास हुआ है वह देवी देवताओं का पुजारी क्या बने ? उसके पास तो वह अलौकिक निधि है जो देवों के राजा को भी प्राप्त नहीं है।

सच्चा सुख को प्राप्त करने का उपाय सदाचार है। कोई मनुष्य कितना ही सूक्ष्म और विशाल ज्ञान प्राप्त कर ले, पर यदि

उसमें सदाचार नहीं है तो उसका ज्ञान निष्फल है। मनुष्य में जो विवेकशक्ति और बुद्धि है, उसकी सार्थकता सदाचार में ही है। 'ज्ञानं भारः क्रियां विना' अर्थात् ज्ञान के अनुसार सत्क्रिया न की गई तो ज्ञान मनुष्य के मस्तिष्क पर भार रूप ही है। सब जगह सदाचार का ही बोलबाला है। सदाचार का सर्टिफिकेट पेश किए बिना कहीं भी काम नहीं चल सकता। सदाचार के अभाव में सैकड़ों गुण भी महत्त्वहीन हैं। किसी नारी का रूप सुन्दर हो और सभी अंगोपांग सुन्दर हों, किन्तु यदि नाक कटी हो तो उसका सारा सौन्दर्य व्यर्थ है, इसी प्रकार सदाचार के न होने पर शेष सभी गुण व्यर्थ हो जाते हैं। सच्चरित्रता एक अनमोल वस्तु है और सच पूछो तो वही सच्चा जीवन है।

आचार की रक्षा के लिए सावधानी रखनी पड़ती है। आचार अर्थात् रोटी के साथ खाने का पदार्थ, जो नींबू, आँवला, केर आदि कई चीजों का होता है, वह भी बिना होशियारी के सुरक्षित नहीं रहता। पानी अथवा आटे आदि से भरा हाथ लग जाय तो वह खराब हो जाता है। इसी प्रकार मनुष्य का आचार, चरित्र—चोर, हिंसक, व्यभिचारी आदि दुर्गुणी पुरुषों की संगति से दूषित हो जाता है। जिस प्रकार आचार खराब होने पर उसे फेंक दिया जाता है, उसी प्रकार दूषित आचार वाले व्यक्ति को भी विशुद्ध संस्था या सोसाइटी से निकाल कर बाहर कर दिया जाता है।

यदि कोई लड़का किसी शाला या परीक्षा में प्रवेश पाना चाहता है, तो पहले उसे अपने सदाचार का प्रमाणपत्र पेश

करना पड़ता है। कोई किरायेदार किसी अच्छी बस्ती में मकान चाहता है तो उसे भी अपने सदाचार की खातिरी देनी पड़ती है।

मनुष्य भोजन में अनेक प्रकार के स्वादिष्ट व्यञ्जनों, पकवानों और नमकीन पदार्थों की इच्छा करता है। सभी पदार्थ जिसे प्राप्त हों उसका तो कहना ही क्या है! मगर कम से कम रोटी के साथ आचार तो होना ही चाहिए। जिस मनुष्य को रोटी के साथ आचार भी नहीं मिला, उस जैसा हतभाग्य और कौन हो सकता है?

इसी प्रकार जीवन में तप, जप, संयम आदि सभी उच्चकोटि के गुणों की आवश्यकता है; किन्तु अन्य गुण न हों तो भी कम से कम सदाचार तो होना ही चाहिए। अगर सदाचार हुआ तो अन्य विशिष्ट गुण सदाचारी मनुष्य का उसी प्रकार आश्रय ले लेते हैं, जिस प्रकार नदी नाले समुद्र का और लताएँ वृक्षों का। इसके विपरीत, अगर सदाचार का ही दिवाला निकल गया और जीवन दुराचार से आक्रान्त हो गया तो वहाँ सुख-शान्ति की भी संभावना नहीं रहती। इसलिए हे मनुष्य! यदि तू सुख चाहता है तो सदाचार की अनमोल सम्पत्ति प्राप्त कर। सदाचार से हीन मनुष्य कदापि सुखी नहीं हो सकते। उनके भाग्य में सुख नहीं है। उनके लिए सुख का निर्माण ही नहीं हुआ है।

मैं कह चुका हूँ और फिर उसे दोहराता हूँ कि जो सुख चाहता है, उसे चाहिए कि वह औरों को सुख दे। परन्तु आज उल्टी

गंगा बह रही है। कई माताएँ, बहिनें और भाई घोर अज्ञान के वशीभूत होकर अपने बच्चे की जिंदगी को कायम रखने के लिए देवी-देवताओं के नाम पर बकरा आदि मूक पशुओं की बलि चढ़ाते हैं। भला इस मूढ़ता की भी कोई सीमा है? बेचारे मूक और निरपराध जीवों के गले काट कर कभी कोई सुखी हो सकता है? पाप के उदय से अगर कोई रोग उत्पन्न हुआ है तो और अधिक पाप करने से वह कैसे नष्ट हो जाएगा? खून से सना कपड़ा खून से धोने से क्या स्वच्छ हो सकता है?

भारतवर्ष ने अहिंसा के सिद्धान्त को अपना कर स्वाधीनता प्राप्त की। महात्मा गांधी के नेतृत्व में, अहिंसा को प्रधान रख कर ही सत्याग्रह और असहयोग आदि आन्दोलन हुए। आज भी भारतीय सरकार का दावा है कि वह अहिंसा की राह पर ही चल रही है। यही नहीं, सरकार के प्रधान, विश्व के समस्त राष्ट्रों को इसी राह पर चलाने का भरसक प्रयत्न कर रहे हैं। दुनिया के लोग उनकी बातों को समझते जा रहे हैं। यह सब ठीक है, किन्तु जान पड़ता है कि भारत सरकार की अहिंसा अधूरी और लँगड़ी है। उस अहिंसा का लक्ष्य प्राणी मात्र नहीं, सिर्फ मनुष्य है। आज मनुष्य की हिंसा ही हिंसा समझी जा रही है; पशुओं और पक्षियों की हिंसा को मानो हिंसा ही नहीं समझते! यही कारण है कि आज शासकवर्ग भी बन्दरों और मछलियों आदि को मारने की योजनाएँ बनाता है। किन्तु समझ लीजिए कि ऐसा करके वह शासन की जड़ों को कमजोर कर रहा है। चाहे पशु हो या

पक्षी हो, उसकी हिंसा भी हिंसा ही है और हिंसा का पोषण करने तथा उसे उत्तेजना देकर शासन कभी सफल नहीं हो सकता। जो भी प्राणधारी पैदा हुआ है उसको जिन्दा रहने का अधिकार है और जीवनोपयोगी वस्तुओं के उपभोग करने का समान अधिकार है, जैसे कि एक माता के सभी बच्चों को माता का दुग्धपान करने का अधिकार है। अगर बडा बच्चा कहता है कि मैं अकेला ही माता के दूध का अधिकारी हूँ और छोटे नहीं हैं, उन्हे मार दिया जाना चाहिए, तो यह अत्याचार है अनीति है। ऐसा नहीं होना चाहिए।

सज्जनों ! सभी प्राणी इस भूमि के बच्चे हैं। मनुष्य के समान ही पशु-पक्षी भी सुख चाहते हैं और दुःख से बचना चाहते हैं। उनमे भी सज्ञा है, चेतना है। वे भी जीवित रहने की चेष्टा मे सलग्न रहते है और अपने सुख के लिए प्रयत्नशील हैं। चोट लगने पर जैसे हमें दर्द का अनुभव होता है, उसी प्रकार उन्हे भी होता है। यद्यपि वे मनुष्य के समान अपने दुःख को व्यक्त वाणी में प्रकट नहीं कर सकते, तथापि वे अपनी सामर्थ्य के अनुसार अपना दुःख प्रकट करते हैं चिल्लाते हैं, कराहते हैं। ऐसी स्थिति में सुख का अभिलाषी विवेकवान् पुरुष उन्हें भी सुख पहुँचाने का ही विचार और प्रयत्न करेगा।

मनुष्य अगर बडा भाई है तो पशु-पक्षी और कीट-पतग उसके छोटे भाई हैं। अपनी विशिष्ट और विकसित शक्तियों के कारण

मनुष्य को बड़ा भाई होने का गौरव प्राप्त है। अतएव उसके ऊपर अपने छोटे भाइयों की रक्षा एवं सार-सँभाल का महान् नैतिक उत्तरदायित्व है। उसे इतना स्वार्थी नहीं होना चाहिए कि सभी सुख-साधनों को अपने लिए ही माने और अपने छोटे भाइयों की गर्दन पर छुरा चलावे! मगर देश के दुर्भाग्य से आज यही हो रहा है। जिस अहिंसा के प्रताप से भारत को स्वराज्य मिला, उसी का विरोध किया जा रहा है। वंदरों, गीदड़ों और बूढ़े जानवरों की आज हत्या की जा रही है। मछलियाँ पकड़ने की योजनाएँ बनाई जा रही हैं और उन पर लाखों-करोड़ों रुपये खर्च किये जा रहे हैं। यह मनुष्य की स्वार्थलिप्सा की हद है! यह हिंसा देश के लिए हितकर नहीं हो सकती। देश को सुखी, समृद्ध और आदर्श बनाने के लिए दृढ़ता और व्यापकदृष्टि के साथ अहिंसा और सत्य को अपनाना पड़ेगा। स्मरण रखिए कि अहिंसा और सत्य न केवल इहलौकिक सुखों के कारण हैं, वरन् पारलौकिक सुखों के भी कारण हैं।

आशय यह है कि सुख को प्राप्त करने के लिए अनुकूल साधनों को जुटाना चाहिए। सुखार्थी जनों को सर्वप्रथम सुख के स्वरूप को समझ लेना चाहिए और फिर उसके साधनों को काम में लाना चाहिए। यहाँ सुख साधना पर संक्षेप में ही प्रकाश डाला जा सका है। सारांश यही है कि अगर आप सच्चा सुख चाहते हैं तो प्राणी मात्र पर दया करो, दुखियों का दुख दूर करो, मरते हुओं को बचाओ, उजड़े हुओं को बसाओ, रोते हुओं

को हँसाओ और प्रभु भक्ति में मन लगाओ। यदि आपने इतना कर लिया तो समझ लो कि सुख-सदन के प्रथम सोपान पर पैर जमा लिया है। इसके पश्चात् आपकी आत्मा में इतना बल आ जाएगा कि वह सुख के पथ पर अग्रसर होती ही चली जाएगी। अन्त में आप उस सम्पूर्ण सुख के भागी बन सकेंगे, जो काल की सीमाओं से परे है, परिमाण में अनन्त है और जिसके एक बार प्राप्त कर लेने पर फिर कभी दुःख का संस्पर्श भी नहीं हो सकता। बस, यही शुभ कामना है कि आपको सद्बुद्धि प्राप्त हो, आप विवेक से विभूषित हों, सत्य वस्तु-स्वरूप के वेत्ता बनें और शाश्वत सुख-शान्ति के स्वामी हों।

बोलो भगवान् महावीर स्वामी की जय!

ओ३म् शान्ति ! शान्ति !! शान्ति !!!

मालेगाँव, (नासिक)
१८-४-४६; रविवार

उच्च अध्यवसाय

उपस्थित सज्जनों तथा देवियों !

मंगलाचरण के पश्चात् आत्म विषय की ओर ही हमें प्रस्थान करना है। क्योंकि आत्मा का विषय चला हुआ है। प्रश्न यह उठाया गया था कि विश्व का मुख्य सूत्रधार और मूलाधार आत्मा ही है। आत्मा को माने बिना काम नहीं चल सकता। मंगलाचरण क्या है, क्यों किया जाता है इन सब शंकाओं का समाधान आत्मा को स्वीकार करने से होगा। संकल्पों की उत्पत्ति और समाधान आत्मा को स्वीकार करने से होता है। शंका करने वाला भी आत्मा है और उसका समाधान पाने वाला भी आत्मा है। सारांश यह निकला कि विश्व के संचालन में जड़ की अपेक्षा आत्मा का अधिकाधिक योग है। जड़ के क्षेत्र से आत्मा का क्षेत्र कहीं अधिक व्यापक और विस्तृत है। आत्मा के बिना धर्म-कर्म का कोई अर्थ नहीं रहता अतः आत्मा को मानना और जानना चाहिए।

हे मनुष्यों ! यदि आप अपने जीवन को आगे और आगे ले जाना चाहते हैं तो आप इस आत्मतत्त्व को जानने-पहचानने के

लिए प्रयत्न करिये। यदि आप उत्थान, निर्वाण और ज्ञान चाहते हैं तो आत्मवादी बनिये। भगवान् महावीर ने आचारांग सूत्र में स्पष्ट कहा है कि— "आयावायी लोयवाई, कम्मवायी किरियावायी" बनो। अर्थात् आत्मा को, लोक को, कर्म को और क्रिया को स्वीकार करो। ऐसा करने से ही उत्थान की ओर तुम अग्रसर हो सकोगे। इन चार मौलिक बातों को भलीभांति हृदयंगम करो। इनको भलीभांति जान लेने के बाद विश्व का कोई रहस्य तुम से छिपा नहीं रह सकता। समस्त विश्व के ज्ञान-भण्डार को खोलने के लिए ये चार कुञ्जियाँ हैं। आध्यात्मिक उत्थान के लिए ये मूलभूत उपाय हैं। यदि तुम अभ्युदय चाहते हो, विकास की ओर अग्रसर होना चाहते हो, उत्तरोत्तर वृद्धि करना चाहते हो तो सर्वप्रथम तुम्हें आत्मवादी बनना होगा। आत्मा के स्वीकार से ही विकास मार्ग का 'श्री गणेश' होता है। यहीं से अभ्युदय का मार्ग प्रारम्भ होता है। यहीं से अन्धकार समाप्त होकर प्रकाश की किरणें फैलती हैं। यहीं से कृष्णपक्ष समाप्त होकर शुक्लपक्ष का प्रारम्भ होता है।

जिस प्रकार अक्षरों का मूल 'अ' है और अंकों का मूल एक है इसी प्रकार सब तत्त्वों का मूल आत्मतत्त्व है। यदि कोई एक को नहीं मानता है तो उसके लिए दो, तीन, चार, अरब-खरब का कोई अर्थ नहीं। सब अंकों का जन्मदाता एक है। यदि एक को भूल जाता है तो दो कहाँ और कैसे बन सकेंगे? एक के बिना दो कहाँ? दो के बिना तीन कहाँ? मूल के बिना शाखा प्रशाखा

कहाँ हो सकती है ? मूल एक को माने बिना ऊपर की गणना का संगति नहीं बन सकती है। इसी तरह 'अ' को छोड़ देने से आगे के वर्णों की सुसंगतता नहीं हो सकती। ठीक इसी तरह आत्मा का माने बिना दूसरे तत्त्वों की वास्तविक संगति बैठ ही नहीं सकती। आत्मा के मानने पर ही महात्मा-परमात्मा का सिद्धान्त, इहलोक-परलोक का सिद्धान्त, शुभकर्म और अशुभकर्म का सिद्धान्त, पाप और पुण्य की चर्चा, सुख और दुःख का आधार सुसंगत हो सकता है। इन सब सिद्धान्तों का मूल आधार आत्म-तत्त्व है। आत्म तत्त्व की मूलभित्ति पर ही उक्त सिद्धान्तों के महल की रचना हुई है। अतएव हे भव्य आत्माओं! सर्व प्रथम आत्मतत्त्व को मानों, जानों और पहिचानों।

आप कहेंगे यह तो बड़ी आसान बात है। हम सब आत्मा को जानते हैं। परन्तु किसी बात को सुन-सुना कर ऊपर से जानना कुछ और बात है और उसके अन्तरंग स्वरूप को, उसके मर्म को, उसके प्रकार को और उससे सम्बन्धित बातों को गहराई से सोच-समझ कर मानना कुछ और ही बात है! सिद्धान्त उस अन्तिम निर्णय का नाम है जिसमें "ननु नच" की जरूरत नहीं। संकल्प-विकल्प और समस्त शंकाओं का परिमार्जन कर वस्तु का स्वरूप सुनिश्चित कर दिया जाय वही सिद्धान्त होता है। इस सिद्धान्त को समझकर आत्म-स्वरूप को पहचानने का यत्न करना चाहिए।

लिए प्रयत्न करिये। यदि आप उत्थान, निर्वाण और ज्ञान चाहते हैं तो आत्मवादी बनिये। भगवान् महावीर ने आचाराग सूत्र में स्पष्ट कहा है कि— "आयावायी लोयवादी, कम्मवायी किरियावायी" बनो। अर्थात् आत्मा को, लोक को, कर्म को और क्रिया को स्वीकार करो। ऐसा करने से ही उत्थान की ओर तुम अग्रसर हो सकोगे। इन चार मौलिक बातों को भलीभांति हृदयगम करो। इनको भलीभांति जान लेने के बाद विश्व का कोई रहस्य तुम से छिपा नहीं रह सकता। समस्त विश्व के ज्ञान भण्डार को खोलने के लिए ये चार कुञ्जियाँ हैं। आध्यात्मिक उत्थान के लिए ये मूलभूत उपाय हैं। यदि तुम अभ्युदय चाहते हो, विकास की ओर अग्रसर होना चाहते हो, उत्तरोत्तर वृद्धि करना चाहते हो तो सर्वप्रथम तुम्हें आत्मवादी बनना होगा। आत्मा के स्वीकार से ही विकास मार्ग का 'श्री गणेश' होता है। यहीं से अभ्युदय का मार्ग प्रारम्भ होता है। यहीं से अन्धकार समाप्त होकर प्रकाश की किरणें फैलती हैं। यहीं से कृष्णपक्ष समाप्त होकर शुक्लपक्ष का प्रारम्भ होता है।

जिस प्रकार अक्षरों का मूल 'अ' है और अकों का मूल एक है इसी प्रकार सब तत्त्वों का मूल आत्मतत्त्व है। यदि कोई एक को नहीं मानता है तो उसके लिए दो, तीन, चार, अरब-खरब का कोई अर्थ नहीं। सब अकों का जन्मदाता एक है। यदि एक को भूल जाता है तो दो कहाँ और कैसे बन सकेंगे? एक के बिना दो कहाँ? दो के बिना तीन कहाँ? मूल के बिना शाखा प्रशाखा

कि वह बहुत सारे ब्रह्माण्ड को आलोकित और प्रकाशित कर सकता है।

सत्पुरुषों ! आधुनिक भूगोलवेत्ता दुनिया का जो नक्शा आपके सामने रखते हैं, वह अधूरा है। वह पूरी दुनिया का मानचित्र नहीं है। वह तो समग्र दुनियारूप सिन्धु का एक बिन्दु मात्र है। इस दुनिया का क्षेत्र बहुत विस्तृत और व्यापक है। आजकल मानी जाने वाली दुनिया से असंख्यात गुणी विस्तृत दुनिया और भी है। इस दिखाई देने वाली दुनिया के अतिरिक्त असख्यात द्वीप और असंख्यात समुद्र हैं। सबके अन्त में स्वयंभू-रमण समुद्र है। परम्परा तो ऐसी है कि आधे विस्तार में स्वयंभू-रमण समुद्र है और शेप आधे में असंख्यात द्वीप-समुद्र हैं। इतनी विस्तृत दुनिया को आलोकित करने की शक्ति एक सूर्य में भी नहीं हो सकती। इसलिए अलग २ क्षेत्रों के अलग २ सूर्य हैं।

बड़े मकान को आलोकित करने के लिए एक दीपक से काम नहीं चल सकता। इसी तरह इतनी बड़ी दुनिया को आलोकित करने की शक्ति एक सूर्य में नहीं हो सकती। अतएव असंख्यात द्वीप समुद्रों की तरह सूर्य-चन्द्र भी असंख्यात हैं। जो व्यक्ति दुनिया के इस विराट रूप को नहीं जानता है और नहीं मानता है वह समझता है कि यह आँखों से दिखाई देने वाली ही दुनिया है और इसे प्रकाशित करने वाला एक ही सूर्य है। यह धारणा अपूर्ण है।

प्राय सब मतावलम्बियों ने आत्मा को पहचानने का प्रयत्न किया है। सब ने आत्मतत्त्व की गूढ़ता को समझने के लिए इस ओर प्रयास किया है। परन्तु सफर बहुत लम्बा है। सहज ही सब कोई इस लम्बे सफर को तय कर मंजिल पर नहीं पहुँच पाता। मार्ग की कठिनाइयों और विषमताओं को अन्त तक पार करता हुआ कोई धीर-वीर ही इस सुदूर मंजिल पर पहुँच सकता है। अनेकों ने इस मार्ग पर प्रस्थान तो किया है परन्तु वे बीच में ही लड़खड़ा गये हैं। आत्मा का मार्ग आसान नहीं है। यह नजदीक का सैर-सपाटे वाला सफर नहीं है। यह तो वह कण्टकाकीर्ण और विषम मार्ग है जिस पर कोई असाधारण धीर वीर ही सफलतापूर्वक चलता हुआ मंजिल पर पहुँचता है।

आत्म विषय का कोर्स (पाठ्यक्रम) मर्यादित नहीं है। स्कूल की कक्षाओं के पाठ्यक्रम की तरह यह कुछ ही वर्षों में पूरा नहीं हो सकता। यह वह अमर्यादित पाठ्यक्रम है जो अनन्त जन्मों की साधना तक भी पूरा नहीं होता।

इस विराट विश्व को यदि कोई लालटेन लेकर, हण्डे लेकर या बिजली की रोशनी लेकर देखना चाहे तो क्या इनसे सम्पूर्ण विश्व देखा जा सकता है? नहीं, कदापि नहीं देखा जा सकता है। लालटेन टूट जाती है, हण्डा की गैस निकल जाती है, बिजली फ्यूज हो जाती है। इनमें यह शक्ति नहीं कि ये विश्व को दिखला सकें। यह शक्ति तो केवल सूर्य में है। सूर्य ही में यह शक्ति है

अतएव आवरणों को दूर करने का प्रयत्न करना चाहिए। आवरणों के दूर होते ही वह आत्म-ज्योति कोटि-कोटि सूर्यों के प्रकाश से भी अधिक प्रकाशमान होकर जगमगाने लगेगी।

आप कहेंगे– महाराज ! आपने तो ऐसी गूढ़ पहेली हमारे सामने रख दी कि हमारा सारा उत्साह ही ठंडा पड़ गया। केवल-ज्ञान तो हो नहीं सकता और इसके बिना आत्मा को जाना नहीं जा सकता तो हमें क्या आत्मा को समझने का प्रयास छोड़ देना चाहिए ?

बन्धुओ ! मेरा यह कथन आपके उत्साह को ठंडा करने के लिए नहीं अपितु आपके उत्साह को बढ़ाने के लिए है। मैं तो यह कहना चाहता हूँ कि आप आत्मा को जानने-पहचानने का अपना प्रयास तब तक चालू रखिये जब तक आपको इस अलौकिक प्रकाश-पुञ्ज केवलज्ञान की प्राप्ति न हो जाय। आप अपने भीतर इतनी दृढ़ता पैदा करें कि हम उस अनुपम आत्मज्योति के दर्शन करके ही रहेंगे। चाहें जैसी बाधाएँ क्यों न आएँ हम अविचलित होते हुए उस ज्योति के दर्शन हेतु निरन्तर अग्रसर होते रहेंगे। हृदय में यह अदम्य उत्साह और दृढ़ अध्यवसाय लेकर आपको आत्मपथ पर प्रस्थान कर देना है।

भद्र पुरुषों ! मंजिल पर वही पहुँचते हैं जो निर्धारित मार्ग पर दृढ़तापूर्वक चलते हैं। जो चलते ही नहीं वे छोटा-सा सफर भी तय नहीं कर सकते हैं। और जो चलते हैं वे धीरे २ चल कर

हाँ, तो सूर्य यान की बात में दुनिया को उस चमचमाते प्रकाश से भर देता है जो हजारों-लाखों दीपों से भी नहीं हो सकता। यद्यपि सूर्य का प्रकाश बहुत अधिक है फिर भी परिमित है। किन्तु एक ऐसा अलौकिक-सूर्य है जो समग्र लोकालोक को एक ही साथ आलोकित करता है– वह है आत्म-गगन का केवल-ज्ञानरूपी अनुपम सूर्य। केवलज्ञान अर्थात् सम्पूर्ण चराचर विश्व को हाथ में रहे हुए आँवले की तरह परिपूर्ण रूप से जानने-देखने की विलक्षण शक्ति। केवल ज्ञान अर्थात् लोकालोक व्यापी अनुपम प्रकाश और आत्मा का परिपूर्ण चरम और परम विकास !

इतना अनुपम प्रकाश— कोटि-कोटि सूर्यों से भी अधिक प्रकाश ! इतना विकास– !! इतनी ज्ञान की विभूति !! इस आत्मा में छिपा हुई है। यह आत्मा की छिपी हुई निधि है। यह निधि कहीं बाहर से प्राप्त होने वाली नहीं है। यह तो आत्मा की अपनी निजी निधि है। इस छिपी हुई निधि को प्रकट करने का प्रयास करने वाला और निरन्तर प्रयास से इसे प्रकट कर लेने वाला व्यक्ति निहाल हो जाता है आत्म-धन से मालामाल हो जाता है।

ऐसा परिपूर्ण आत्मज्ञान किन्हीं ग्रन्थों को पढ़ लेने से प्राप्त होने वाला नहीं है। इस प्रकार के आत्मज्ञान को उपार्जन करने का साधन तो कर्मों का क्षय करना है। आत्मा में वह अनन्त ज्ञान का प्रकाश विद्यमान है परन्तु उस पर आवरण पड़े हुए हैं। ये आवरण जितने २ अंश में हटते जाएँगे उतने २ अंश में वह ज्ञान का प्रकाश प्रकट होगा —

इसके विपरीत जिस व्यक्ति में आत्म-विश्वास नहीं, जिसमें दृढ़ इच्छा शक्ति नहीं और जिसमें कार्य करने का उत्साह नहीं उस निरुद्यमी, निरुत्साही नपुंसक को सिद्धियाँ उसी तरह छोड़ कर चली जाती हैं जैसे पक्षी छायाहीन वृक्ष को छोड़ जाते हैं और जैसे हंस सूखे सरोवर को छोड़ देते हैं। जो व्यक्ति अपने ध्येय के प्रति दीवाना हो जाता है उसके लिए सब आपत्तियाँ, कठिनाइयाँ और बाधाएँ रास्ता छोड़ कर अलग हट जाती हैं।

आपने यह सुना होगा कि नेपोलियन बोनापार्ट कहा करता था कि "मेरे शब्दकोष में 'असंभव' कोई शब्द नहीं।" उसमें कितना आत्म-विश्वास और अदम्य उत्साह की तरंगें काम कर रही थीं! उसने अपने अदम्य उत्साह और साहस के बल पर सारे यूरोप पर अपना प्रभाव जमा लिया था! जो जिस कार्य के पीछे दीवाना हो जाता है वह आगे-पीछे सफलता प्राप्त कर ही लेता है।

बहुत से लोग कहा करते हैं– यह काम तो हम से नहीं हो सकता है। यह तो बहुत कठिन काम है। पता नहीं, हम इसमें सफल होंगे या नहीं। इस प्रकार कहने वाले व्यक्तियों को अपनी शक्ति पर भरोसा नहीं होता। वे आत्मा की अनन्त-शक्ति में शंकाशील हैं। शंकाशील व्यक्ति कभी किसी महत्त्वपूर्ण कार्य को सम्पादित नहीं कर सकता है। अरे भाई! अपने-आपको इतना कमजोर और बुजदिल न बना! आत्मा की अनन्त शक्ति में विश्वास रख। जो काम भूतकाल में हुआ है, भविष्य काल में

भी मंजिल पर पहुँच जाते हैं। अतएव आप हताश न बनिये। अपने सामने केवलज्ञान का आदर्श रखिये और धीरे धीरे ही सही उस मंजिल पर पहुँचने का अपना पुरुषार्थ कायम रखिये। निराशा और अकर्मण्यता को कभी पास फटकने न दीजिए। केवलज्ञान को आप असम्भव न मानिये! यह दृढ विश्वास रखिये कि हम साधना करते हुए उस मंजिल पर आज नहीं तो किसी दिन अवश्य पहुँचेंगे। असफलता का विचार तक अपने पास न आने दीजिए। दृढ संकल्प, अदम्य उत्साह और प्रबल पुरुषार्थ से आप सकल विघ्न-बाधाओं पर विजय प्राप्त कर उस मंजिल पर पहुँच ही जाएँगे। कहा है:--

खौफे नाकामी है जब तक कामयाबी है मुहाल।
मुश्किलें जब बँध गई हिम्मत सब आसाँ हो गयीं॥

जब मनुष्य हिम्मत के साथ किसी कार्य में प्रवृत्त होता है तो सब बाधाएँ स्वयमेव दूर हो जाती हैं। अतएव कटिबद्ध होकर आगे बढना चाहिए। आप लोगों को अपने बल पर, अपनी योजनाओं पर और अपने पुरुषार्थ पर विश्वास होना चाहिए। आत्म-विश्वासी और प्रबल पुरुषार्थी के सामने सब शक्तियाँ नत-मस्तक हो जाती हैं। ऋद्धि-सिद्धियाँ उसके चरणों को चूमती हैं। उसके पुरुषार्थ के सामने पृथ्वी थर-थर काँपती है, समुद्र खाबोचिया तुल्य हो जाता है और बड़े २ दुर्लंघ्य पर्वत सुगम्य बन जाते हैं। पुरुषार्थी की महिमा अपरम्पार है।

उनसे कितनी अधिक साधन-सामग्रियां मिली हुई हैं फिर आप उस परम और चरम स्थिति पर क्यों नहीं पहुँच सकेंगे ? अवश्य उस स्थिति को आप प्राप्त कर सकते हैं, केवल आवश्यकता है पुरुषार्थ प्रकट करने की ! निर्धारित ध्येय की ओर चल पड़ने की !!

आप अचरज करते होंगे कि एकेन्द्रिय जीव अपना इतना विकास कैसे कर सकते हैं ! उनके न जीभ है, न नाक है, न आंख है, न कान है और न मन है। वे न कोई धर्म-क्रिया ही कर सकते हैं। उनके पास क्या साधन हैं जिनसे वे अपना विकास कर सकते हैं !

शास्त्रकार ने मनुष्य-आयु के चार कारण बतलाये हैं। प्रकृति की भद्रिकता, प्रकृति की विनीतता, सानुक्रोशता, अमत्सरता।

जो जीव प्रकृति से सरल होता है; छल-कपट, बेइमानी नहीं करता है। वैसे तो प्रकृति को सही २ रूप में आंकना मुश्किल है क्योंकि जब तक प्रकृति स्थूल रूप नहीं लेती है तब तक वह दिखाई नहीं देती है। काम, क्रोध, मान, माया, लोभ आदि विकार सूक्ष्म होते हैं। ये आभ्यन्तर विकार हैं। अतएव किसी दूसरे की प्रकृति को ठीक २ यद्यपि नहीं जाना जा सकता है तदपि बाह्य-आकारों से प्रायः उसका आभास मिल ही जाता है। हम देखते हैं कि एक व्यक्ति जब क्रोध करता है तब उसकी आंखें लाल हो उठती हैं, ओठ फड़कने लगते हैं, श्वासोच्छ्वास की गति तीव्र हो जाती है, इन चिन्हों से जान लिया जाता है कि

होगा और वर्त्तमानकाल में भी जो दूसरों से हो रहा है वह कार्य भला तू क्यों न कर सकेगा ? वास्तव में तेरी बुजदिली, तेरा कायरता, तेरी शकाशीलता और तेरी निराशा ही तेरे मार्ग में बाधक है। ऋद्धि सिद्धियाँ और सफलताएँ तो तेरा स्वागत करने के लिए खड़ी है परन्तु तेरी अपनी कमजोरी ही तेरा रास्ता रोके हुई है। तेरा कत्तव्य है कि तू एक बार उत्साह और पुरुषार्थ का सिंहनाद कर दे, सब आपत्तियाँ और बाधाएँ हिरणियों की तरह भाग जाएँगी। अतएव भव्य पुरुषों ! पुरुषार्थ का अवलम्बन लो! अधीर और व्याकुल न बनो। दृढता और धीरता के साथ आत्मा की उस अनन्त ज्योति को प्राप्त करने के लिए कटिबद्ध होकर आगे और आगे प्रस्थान और प्रयाण करने रहो।

भगवती सूत्र में प्रश्न किया गया है कि हे भगवन् ! पृथ्वीकाय, अप्काय और वनस्पतिकाय में रहते हुए कृष्णलेश्या, नीललेश्या और कापोतलेश्या वाले जीव पृथ्वीकाय, अप्काय और वनस्पतिकाय से निकल कर क्या मनुष्य शरीर पा सकते है ? क्रमश. योग साधना कर केवलज्ञान और निर्वाण प्राप्त कर सकते है ?

भगवान् ने उत्तर दिया– हाँ, गौतम ! वे जीव मानव शरीर पा सकते हैं और वहाँ क्रमश· योग साधना कर केवलज्ञान और निर्वाण प्राप्त कर सकते है।

विचार करिये, जब पृथ्वी, पानी, वनस्पति के एकेन्द्रिय जीव क्रमश· विकास करते २ निर्वाण प्राप्त कर सकते हैं तो आपको तो

उनसे कितनी अधिक साधन-सामग्रियाँ मिली हुई हैं फिर आप उस परम और चरम स्थिति पर क्यों नहीं पहुँच सकेंगे ? अवश्य उस स्थिति को आप प्राप्त कर सकते हैं, केवल आवश्यकता है पुरुषार्थ प्रकट करने की ! निर्धारित ध्येय की ओर चल पड़ने की !!

आप अचरज करते होंगे कि एकेन्द्रिय जीव अपना इतना विकास कैसे कर सकते हैं ! उनके न जीभ है, न नाक है, न आँख है, न कान है और न मन है। वे न कोई धर्म-क्रिया ही कर सकते हैं। उनके पास क्या साधन हैं जिनसे वे अपना विकास कर सकते हैं !

शास्त्रकार ने मनुष्य-आयु के चार कारण बतलाये हैं। प्रकृति की भद्रिकता, प्रकृति की विनीतता, सानुक्रोशता, अमत्सरता।

जो जीव प्रकृति से सरल होता है; छल-कपट, बेईमानी नहीं करता है। वैसे तो प्रकृति को सही २ रूप में आंकना मुश्किल है क्योंकि जब तक प्रकृति स्थूल रूप नहीं लेती है तब तक वह दिखाई नहीं देती है। काम, क्रोध, मान, माया, लोभ आदि विकार सूक्ष्म होते हैं। ये आभ्यन्तर विकार हैं। अतएव किसी दूसरे की प्रकृति को ठीक २ यद्यपि नहीं जाना जा सकता है तदपि बाह्य-आकारों से प्रायः उसका आभास मिल ही जाता है। हम देखते हैं कि एक व्यक्ति जब क्रोध करता है तब उसकी आंखें लाल हो उठती हैं, ओठ फड़कने लगते हैं, श्वासोच्छ्वास की गति तीव्र हो जाती है, इन चिन्हों से जान लिया जाता है कि

यह स्पष्ट प्रतिभासित है। इसी तरह मानव के बार बार के कार्यों में उसकी प्रकृति का अन्दाज लग ही जाता है। मनुष्य के व्यवहार को देख कर प्रायः यह प्रतीत हो जाता है कि यह सरल प्रकृति का है या गूढ़ प्रकृति का। यह सीधा-सच्चा है या कूट-कपट करने वाला बाँका टेढ़ा है। हाँ, तो जो जीव प्रकृति के सरल होते हैं, किसी को धोखा नहीं देते, छल-कपट नहीं करते, बेईमानी नहीं करते वे जीव मनुष्य भव जैसे दुर्लभ जन्म को प्राप्त कर लेते हैं। ज्ञानी पुरुषों ने देखा है कि एकेन्द्रिय जीवों में भी यह प्रकृति का भेद— यह अध्यवसायों का भेद पाया जाता है। जो एकेन्द्रिय जीव सरल प्रकृति के होते हैं वे अपने इस सद्गुण के द्वारा मानव जन्म पाकर विकास कर लेते हैं।

जिन जीवों के अन्तःकरण में दया के भाव होते हैं वे जीव भी मानव जन्म प्राप्त कर लेते हैं। कषायों की तरतमता पर दया-भाव की तरतमता अवलम्बित है। कषायों की जितनी मन्दता होती है उतनी ही दया होती है, और कषायों की जितनी तीव्रता होती है उतनी ही हिंसा होती है। क्रोध, मान, माया और लोभ जितने २ अधिक होते हैं वे उतने ही अधिक हिंसक भी होते हैं। अग्नि जितनी प्रचण्ड होती है उतनी ही अधिक भस्म करने वाली होती है। अग्नि मंद होगी तो भस्म करने की शक्ति भी कम होगी। कषाय जितने तीव्र होते हैं उनके द्वारा उतनी ही तीव्र हिंसा भी होती है। हिंसा का अर्थ किसी को कत्ल कर देना ही नहीं है अपितु किसी को कष्ट पहुँचाने का जरा

सी भी स्फुरणा हृदय में हो जाय तो वह भी हिंसा है। हिंसा का दारमदार कषायों पर है। कषायों का क्षेत्र बड़ा व्यापक है। ये बहुत दूर तक भी पहुँचे हैं। दुनियादारी के लोगों तक ही न रुक कर ये बड़े २ योगियों के पीछे भी पड़े हैं। दशवें गुण-स्थान तक भी ये बने रहते हैं। किन्तु यहाँ वे बहुत सूक्ष्म रूप में रहते हैं। तात्पर्य यह है कि कषायों का क्षेत्र बड़ा विस्तृत है अतएव साधक को इनसे बचने के लिए विशेष जागृत रहना चाहिए। जो साधक कषायों को जितना मन्द कर देता है वह हिंसाभाव से भी उतने अंशों में बच जाता है।

एकेन्द्रिय जीवों के कषाय मंद होते हैं। कोई कोई योग की साधना करने वाले योग से विचलित हो जाते हैं और वे एकेन्द्रियादि में चले जाते हैं। वहाँ उनके दोष का परिमार्जन हो जाता है। जिस प्रकार अपराधी जब भलीभाँति सजा भोग लेता है तो वह जेल से सहज ही छूट जाता है। दान-पुण्य से वह जेल से नहीं छूटता, सजा भोग लेने से ही वह छुटकारा पाता है। इसी तरह जीव एकेन्द्रिय आदि योनियों में यदि अपने कृतापराधों की सजा भलीभाँति भोग लेते हैं तो वे सहज ही उससे छूट जाते हैं और मनुष्य-भव को प्राप्त कर सकते हैं।

एकेन्द्रिय जीवों के मन नहीं होता, यह ठीक है परन्तु उनके भी अध्यवसाय होते हैं। शुभ अध्यवसायों के द्वारा वे अपना विकास कर सकते हैं।

सामान्यतया लोग यह समझते हैं कि पाप-पुण्य का आधार मन है। जिसके मन नहीं है वह क्या पाप-पुण्य कर सकता है? परन्तु हमारे सूक्ष्मदर्शी केवलज्ञानियों की दृष्टि बहुत आगे तक गई है। उन्होंने बताया कि मन तो बड़ा यन्त्र है। इससे भी एक सूक्ष्म यन्त्र अध्यवसाय है।

जीव जब आयुष्य पूर्ण कर दूसरी गति में जाता है, जब तक वह नवीन उत्पत्ति स्थान पर नहीं पहुँचता है और रास्ते से गुजर रहा है– जिसमें केवल १–२ या तीन समय लगते हैं उतने सूक्ष्म समय में वह जीव सात कर्मों को बाँधता है और भोगता है, ऐसा शास्त्रकारों ने निरूपण किया है। विग्रह गति का समय वर्ष, मास दिन, घण्टे, घडी, मिनट और सैकण्ड का नहीं है। वह काल केवल एक दो या तीन समय का होता है। काल का सूक्ष्म से सूक्ष्म विभाग समय कहलाता है। आँख खोल कर बंद करने में जितना काल लगता है उतने में तो असंख्यात समय बीत जाते हैं। इतने सूक्ष्म समय में जीव सात कर्मों को बांधता है और भोगता है। उस समय न उसके स्थूल शरीर होता है, न आंख कान आदि इन्द्रियां होती हैं, न मन होता है फिर भी वह विग्रह गति वाला जीव आयु कर्म को छोड़ कर सात प्रकृतियों को बांधता है और भोगता है यह केवल अध्यवसायों के द्वारा ही होता है। मन से काम करने में असंख्य समय लगते हैं, वचन और शरीर की क्रिया में भी असंख्य समय लगते हैं– एक दो समय में तो जीव की स्वाभाविक क्रिया ही हो सकती है। इतने सूक्ष्मकाल में

जीव सात कर्म-प्रकृतियों को बांधता है और भोगता है, यह केवल अध्यवसायों के कारण से ही। अन्तरात्मा में उथल-पुथल होती है जिससे यह बन्ध और भोग होता है। अतएव यह मानना चाहिए कि बन्ध-भोग का मूलाधार अध्यवसाय हैं। शुभ अध्यवसायों के द्वारा एकेन्द्रिय जीव अपना विकास करके मानव-जन्म प्राप्त कर सकते हैं और यहाँ आत्मसाधना करके निर्वाण प्राप्त कर सकते हैं।

जिस व्यक्ति के पास जितने और जैसे साधन होते हैं उन्हीं से तो उसे काम लेना होता है। साधनों की प्राप्ति का आधार कर्म है। कोई पुरुष रात-दिन मेहनत करके सेठ बनता है और कोई बनी-बनाई का मालिक बन जाता है। इसमें कर्म का सिद्धान्त कार्य कर रहा है। कर्मवाद का सिद्धान्त निश्चल, ध्रुव और शाश्वत है। इसमें किसी प्रकार का मीन-मेप नहीं चल सकता। कर्मवाद के न्यायी शासन में रियायत, पोल और रिश्वत का तनिक भी काम और नाम-निशान नहीं होता।

दुनिया चाहे जिस वाद के प्रवाह में वह जाय, कर्मवाद के सिद्धान्त को कोई मिथ्या नहीं कर सकता। आजकल साम्यवाद का प्रवाह चल पड़ा है। उस प्रवाह में दुनिया वह रही है। साम्यवाद बुरा है यह मैं नहीं कहता। साम्यवाद अच्छा है मगर उसके स्वरूप को समझने के बाद ही वह अच्छा है। आज जिसे साम्यवाद कहा जाता है, जिसकी बुनियाद हिंसा पर अवलम्बित है वह कदापि देश की समस्या को नहीं सुलझा सकता। वह देशवासियों

के लिए हितकर नहीं हो सकता। तथाकथित साम्यवाद सम्भव नहीं है। सम्पूर्ण समानता तो कदापि आ नहीं सकती है। प्रकृति जन्य विषमताएँ है वे तो रहने वाली ही है। कोई जन्म से ही अंधा होता है, कोई बहरा होता है और कोई गूंगा होता है इत्यादि कई प्रकार की विषमताएँ रहने ही वाली हैं। सीधी-सी बात तो यह है कि सम काम करोगे तो सम फल मिलेगा और विषम काम करोगे तो विषम फल मिलेगा। कर्मवाद का सिद्धान्त अचल है उसे कोई मिथ्या नहीं कर सकता।

परन्तु यह बात अवश्य कहूँगा कि धन के कीड़ों ने अनुचित उपायों से जो धन बटोरा है उसकी प्रतिक्रिया हुए बिना नहीं रह सकती। आर्थिक विषमता तो मानव ने पैदा की है इसलिए वह उसे दूर भी कर सकता है। मनुष्य ने अपने स्वार्थ के कारण जो विकृति पैदा की है उसमें सुधार होना चाहिए। जो अपने पोषण के लिए दूसरे मानवों का शोषण करते हैं उन्हें सबक सीख लेना चाहिए। जमाने की हवा का रुख तेजी से बदल रहा है। दुनिया तेजी से करवट बदल रही है। समय रहते हुए सावधान हो जाना चाहिए। दूसरों का शोषण करना सदैव बुरा है। प्रत्येक मानव को पोषण की आवश्यकता है और उसे अपने पोषण का अधिकार है परन्तु उस पोषण की मर्यादा वहीं तक है जहाँ तक दूसरे का शोषण न होता हो। परन्तु आज तो बड़े बड़े अजगर और मगर मच्छ छोटी छोटी मछलियों को डकार जाते हैं। परन्तु याद

रखना चाहिए कि मछलियों के काँटे पेट में दुःख पैदा करने वाले हो जाया करते हैं।

कई लोगों की यह धारणा है कि चाहे जिन अच्छे-बुरे उपायों से धन कमा लेना पुण्य का फल है। बेईमानी करना, विश्वासघात करना, धरोहर दबा लेना, रिश्वत लेना, रिश्वत देकर परमिट प्राप्त करना और मुनाफा कमाना, बेफाम मुनाफाखोरी करना और ऐसे-ऐसे अन्य साधनों से दूसरों का गला काट कर धन जोड़ना कदापि पुण्य का फल नहीं हो सकता। पुण्य तो वह है, जिससे बुद्धि और मन शुद्ध हो। 'पुनातीति पुण्यं' जो पवित्र करे- शुद्ध करे वह पुण्य कहलाता है। जो मलिन भावना पैदा करता है, जो मानव-हृदय को कठोर और निर्मम बनाता है वह धन पुण्य का फल नहीं है। ऐसे अनीति के धन को पुण्य नहीं, पाप मानना चाहिए। ऐसा अनीति का धन न जाने कब अनिष्ट पैदा कर सकता है। अतएव उसे पाप के समान भयंकर समझ कर सदैव दूर रहना चाहिए।

सज्जनों ! वह पानी ही क्या जो प्यास को बढ़ाता है। पानी का काम प्यास को बुझाना है न कि प्यास को बढ़ाना। जो प्यास को बढ़ाता है वह पानी ही नहीं है। इसी प्रकार वह पुण्य ही क्या जो पाप को जन्म देता है, जो मलिनता और निर्ममता पैदा करता है। पुण्य तो वह है जो भावना को शुद्ध बनाता है, मति को निर्मल बनाता है और पवित्र प्रेरणा प्रदान करता है। अतएव

"अनीति का धन पुण्य का फल है" इस भ्रान्त धारणा को दिमाग से अलग कर देना चाहिए।

एक महत्वपूर्ण बात और ध्यान में रखना चाहिए कि धन वाले अपने धन को चाहे जमीन में गाड़ दें, बैंकों में जमा करा दें, मजबूत तिजोरियों में बंद कर दें, बिजली के करेन्ट वाली सेफों में रख दें, जब तक दुनियां में भूखे हैं तब तक उस धन की सुरक्षा स्थायी होने वाली नहीं है। यदि धन वाले अपने धन की सुरक्षा चाहते हैं तो उन्हें दुनियां के पर्दे से भूख का नाम निशान मिटाना पड़ेगा, जब दुनियां के सब व्यक्तियों को भर पेट खाना मिलेगा तब दुनियां में सहज ही शान्ति स्थापित हो सकेगी। अन्यथा नहीं।

बन्धुओं! आपको यह सूत्र हमेशा ध्यान में रखना चाहिए "सुख से जीओ और सुख से जीने दो।" यह शान्ति का स्वर्ण-सूत्र आपके सामने रहेगा तो ही चैन की सांस ली जा सकेगी।

दुनियां में प्रकृति के प्रसाद से पदार्थों की कमी नहीं है। पदार्थ बहुत हैं। परन्तु जहाँ आपा धापी है वहाँ बहुत चीजों से भी काम नहीं सरता है और जहाँ संतोष है वहाँ थोड़ी चीज से भी काम सर जाता है। स्वार्थी मानव ने अपनी आपा धापी प्रवृत्ति के कारण बहुत अधिक संग्रह कर रखा है इसलिए दूसरे मानवों को अपने पोषण के अधिकार से भी वञ्चित रहना पड़ता है। यही भूखमरी कंगालियत और बेकारी की जड़ है। इस आपा धापी प्रवृत्ति को इन्सान छोड़ दे तो दुनियाँ स्वर्ग बन जाय। स्वार्थमय अशुभ अध्यवसायों के कारण ही दुनिया का वातावरण अशान्त

है। इस अशान्त वातावरण को छिन्न-भिन्न करने के लिए आवश्यक है पवित्र अध्यवसाय, निर्मल भावना !

अध्यवसाय और भावनाओं का बड़ा भारी महत्त्व है। मकान बनाने वाला मजदूर पहले जमीन से दो तीन हाथ नीचे उतरता है। वह नीचे उतरता है परन्तु उसकी भावना दीवार को ऊँचा उठाने की है। वह दूसरे को ऊँचा उठाने की भावना लेकर स्वयं नीचे उतरता है। वह ज्यों ज्यों दीवार को ऊँचा उठाता है त्यों-त्यों दीवार भी उसे ऊँचा उठाती है।

एक बात पर और ध्यान दीजिए ! दीवार ऊँची कब उठी ? जब उसमें छोटे और बड़े ईंटों के टुकड़े मिल गये। यदि बड़ी २ ईंटें छोटी ईंटों को नहीं अपनाती हैं तो वे अपना सिर फुड़वाती हैं। मोड़ में जहाँ बड़ी ईंट काम नहीं आती है वहाँ छोटी ईंट—ईंट के टुकड़े को लगाया जाता है। यदि छोटी ईंट नहीं है तो मजदूर बड़ी ईंट को तोड़ फोड़ कर छोटी बनाता है। यदि बड़ी ईंटें छोटे-टुकड़ों के साथ मेल रखती हैं तो उनके सिर-फुड़वाने की नौबत नहीं आती है। इसलिए बड़ी ईंटों को चाहिए कि वे छोटी ईंटों और छोटे २ टुकड़ों से मेल रखें। ऐसा करने में उनकी ही सुरक्षा है। छोटी ईंटों को भी चाहिए कि वे बड़ी ईंटों को नजर-अन्दाज न करें क्योंकि उनका बहुत सारा काम बड़ी ईंटें निकाल देती हैं।

मनुष्यों को इस ईंट के रूपक से शिक्षा लेनी चाहिए। जो बड़े कहलाते हैं उन्हें छोटों से मोहब्बत करनी चाहिए और जो

छोटे हैं उन्हें बड़ों का आदर करना चाहिए। जहाँ यह मेल है वहीं सुख शान्ति है। जहाँ संघर्ष है वहाँ दोनों को अशान्ति है। कारीगर मकान बनाने के लिए नीचे से ऊपर चलता है। वह दीवार को ऊँचा उठाता है तो दीवार के साथ वह भी ऊँचा उठता जाता है। इसी प्रकार यदि आप किसी के जीवन को ऊँचा उठाएँगे, किसी की बिगड़ी को बनाएँगे तो आपका जीवन भी ऊँचा ऊँचा उठेगा और आपकी बाजी सदा बनी रहेगी। जो मजदूर मकान को गिराने की भावना से ऊपर जाता है तो उसके मुख पर धूल गिरती है और वह उस मकान के गिरने के साथ ही साथ खुद भी नीचे उतर आता है। अतएव अध्यवसायों को सदा उच्च बनाये रखना चाहिए।

उच्च अध्यवसायों से आत्मा उत्थान की ओर अग्रसर होता रहता है। चींटी चलता २ मंजिल पर पहुँच जाती है और साढ़े तीन हाथ का पुतला बैठा रहे तो वह इंच भर भी आगे नहीं बढ़ सकता। अतएव हिम्मत न हारते हुए, उच्च अध्यवसायों को अपनाते हुए आत्म पथ में आगे और आगे बढ़ते रहना चाहिए।

अर्हन्त प्रभु का आदर्श अपने सामने रखते हुए, उच्च अध्यवसायों के द्वारा समस्त कठिनाइयों को पार करते हुए, आत्मार्थी पुरुष आत्म-कल्याण के मार्ग पर निरन्तर प्रगति करते हुए अन्ततः उस अनन्त आत्म ज्योति को प्राप्त कर लेते हैं।

रतलाम
ता० १२-१०-५२

आत्मतत्त्व-निरूपण

विश्व-हितकर चरम तीर्थंकर भगवान् महावीर ने आत्म-हितैषियों के लिए चार मौलिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है। वे हैं:- आत्मवाद, लोकवाद, कर्मवाद और क्रियावाद। इनमें सबसे प्रधान और महान् आत्मवाद है। आत्मवाद ही सब का मूलाधार है। इस मूल तत्त्व पर ही सारी सृष्टि और दृष्टि (विचार) अवलम्बित है। इस तत्त्व का कल भी प्रतिपादन किया गया था और आज भी मुझे इसी तत्त्व की व्याख्या करनी है। क्योंकि आत्मतत्त्व बड़ा गूढ़ है। यद्यपि यह विषय इतना विस्तृत है कि इसकी सम्पूर्ण व्याख्या हम जैसे छद्मस्थों से अल्पज्ञों से संभव नहीं है। तदपि आध्यात्मिक विकास और प्रकाश का सारा दारमदार इसी आत्म-तत्त्व पर है इसलिए इसका जितना भी अधिक से अधिक विवेचन और स्पष्टीकरण किया जाय उतना ही आत्मार्थियों के लिए हितावह है। यही दृष्टि विन्दु सामने रख कर मैं प्रतिदिन आत्म-तत्त्व के विषय में आपको थोड़ा बहुत कहता रहता हूँ।

सज्जनों! आत्म-तत्त्व अनुपम अमृत है। अमृत का पान कौन नहीं करना चाहता? अमृत का पान करते २ कौन अघाता

है ? इसी प्रकार अध्यात्म के रसिकों को आत्म-तत्त्वरूप अमृत के पान में अनुपम आनन्द का अनुभव होता है। वे इस आध्यात्मिक रसास्वाद से कभी नहीं अघाते। इस अमृत का पान करने के लिए वे सदा अधिकाधिक उत्कंठित रहते हैं। अमृत का जितना पान किया जाय उतना ही थोडा है इसी तरह आत्मा का जितना निरूपण किया जाय उतना ही थोडा है भगवान् महावीर ने अपने मुखारविन्द से अध्यात्म-रस की जो धारा प्रवाहित की है उसमें चञ्चु प्रवेश कर अध्यात्म-रस का जो विन्दु मैंने प्राप्त किया है उसी का आस्वादन आपको कराना चाहता हूँ। अय ! आत्मिक-रस के रसिक भँवरों ! इस अनुपम रस का पर्याप्त-पान करो।

अय जिज्ञासुओं ! मुमुक्षुओ ! यदि आप जीवन का चरम और परम विकास चाहते हैं, यदि आप शाश्वत शान्ति का आनन्द चाहते हैं तो आत्मा को समझो, आत्मा की विमल झाँकी के दर्शन करो। आत्मज्योति का वास्तविक दर्शन आपको पूर्ण आलोकमय और आनन्दमय बना देगा।

वैसे समस्त आस्तिक दर्शनों ने और सभी मतावलम्बियों ने आत्मा की सत्ता को स्वीकार किया है परन्तु उसके स्वरूप के विषय में सबकी न्यारी न्यारी धारणाएँ हैं। आत्मा के सम्पूर्ण स्वरूप को समझने के लिए विविध दृष्टिकोणों से उसे देखना आवश्यक है। इसके बिना उसका समग्र स्वरूप नहीं समझा जा सकता। अन्य मतावलम्बियों ने केवल एक एक दृष्टिकोण से आत्मा को देखने का प्रयास किया और ऐसा करते हुए आत्मा के जिस

एकाङ्गी स्वरूप की उन्हें झांकी मिली उसे ही उन्होंने पूर्ण मान लिया।

जिस प्रकार शरीर का ठीक २ चित्र चित्रित करने के लिए शरीर के सारे अवयवों का व्यवस्थित रूप से आलेखन करना आवश्यक होता है, ऐसा किये बिना शरीर की वास्तविक आकृति समझ में नहीं आ सकती। इसी तरह आत्मा के वास्तविक स्वरूप को समझने के लिए यह आवश्यक है कि उसके भिन्न २ पहलुओं का अवलोकन किया जाय। जैसे केवल मुख से, केवल पेट से, केवल हाथ पांव से, किसी मानवाकृति का पूरा २ बोध नहीं होता इसी तरह आत्मा के एक-एक अधूरे गुण से उसके सच्चे, सम्पूर्ण स्वरूप का ज्ञान नहीं हो सकता।

जैसे शरीर के एक-एक अवयव को ही सम्पूर्ण शरीर मान कर दूसरे अवयवों को छोड़ देने से शरीर की छीछालेदर हो जाती है, शरीर छिन्न-भिन्न और विकृत हो जाता है इसी तरह आत्मा के एक अंश को ही सम्पूर्ण अंश मान कर शेष अंशों का अपलाप कर देने से आत्मा का वास्तविक रूप छिन्न-भिन्न, अस्त-व्यस्त और विकृत हो जाता है। एकान्तवादी दर्शनों और मतावलम्बियों ने आत्मा को मान कर भी इसके एक एक धर्म को ही स्वीकार कर, शेष धर्मों की अवहेलना कर आत्मा के वास्तविक स्वरूप को विकृत बना डाला है। एकान्त दृष्टिकोण होने के कारण अन्य मतावलम्बी आत्मा को विभिन्न पहलुओं से न देख सके। जब तक किसी वस्तु के स्वरूप को विभिन्न पहलुओं से न

देखा जाय वहाँ तक उसका समग्र स्वरूप कैसे जाना जा सकता है ? एक दृष्टिकोण से देखा गया स्वरूप एकाङ्गी होता है । वह एकाङ्ग यद्यपि वास्तविक है परन्तु वह सम्पूर्ण नहीं होता। एकाङ्ग को एकाङ्ग माना जाय और उसे सम्पूर्ण मानने की धृष्ठता न की जाय तो यह सत्य है परन्तु जब एकाङ्ग को ही सम्पूर्ण स्वरूप बता दिया जाता है तब वह एकाङ्ग भी मिथ्या हो जाता है। एकान्तवादी दर्शनों ने भी अपनी दृष्टिकोण से देखे गये एकान्त स्वरूप को ही समग्र स्वरूप मान लेने की भूल की है । इसलिए वे आत्मा के यथार्थ स्वरूप को न जान सके और न उसका वास्तविक प्रतिपादन ही कर सके ।

आइये, हम थोड़े २ में उनकी एकाङ्गी धारणाओं की चर्चा और मीमासा करें । पहले के व्याख्यानों में मैं आत्मा को सर्वथा क्षणभंगुर मानने वाले बौद्ध दर्शन की चर्चा कर चुका हूँ । आपको याद होगा कि बौद्ध दर्शन प्रत्येक पदार्थ को क्षण क्षयी ही मानता है । उसका यह मन्तव्य है कि जैसे नदी प्रवाह का पानी प्रात क्षण नया नया आता-जाता रहता है पहले वाला पानी चला जाता है और उसके साथ ही नया पानी आता है इस तरह पानी का आना जाना निरन्तर होता रहता है । यद्यपि हमें यह प्रतीत होता है कि यह वही पानी है परन्तु यह प्रतीत मिथ्या है । पहले क्षण का पानी अलग है, दूसरे क्षण का पानी अलग है । इसी तरह प्रत्येक पदार्थ प्रतिक्षण बदलता रहता है । प्रत्येक क्षण में पदार्थ निरन्वय नष्ट होता है और नवीन उत्पन्न होता रहता है । हमें यह प्रतीत

होता है कि यह वही पदार्थ है, यह वासना के कारण होने वाली भ्रान्ति-मात्र है। इस प्रकार बौद्धों के मत में आत्मा एकान्त अनित्य और क्षणभंगुर है !

बौद्धों के इस क्षणिकवाद को मानने से विविध बाधाएँ खड़ी होती हैं। ऐसा मानने पर किसी प्रकार के लौकिक या लोकोत्तर व्यवहार की सिद्धि नहीं हो सकती। कर्म और कर्म के फल की भी व्यवस्था नहीं हो सकती। इसके अभाव में स्वर्ग-नरक, और बन्ध-मोक्ष की संगति नहीं बैठती। कर्म का करने वाला प्रथम क्षण में ही निरन्वय हो जाता है तो उसका फल कौन भोगेगा ? द्वितीय क्षणवर्ती जीव तो उसका फल नहीं भोग सकता क्योंकि उसने वह कर्म किया ही नहीं है। इस तरह जिसने कर्म किया उसे फल नहीं मिलेगा और जिसने कर्म नहीं किया उसे उसका फल भोगना पड़ेगा। यह व्यवस्था कभी माननीय नहीं हो सकती। बौद्ध मत की इस मान्यता के अनुसार तो किसी कार्य का संकल्प करने वाला कोई और, साधन जुटाने वाला कोई और, कार्य शुरु करने वाला कोई और तथा कार्य को समाप्त करने वाला कोई और ही होता है। जो बालक स्कूल में प्रविष्ट हुआ वह और है, जिसने पुस्तक उठाई वह और, पढ़ने वाला कोई दूसरा, परीक्षा देने वाला और पास होने वाला कोई दूसरा। भला, यह भी कोई व्यवस्था है ! शुभ या अशुभ कर्म करने वाला कोई और, और फल पाने वाला कोई और। इस अव्यवस्था का निराकरण करने के लिए एकान्त क्षणिकवाद को तिलांजलि देनी होगी। इस विषयमें में

पहले समझा चुका हूँ अतएव अधिक विस्तार न करते हुए इतना ही संकेत कर देना पर्याप्त होगा कि आत्मा को एकान्त क्षणिक मानने से बन्ध-मोक्ष आदि की आस्तिक-जन-सम्मत व्यवस्था नहीं हो सकती अतएव एकान्त क्षणिकवाद स्वीकार करने योग्य नहीं है।

वैसे जैनदर्शन भी प्रतिक्षण पदार्थ की पर्याय का परिवर्तन होना मानता है परन्तु साथ ही यह द्रव्य रूप से पदार्थ की ध्रुवता को स्वीकार करता है अतएव पूर्वोक्त अव्यवस्था जैनदर्शन में नहीं रहती। बौद्ध दर्शन ने पर्यायों का परिवर्तन न मानकर द्रव्य को ही परिवर्तित मान लिया।

बौद्धों का निर्वाण भी बडा अजीब-सा है। इसके सम्बन्ध में उनका मन्तव्य है कि पूर्वक्षणवर्त्ती आत्मा का नष्ट हो जाना और उत्तर क्षणवर्त्ती आत्मा का उत्पन्न न होना ही आत्मा का निर्वाण है। जैसे दीपक की लौ का नष्ट हो जाना और नवीन उत्पन्न होना ही दीपक का निर्वाण है। इसी तरह आत्मा का निर्वाण होता है। कैसी विचित्र मान्यता है! इसका अर्थ तो यह हुआ कि आत्मा का अभाव हो जाना-मिट जाना ही निर्वाण है। भला कौन बुद्धिमान् मनुष्य अपनी हस्ती मिटाने के लिए प्रयत्न करना चाहेगा। ऐसे शून्यरूप निर्वाण का क्या अर्थ है? ऐसे निर्वाण के लिए कोई प्रेक्षावान् पुरुष पुरुषार्थ नहीं कर सकता। अतएव दीप-निर्वाण की तरह आत्म निर्वाण मानना युक्तिसंगत नहीं है।

सांख्य आदि दर्शन आत्मा को कूटस्थ नित्य मानते हैं। उनके मत में नित्य की परिभाषा है—'अप्रच्युतानुत्पन्नस्थिरैकरूपो नित्यः, जो कभी नष्ट न हो और न कभी उत्पन्न हो; सदा एक स्वरूप में स्थिर रहता हो वह नित्य है। अगर आत्मा को इस प्रकार का कूटस्थ नित्य मान लिया जाय तो उसमें किसी प्रकार की क्रिया संभवित नहीं हो सकती। इस परिभाषा के अनुसार तो नित्य पदार्थ में किसी प्रकार की क्रिया का होना ही असंभव हो जाता है। पदार्थ का लक्षण अर्थक्रियाकारित्व है। और नित्य पदार्थ में यह अर्थ क्रियाकारित्व संभवित नहीं है अतएव पदार्थ को नित्य मानने से उसका स्वरूप ही नष्ट हो जाता है। एक ही पदार्थ के जो विविध रूप देखे जाते हैं, जो उसकी विभिन्न अवस्थाएँ दृष्टिगोचर होती है और जो कार्य-भेद देखा जाता है वह कूटस्थ नित्य मानने पर कैसे संगत हो सकता है ?

हम प्रतिक्षण पदार्थों के स्वरूप में परिवर्तन होता हुआ देखते हैं। यह परिवर्तन पदार्थ को एकान्त नित्य मानने पर घटित नहीं होता। दूसरी बात यह है कि यदि आत्मा को कूटस्थ नित्य मान लिया जाता है तो जो आत्मा वर्त्तमान में जिस स्वरूप में है वह उसी स्वरूप में सदा विद्यमान रहेगा। जो बँधा हुआ है वह सदा बँधा ही रहेगा।

तो मोक्ष के लिए किया जाने वाला प्रयत्न निष्फल ही रहेगा। आत्मा को परमात्मा बनाने के लिए किया जाने वाला प्रयत्न जप-तप, ध्यान-ज्ञान आदि निरर्थक सिद्ध होंगे। यह कदापि

मान्य नहीं हो सकता । अतएव आत्मा को एकान्त नित्य भी नहीं स्वीकार किया जा सकता है ।

वस्तुतः आत्मा न तो सर्वथा क्षणिक है और न सर्वथा कूटस्थ नित्य है । वह तो परिणामी नित्य है अर्थात् पर्यायों के प्रतिक्षण बदलते रहने की अपेक्षा वह परिणमन शील है और पर्यायों के बदलते रहने पर भी अपने मूल स्वरूप में सदा स्थिर रहने वाला होने से वह ध्रुव है—नित्य है । इस तरह आत्मा द्रव्य की अपेक्षा नित्य है और पर्यायों की अपेक्षा अनित्य है । यही स्याद्वादमयी विचार-धारा सत्य को लिए हुए है । अनेकान्त ही एकान्त कान्त सत्य सुन्दर है ।

अब वेदान्त-सिद्धान्त की ओर दृष्टिपात करें । वेदान्त का मन्तव्य है कि जो कुछ दृश्य, अदृश्य चर-अचर, स्थावर-जगम, आदि हैं वह सब ब्रह्म (आत्मा) का स्वरूप ही है । ब्रह्म के सिवाय और कोई तात्विक वस्तु नहीं है । यह जो घट-पटादि पदार्थ हमें प्रतीत होते हैं वह सब भ्रान्ति है, मिथ्या है । माया के कारण ऐसा प्रतीत होता है वस्तुत. यह भी ब्रह्म का ही रूप है ।

ब्रह्म सत्य जगन्मिथ्या । एकमेव ब्रह्म द्वितीय नास्ति

यह वेदान्त का मूल सिद्धान्त है । इस तरह वेदान्त दर्शन केवल आत्मा को ही मानता है; वह जड़ की सत्ता को नहीं मानता है । वह कहता है कि ब्रह्म के सिवाय जो पदार्थ प्रतीत होते हैं वह भी ब्रह्म की पर्याय मात्र हैं । एकही ब्रह्म हमें विविधरूप से

दिखाई देता है। इस ब्रह्माण्ड के उदर में जो भी है वह सब एक ही ब्रह्म का विविध रूपान्तर है। जिस प्रकार एक ही चन्द्रमा समुद्र की लहरों की वजह से अलग २ प्रतिबिम्बित होता है उसी प्रकार एक ही ब्रह्म विश्व के विविध पदार्थों के रूप में प्रतिबिम्बित होता है।

एक एव हि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः।
एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत् ॥

इस प्रकार वेदान्त आत्मा को एक और सर्व-व्यापक मानता है। वेदान्त का यह मन्तव्य, यह ब्रह्माद्वैत-वाद विचार की कसौटी पर खरा नहीं उतरता। जड़ और चेतन दो भिन्न २ तत्त्व हैं। जड़ तत्त्व की जड़ रूप नाना पर्याय हो सकती हैं। उसी तरह चेतन तत्त्व की चेतनरूप नानापर्य्याय हो सकती हैं परन्तु जड़तत्त्व की चेतनरूप पर्याय और चेतन तत्त्व की जड़रूप में पर्याय कदापि संभवित नहीं हैं। जड़ का चेतनरूप में और चेतन का जड़रूप में परिणमन त्रिकाल में संभव नहीं है। जड़ और चेतन में अत्यन्ताभाव है। एक का दूसरे के रूप में परिणमन तीन काल और तीन लोक में संभवित नहीं है। ब्रह्म (आत्मा) ज्ञान रूप है वह खाने-पीने, ओढने-बिछाने की चीज नहीं है। तो भला यह घट-पटादि पदार्थ ब्रह्म की पर्याय रूप कैसे माने जा सकते हैं?

ब्रह्माद्वैतवादियों से पूछना चाहिए कि यदि यह जगत्–घट-पटादि पदार्थ असत हैं, मिथ्या हैं तो इनकी प्रतीति क्यों होती है?

मान्य नहीं हो सकता । अतएव आत्मा को एकान्त नित्य भी नहीं स्वीकार किया जा सकता है।

वस्तुतः आत्मा न तो सर्वथा क्षणिक है और न सर्वथा कूटस्थ नित्य है। वह तो परिणामी नित्य है अर्थात् पर्यायों के प्रतिक्षण बदलते रहने की अपेक्षा वह परिणमन शील है और पर्यायों के बदलते रहने पर भी अपने मूल स्वरूप में सदा स्थिर रहने वाला होने से वह ध्रुव है—नित्य है। इस तरह आत्मा द्रव्य की अपेक्षा नित्य है और पर्यायों की अपेक्षा अनित्य है। यही स्याद्वादमयी विचार-धारा सत्य को लिए हुए है। अनेकान्त ही एकान्त कान्त सत्य सुन्दर है।

अब वेदान्त-सिद्धान्त की ओर दृष्टिपात करें। वेदान्त का मन्तव्य है कि जो कुछ दृश्य, अदृश्य चर-अचर, स्थावर-जगम, आदि हैं वह सब ब्रह्म (आत्मा) का स्वरूप ही है। ब्रह्म के सिवाय और कोई तात्विक वस्तु नहीं है। यह जो घट-पटादि पदार्थ हमें प्रतीत होते हैं वह सब भ्रान्ति है, मिथ्या है। माया के कारण ऐसा प्रतीत होता है वस्तुत. यह भी ब्रह्म का ही रूप है।

ब्रह्म सत्य जगन्मिथ्या। एकमेव ब्रह्म द्वितीय नास्ति

यह वेदान्त का मूल सिद्धान्त है। इस तरह वेदान्त दर्शन केवल आत्मा को ही मानता है; वह जड़ की सत्ता को नहीं मानता है। वह कहता है कि ब्रह्म के सिवाय जो पदार्थ प्रतीत होते हैं वह भी ब्रह्म की पर्याय मात्र हैं। एकही ब्रह्म हमें विविधरूप से

और लेने वाला भी ब्रह्म है। ब्रह्म ने ब्रह्म को दिया तो क्या देना और क्या लेना! इस तरह लौकिक व्यवस्था नहीं बन सकती है। पारलौकिक व्यवस्था भी नहीं घटित होती। बंधने वाला भी ब्रह्म और मुक्त होने वाला भी ब्रह्म है। एकही ब्रह्म है तो बंध-मोक्ष किसका? देव, मनुष्य, पशु-पक्षी नारक आदि सब ब्रह्म ही हैं। सब ब्रह्म हैं तो और आगे पुरुपार्थ ही करना कहाँ रहा? सब कृत कृत्य हैं!! ब्रह्म-अवस्था-परमात्मपद-प्राप्ति ही तो सब का ध्येय है और यदि सब ब्रह्म ही हैं तो फिर क्या करना शेप रह जाता है? इस प्रकार यह ब्रह्माद्वैतवाद भी युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता आत्मा एक नहीं है अपितु अनन्त आत्माएँ हैं।

वैशेपिक दर्शन ने आत्मा को अलग २ तो माना परन्तु उसने प्रत्येक आत्मा को प्रदेश रूप से सर्व-व्यापक माना। उसके मत से प्रत्येक आत्मा सर्व-व्यापक है। उसका कहना है कि दूर-सुदूरवर्त्ती देशों से हमारे उपयोग के लिए नाना प्रकार की वस्तुएँ आती हैं। अगर उन दूरवर्त्ती देशों में रहे हुए पदार्थों के साथ आत्मा का कुछ भी सम्बन्ध न हो तो वे पदार्थ वहाँ से यहाँ आकर हमारे उपयोग में कैसे आ सकते हैं? इस वास्ते मानना चाहिए कि आत्मा के प्रदेश वहाँ भी स्थित हैं जिनके सम्बन्ध से दूर देश-स्थित पदार्थ हमारे उपयोग में आते हैं अतएव आत्मा सर्व व्यापक है।

वैशेपिकों की यह मान्यता भ्रमपूर्ण है। दूरवर्त्ती पदार्थों के साथ सम्बन्ध स्थापित करने हेतु आत्मा को सर्वव्यापक मानने की

यदि वे कहते हैं कि अनादि कालीन माया (अविद्या) के कारण ऐसी प्रतीति होती है तो यह माया सत् रूप है या असत् रूप। यदि कहो कि माया असत् है तो असत् से घटपटादि की प्रतीति कैसे संभवित है ? यदि कहोकि माया सत् है तुम्हारा ब्रह्माद्वैतवाद समाप्त हो जाता है क्योंकि तुमने ब्रह्म के साथ माया को भी सतरूप मान लिया। इसीलिए हेमचन्द्राचार्य ने कहा है:—

माया सती चेत् द्वयतत्त्वसिद्धिरथासती हन्त कुतः प्रपञ्चः।
मायापि चेदर्थसहा च किं तत् माता च वन्ध्या च भवत्परेषाम्।

अर्थात्—अगर माया सत् है तो दो तत्त्वों की सिद्धि होती है—माया और ब्रह्म यदि माया असत् है तो यह दृश्यमान प्रपञ्च-घटपटादि पदार्थ किस कारण से प्रतीत होते हैं ? माया और अर्थ प्रतीति में तो वैसा ही विरोध है जैसे माता और वन्ध्या में। जो माता है वह वन्ध्या नहीं हो सकती। और जो वन्ध्या है वह माता नहीं हो सकती। इसी तरह यदि माया है तो वह अर्थ को बताने वाली नहीं हो सकती और यदि अर्थ को बताती है तो वह माया नहीं हो सकती ? अतएव आत्माद्वैतवाद युक्तिसंगत नहीं है।

इस आत्मद्वैतवाद में भी लौकिक और पारलौकिक व्यवस्था घटित ही नहीं हो सकती अतएव यह अव्यावहारिक है। लौकिक व्यवस्था लेन-देन आदि पर आश्रित है। देने वाला भी ब्रह्म है

और लेने वाला भी ब्रह्म है। ब्रह्म ने ब्रह्म को दिया तो क्या देना और क्या लेना! इस तरह लौकिक व्यवस्था नहीं बन सकती है। पारलौकिक व्यवस्था भी नहीं घटित होती। बंधने वाला भी ब्रह्म और मुक्त होने वाला भी ब्रह्म है। एकही ब्रह्म है तो बंध-मोक्ष किसका? देव, मनुष्य, पशु-पक्षी नारक आदि सब ब्रह्म ही हैं। सब ब्रह्म हैं तो और आगे पुरुषार्थ ही करना कहाँ रहा? सब कृत कृत्य हैं!! ब्रह्म-अवस्था-परमात्मपद-प्राप्ति ही तो सब का ध्येय है और यदि सब ब्रह्म ही हैं तो फिर क्या करना शेष रह जाता है? इस प्रकार यह ब्रह्माद्वैतवाद भी युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता आत्मा एक नहीं है अपितु अनन्त आत्माएँ हैं।

वैशेषिक दर्शन ने आत्मा को अलग २ तो माना परन्तु उसने प्रत्येक आत्मा को प्रदेश रूप से सर्व-व्यापक माना। उसके मत से प्रत्येक आत्मा सर्व-व्यापक है। उसका कहना है कि दूर-सुदूरवर्त्ती देशों से हमारे उपयोग के लिए नाना प्रकार की वस्तुएँ आती हैं। अगर उन दूरवर्त्ती देशों में रहे हुए पदार्थों के साथ आत्मा का कुछ भी सम्बन्ध न हो तो वे पदार्थ वहाँ से यहाँ आकर हमारे उपयोग में कैसे आ सकते हैं? इस वास्ते मानना चाहिए कि आत्मा के प्रदेश वहाँ भी स्थित हैं जिनके सम्बन्ध से दूर देश-स्थित पदार्थ हमारे उपयोग में आते हैं अतएव आत्मा सर्व व्यापक है।

वैशेषिकों की यह मान्यता भ्रमपूर्ण है। दूरवर्त्ती पदार्थों के साथ सम्बन्ध स्थापित करने हेतु आत्मा को सर्वव्यापक मानने की

यदि वे कहते हैं कि अनादि कालीन माया (अविद्या) के कारण ऐसी प्रतीति होती है तो यह माया सत् रूप है या असत् रूप। यदि कहो कि माया असत् है तो असत् से घटपटादि की प्रतीति कैसे संभवित है ? यदि कहोकि माया सत् है तुम्हारा ब्रह्माद्वैतवाद समाप्त हो जाता है क्योंकि तुमने ब्रह्म के साथ माया को भी सतरूप मान लिया। इसीलिए हेमचन्द्राचार्य ने कहा है:—

माया सती चेत् द्वयतत्त्वसिद्धिरथासती हन्त कुतः प्रपञ्चः।
मायापि चेदर्थसहा च किं तत् माता च वन्ध्या च भवत्परेषाम्।

अर्थात्—अगर माया सत है तो दो तत्त्वों की सिद्धि होती है—माया और ब्रह्म यदि माया असत् है तो यह दृश्यमान प्रपञ्च-घटपटादि पदार्थ किस कारण से प्रतीत होते हैं ? माया और अर्थ प्रतीति मे तो वैसा ही विरोध है जैसे माता और वन्ध्या में। जो माता है वह वन्ध्या नहीं हो सकती। और जो वन्ध्या है वह माता नहीं हो सकती। इसी तरह यदि माया है तो वह अर्थ को बताने वाली नहीं हो सकती और यदि अर्थ को बताती है तो वह माया नहीं हो सकती ? अतएव आत्माद्वैतवाद युक्तिसंगत नहीं है।

इस आत्मद्वैतवाद में भी लौकिक और पारलौकिक व्यवस्था घटित ही नहीं हो सकती अतएव यह अव्यावहारिक है। लौकिक व्यवस्था लेन-देन आदि पर आश्रित है। देने वाला भी ब्रह्म है

और लेने वाला भी ब्रह्म है। ब्रह्म ने ब्रह्म को दिया तो क्या देना और क्या लेना! इस तरह लौकिक व्यवस्था नहीं बन सकती है। पारलौकिक व्यवस्था भी नहीं घटित होती। बंधने वाला भी ब्रह्म और मुक्त होने वाला भी ब्रह्म है। एकही ब्रह्म है तो बंध-मोक्ष किसका? देव, मनुष्य, पशु-पक्षी नारक आदि सब ब्रह्म ही हैं। सब ब्रह्म हैं तो और आगे पुरुषार्थ ही करना कहाँ रहा ? सब कृत कृत्य हैं!! ब्रह्म-अवस्था-परमात्मपद-प्राप्ति ही तो सब का ध्येय है और यदि सब ब्रह्म ही हैं तो फिर क्या करना शेष रह जाता है ? इस प्रकार यह ब्रह्माद्वैतवाद भी युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता आत्मा एक नहीं है अपितु अनन्त आत्माएँ हैं।

वैशेषिक दर्शन ने आत्मा को अलग २ तो माना परन्तु उसने प्रत्येक आत्मा को प्रदेश रूप से सर्व-व्यापक माना। उसके मत से प्रत्येक आत्मा सर्व-व्यापक है। उसका कहना है कि दूर-सुदूरवर्त्ती देशों से हमारे उपयोग के लिए नाना प्रकार की वस्तुएँ आती हैं। अगर उन दूरवर्त्ती देशों में रहे हुए पदार्थों के साथ आत्मा का कुछ भी सम्बन्ध न हो तो वे पदार्थ वहाँ से यहाँ आकर हमारे उपयोग में कैसे आ सकते हैं ? इस वास्ते मानना चाहिए कि आत्मा के प्रदेश वहाँ भी स्थित हैं जिनके सम्बन्ध से दूर देश-स्थित पदार्थ हमारे उपयोग में आते है अतएव आत्मा सर्व व्यापक है।

वैशेषिकों की यह मान्यता भ्रमपूर्ण है। दूरवर्त्ती पदार्थों के साथ सम्बन्ध स्थापित करने हेतु आत्मा को सर्वव्यापक मानने की

कोई आवश्यकता नहीं है। अदृष्ट (कर्म) की प्रेरणा से शरीर प्रमाण आत्मा को मानने पर भी यह व्यवस्था हो सकती है। इतना ही नहीं बल्कि सर्वव्यापी मानने पर भी अदृष्ट को माने विना तो छुटकारा है नहीं क्योंकि सर्वव्यापी होने के कारण विश्व के समस्त पदार्थों के साथ आत्मा का सम्बन्ध है तो विश्व के समस्त पदार्थ आत्मा की ओर चले आने चाहिए परन्तु ऐसा न होकर अमुक २ पदार्थ ही आत्मा के उपयोग में आते हैं इसका क्या कारण है? यहाँ अदृष्ट (कर्म) को मानना ही पड़ेगा कि अदृष्ट के कारण वही पदार्थ आत्मा के प्रति उपसर्पित होते हैं जो उसके उपयोग में आने वाले हैं जब अदृष्ट को मानना ही पड़ता है यही क्यों नहीं मान लिया जाय कि अदृष्ट के कारण दूर स्थितपदार्थ आत्मा के उपयोग में आते हैं। इसके लिए आत्मा को सर्व व्यापक मानने की क्या आवश्यकता है?

आत्मा को सर्वव्यापक मानने से अनेक प्रकार की गड़बड़ियाँ उपस्थित होती हैं। जिस प्रकार एक आत्मा सर्व व्यापक है उसी तरह सब आत्माएँ भी सर्वव्यापक हैं। एक ही आत्मा ने सारे लोक-अलोक को व्याप्त कर लिया तो अन्य आत्माओं को वहाँ अवकाश रहा? यदि यह कहा जाय कि जैसे एक दीपक के प्रकाश में हजारों लाखों दीपकों का प्रकाश समा जाता है उसी तरह एक आत्मा के प्रदेश जहाँ स्थित हैं वहीं अन्य आत्माओं के प्रदेश भी स्थित हो सकते हैं तो इसमें यह नवीन दोष उपस्थित होता है कि एक आत्मा के साथ लगे हुए शुभ या अशुभ कर्म और उसके

फल सुख दुःखादि दूसरी आत्माओं के शुभाशुभ कर्मों से ओत-प्रोत हो जाएँगे। सबके कर्म और सुखदुःखादि एक हो जाएँगे। इस सम्मिश्रण से अनेक प्रकार की अव्यवस्थाएँ हो जाएँगी। प्रतिनियत सुख-दुःख की व्यवस्था नहीं बन सकेगी। एक आत्मा के शुभ कर्म का फल सब आत्माओं को मिल जायगा और एक आत्मा के अशुभ कर्म के फल-स्वरूप सब आत्माओं को दुःख भोगना पड़ेगा। एक आत्मा के मुक्त होने पर सबकी मुक्ति हो जानी चाहिए और एक के बद्ध रहने से किसी की भी मुक्ति नहीं होनी चाहिए। यह भयंकर अव्यवस्था आत्मा को सर्व व्यापक मानने से उपस्थित होती है। अतएव आत्मा को सर्वव्यापी मानना युक्ति पूर्ण नहीं है।

जिस वस्तु के गुण जहाँ पाये जाते हैं वहीं उस वस्तु का अस्तित्व मानना उचित है। आत्मा के गुण चैतन्य, सुख दुःख आदि शरीर में ही पाये जाते हैं। शरीर से बाहर उनकी प्रतीति नहीं होती अतएव शरीर से बाहर उनका अस्तित्व नहीं माना जा सकता है। शरीर में सुई चुभाने से आत्मा को वेदना होती है और शरीर के बाहर आकाशादि में चुभाने से आत्मा को वेदना नहीं होती। इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि आत्मा शरीर-व्यापी है। शरीर के बाहर उसकी सत्ता नहीं है। यदि आत्मा शरीर व्यापी न होकर सर्वव्यापी होता तो आकाश में भी सुई चुभाने से आत्मा को वेदना अवश्य होती! अतएव यही सुसंगत सिद्धान्त है कि आत्मा सर्व-व्यापी नहीं किन्तु शरीर-व्यापी है। जिस आत्मा

ने जितना बडा या छोटा शरीर धारण कर रखा है वह उतने बड़े या छोटे शरीर में व्याप्त है।

कतिपय लोगों का यह मानना है कि आत्मा अणु-प्रमाण है। यह भी भ्रमपूर्ण है। अगर आत्मा अणु-प्रमाण हो तो वह शरीर के किसी एक ही भाग में रह सकेगा तो शेष शरीर में सुख दुःख की प्रतीति नही हो सकेगी। समस्त शरीर में सुख-दुःख की अनुभूति होती है अतएव मानना चाहिए कि आत्मा अणु-परिमाण नहीं अपितु शरीर-परिमाण ही है। इस प्रकार आत्मा न तो आकाश की तरह सर्व-व्यापक है और न अणु की तरह अ-व्यापक है परन्तु अपने २ शरीर के प्रमाण वाला है।

सांख्य दर्शन आत्मा को नित्य, अमूर्त, सर्व-व्यापक, कर्म फल का भोक्ता और अकर्त्ता मानता है। कहा है —

अकर्त्तानिर्गुणो भोक्ता आत्मा कापिलदर्शने।

अर्थात्—सांख्यदर्शन में आत्मा अकर्त्ता, निर्गुण और कर्म-फल का भोक्ता माना गया है।

सांख्य का यह मन्तव्य युक्तिशून्य है। आत्मा को कर्म-फल का भोक्ता तो मानना और कर्त्ता न मानना बडी अजीब-सी बात है। अगर आत्मा कर्म का कर्त्ता नहीं है तो भला वह कर्म फल का क्या कर भोगेगा? जिसने जो कर्म नहीं किया है वह उसका फल कैसे भोग सकता है? अकृत कर्म का भोग कैसे हो सकता है?

अतएव यदि आत्मा को भोक्ता माना जाता है तो उसे कर्त्ता भी अवश्य मानना चाहिए। ऐसा माने बिना संगति नहीं हो सकती। अगर बिना किये ही कर्मों का फल भोगना माना जाय तो ऐसे भोग की कभी समाप्ति ही नहीं हो सकती। तो न मोक्ष ही सिद्ध हो सकेगा और न संसार ही। कहा गया है:—

को वेएइ अकयं, कयनासो, पचहा गई नत्थि।

अर्थात्–आत्मा अगर कर्म नहीं करता तो अकृत कर्म कौन भोगता है? निष्क्रिय होने से आत्मा फल-भोग नहीं कर सकता अतः किये हुए कर्म निष्फल हो जाएँगे। कर्मों की निष्फलता से देव, मनुष्य, तिर्यंच नरक और मोक्षरूप गति की सिद्धि नहीं हो सकती।

दूसरी बात यह है कि यदि आत्मा को सर्वथा निष्क्रिय मान लिया जाय तो उसमें भोक्तृत्व भी सिद्ध नहीं हो सकता है। क्योंकि 'भोगना' भी एक क्रिया है और आत्मा सर्वथा अक्रिय है तो वह "भोगना" क्रिया कैसे कर सकता है? अतएव आत्मा को जैसे भोक्ता माना जाता है उसी तरह उसे कर्त्ता भी स्वीकार करना चाहिए।

जैन शास्त्रकार स्पष्ट प्रतिपादन करते हैं कि:—

अप्पा कत्ता विकत्ता य दुहाण य सुहाण य।
अप्पामित्तममित्तं च सुपट्ठिओ दुपट्ठिओ॥

ने जितना बड़ा या छोटा शरीर धारण कर रखा है वह उतने बड़े या छोटे शरीर में व्याप्त है।

कतिपय लोगों का यह मानना है कि आत्मा अणु-प्रमाण है। यह भी भ्रमपूर्ण है। अगर आत्मा अणु-प्रमाण हो तो वह शरीर के किसी एक ही भाग में रह सकेगा तो शेष शरीर में सुख-दुःख की प्रतीति नहीं हो सकेगी। समस्त शरीर में सुख-दुःख की अनुभूति होता है अतएव मानना चाहिए कि आत्मा अणु परिमाण नहीं अपितु शरीर-परिमाण ही है। इस प्रकार आत्मा न तो आकाश की तरह सर्व-व्यापक है और न अणु की तरह अल्पव्यापक है परन्तु अपने २ शरीर के प्रमाण वाला है।

सांख्य दर्शन आत्मा को नित्य, अमूर्त, सर्व व्यापक, कर्म फल का भोक्ता और अकर्त्ता मानता है। कहा है.—

अकर्त्ता निर्गुणो भोक्ता आत्मा कापिलदर्शने।

अर्थात्—सांख्यदर्शन में आत्मा अकर्त्ता, निर्गुण और कर्म-फल का भोक्ता माना गया है।

सांख्य का यह मान्यता युक्तियुक्त है। आत्मा को कर्म-फल का भोक्ता तो मानना और कर्ता न मानना बड़ी अजीब-सी बात है। अगर आत्मा कर्म का कर्त्ता नहीं है तो भला वह कर्म-फल को क्या कर भोगेगा? जिसने जो कर्म नहीं किया है वह उसका फल कैसे भोग सकता है? अतः कर्म का भोक्ता कैसे हो सकता है?

अतएव यदि आत्मा को भोक्ता माना जाता है तो उसे कर्त्ता भी अवश्य मानना चाहिए। ऐसा माने बिना संगति नहीं हो सकती। अगर बिना किये ही कर्मों का फल भोगना माना जाय तो ऐसे भोग की कभी समाप्ति ही नहीं हो सकती। तो न मोक्ष ही सिद्ध हो सकेगा और न संसार ही। कहा गया है:—

को वेएइ अकयं, कयनासो, पचहा गई नत्थि।

अर्थात्–आत्मा अगर कर्म नहीं करता तो अकृत कर्म कौन भोगता है? निष्क्रिय होने से आत्मा फल–भोग नहीं कर सकता अतः किये हुए कर्म निष्फल हो जाएँगे। कर्मों की निष्फलता से देव, मनुष्य, तिर्यंच नरक और मोक्षरूप गति की सिद्धि नहीं हो सकती।

दूसरी बात यह है कि यदि आत्मा को सर्वथा निष्क्रिय मान लिया जाय तो उसमें भोक्तृत्व भी सिद्ध नहीं हो सकता है। क्योंकि 'भोगना' भी एक क्रिया है और आत्मा सर्वथा अक्रिय है तो वह "भोगना" क्रिया कैसे कर सकता है? अतएव आत्मा को जैसे भोक्ता माना जाता है उसी तरह उसे कर्त्ता भी स्वीकार करना चाहिए।

जैन शास्त्रकार स्पष्ट प्रतिपादन करते हैं कि:—

अप्पा कत्ता विकत्ता य दुहाण य सुहाण य।
अप्पामित्तममित्तं च सुपट्ठिओ दुपट्ठिओ॥

अर्थात्—यह आत्मा ही अपने सुख और दुःख का सृजन करने वाला है और यह आत्मा ही सुख और दुःख का विघटन करने वाला भी है जब आत्मा सन्मार्ग पर प्रस्थित होता है तो यह मित्र के तुल्य हितकारी होता है और जब यह उन्मार्ग पर चलने लगता है तो शत्रु की तरह भयंकर अनर्थों को उत्पन्न कर देता है !

शास्त्रकार आत्मा के उत्थान और कल्याण के लिए कितनी भव्य प्रेरणा कर रहे हैं। वे स्पष्ट संदेश दे रहे हैं कि हे भव्य आत्माओं ! तुम्हारा उत्थान और पतन तुम्हारे हाथों में है। किसी दूसरे की कोई शक्ति नहीं जो तुम्हें ऊँचा उठा सके या नीचे गिरा सके। तुम स्वयं अपने भविष्य के निर्माता और स्रष्टा हो। तुम स्वयं ब्रह्मा हो ! तुम अपनी इच्छा के अनुसार अपनी सृष्टि बना सकते हो। सारी सृष्टि तुम्हारी मुट्ठी में है। तुम चाहो तो अपने लिए नन्दन वन की मनोरम रचना कर सकते हो और तुम चाहो तो कूटशाल्मलि के तीक्ष्ण-तीखे काँटों से छिन्न-भिन्न भी हो सकते हो ! कामधेनु को अपने आँगन में बाँधना भी तुम्हारे हाथों में है और दर-दर के भिखारी बनना भी तुम्हारे हाथों में है। अतएव हे भव्यों ! दोनों मार्ग तुम्हारे लिए खुले पड़े हैं। हैं। चाहे जैसे मार्ग का चुनाव कर लो। चुनाव करने में तुम स्वतन्त्र हो ! यदि सुख के मार्ग पर चलना चाहते हो तो शुभ प्रवृत्ति की ओर अग्रसर हो और यदि दुःख के भागी बनना चाहते हो तो दूसरा रास्ता खुला पड़ा है।

भद्र पुरुषों ! सन्नारियों ! आत्मवाद को जानने का यही तो लाभ है ! इसीलिए तो जगदुद्धारक भगवान् महावीर ने कहा है कि—

संबुज्झह, किन्न बुज्झह, संबोही खलु पेच्च दुल्लहा।

समझो ! क्यों नहीं समझते हो ! आत्म-तत्त्व को जानो। आत्मवादी बनो ! जो आत्मवादी बन जाता है, जो आत्मा के सत्य स्वरूप को समझ लेता है वह कृतकृत्य हो जाता है, और आत्मविभूति को पाकर निहाल और मालामाल हो जाता है।

जैन दर्शन का आत्मवाद व्यक्तियों को परावलम्बन से मुक्त करता है और स्वावलम्बन का भव्य पाठ पढ़ाता है। वह कहता है कि हे आत्माओं ! तुम अनन्त शक्ति के स्रोत हो ! अपने उत्थान के लिए किसी दूसरे का मुँह न ताको ! अपनी सोई हुई शक्ति को जागृत करो और प्रबल पुरुषार्थ के साथ प्रगति करते रहो ! सफलता अवश्यमेव तुम्हारे चरणों की दासी बनेगी। सिद्धि तुम्हारा वरण करेगी ! "कोई दूसरा सहायता करेगा, ईश्वर करेगा सो होगा, मैं क्या कर सकता हूँ, मुझसे यह कठिन कार्य नहीं हो सकता" इत्यादि भ्रमणाओं को दूर कर दो और अपनी अदम्य आत्म-शक्ति को पहचान कर, दृढ़ संकल्प का बल लेकर उत्थान के मार्ग पर निरन्तर चलते रहो। अवश्य मंजिल पर पहुँचोगे। लक्ष्य-सिद्धि होकर रहेगी। इस प्रकार जैनदर्शन का आत्मकर्तृत्व वाद पुरुषार्थ की कितनी प्रबल प्रेरणा प्रदान करता है।

साथ ही साथ आत्मा जब यह जान लेता है कि मेरे सुख दुख का निर्माता मैं ही हूँ तो वह सुख के लिए किसी दूसरे से भीख नहीं मागता और दुःख के प्रसग पर किसी दूसरे व्यक्ति को कदापि नहीं कोसता। वह विचार करता है कि मेरे दु ख का मूल कारण मैं स्वय हूँ। दूसरा व्यक्ति तो निमित्तमात्र है। जिस प्रकार सिंह गोली लगने पर गोली पर नहीं झपटता है परन्तु गोली मारने वाले की ओर लपकता है। इसी तरह आत्मज्ञानी दु ख के प्रसग के लिए दूसरे को निमित्तमात्र समझ कर उस पर द्वेष नहीं लाता अपितु अपने आपको उसके लिए उत्तरदायी मानता है। वह समझता है कि यह अनिष्ट प्रसग मेरे ही द्वारा किये गये पूर्व कर्मों का परिणाम है। इसके लिए मैं स्वय जिम्मेदार हूँ। यह दूसरा व्यक्ति तो निमित्तमात्र बना है। यह समझ कर वह उस पुरुष पर द्वेषभाव नहीं लाता। उसे भला-बुरा नहीं कहता, उसे नहीं कोसता। वह आत्म-आलोचन और परीक्षण करता है। इससे वह परम शान्ति प्राप्त करता है।

इसके विपरीत जिस व्यक्ति ने यह आत्मज्ञान नहीं पाया वह ऐसे प्रसगों पर दूसरों को कोसता है, उन पर द्वेषभाव धारण करता है। वह पुरुष उस कुत्ते के समान है जो ईंट मारने वाले पुरुष को छोड कर ईंट को ही काटने दौडता है। यह आत्मतत्त्व को नहीं समझने का परिणाम होता है। आत्मतत्त्ववेत्ता तो समझता है कि मैं स्वय ही अपने सुख-दु ख का स्रष्टा हूँ और स्वय ही उनका विघटक भी हूँ। अतएव वह हर्ष-शोक के

प्रसंगों में समभाव की आराधना करता है। यह आत्मतत्त्व की विचारणा का भव्य परिणाम है।

भव्य पुरुषों! आत्मतत्त्व बहुत गहन है। उसका निरूपण करना अत्यन्त कठिन है। तदापि प्रतिदिन थोड़ा बहुत इस विषय पर प्रकाश डालता हूँ। आगे-भी इस सम्बन्ध में कहने के भाव हैं। आत्मतत्त्व को पहचानना ही व्याख्यान श्रवण और धर्म साधन का उद्देश्य है। आप सब आत्मतत्त्व को पहचानें। आत्मा के सत्य स्वरूप के दर्शन करें और अनन्त, अविचल, अव्याबाध और अक्षय आनन्द के अधिकारी बनें, यही मंगल कामना।

१४-१०-५४
रतलाम

नीर और क्षीर

(द्रव्य प्राण और भाव प्राण का विवेक)

महापुरुषों ने आत्म विकास, आत्मोत्थान, और निर्वाण के लिए अनेक प्रकार के मार्ग और अनेक क्रिया-कलापों का प्रतिपादन किया है। महापुरुषों की सतत यही भावना रही है कि येन केन प्रकारेण मानव के जीवन का विकास हो और वह चरम उत्कर्ष को प्राप्त कर निर्वाण के अनिर्वचनीय सुख का अधिकारी बन सके। इसी आशय को लेकर परमोपकारी शास्त्रकारों ने अनेक साधन बताये हैं। उन अनेक प्रकार के साधनों में से प्रभुभजन और प्रभुस्मरण करना और उनकी कृतियों पर गहराई से चिन्तन करना भी आत्म-विकास का महत्त्वपूर्ण साधन है।

हमारा परम सौभाग्य है कि उत्थान और कल्याण के साधनों का अन्वेषण करने की कठिनाई हमारे सामने नहीं है। परमोपकारी महापुरुषों ने अपने दीर्घ अनुभवों और अन्वेषणों को हमारे सामने प्रस्तुत कर दिया है। हमें नवीन कुछ बनाना नहीं है कुछ खोजना या प्राप्त करना नहीं है। हमें तो जो चीज बनी बनायी तैयार है उसका सेवनमात्र करना है।

जिस प्रकार वैद्य रोग का निदान करता है; रोग के प्रतिकार के लिए औषधि का अन्वेषण करता है, औषधि का निर्माण कर तैयार रखता है। रोगी का काम तो केवल उस औषधि को सेवन करना और पथ्य का पालन करना होता है। इसी तरह विश्वहितकर एवं दुःखरूपी रोग का निवारण करने वाले महावैद्य अनन्त ज्ञानियों ने जगत् के दुःखों का भलीभांति निदान करने के पश्चात् उसके निवारण के उपायों का अन्वेषण किया और उन औषधियों का निर्माण भी कर दिया जिनके सेवनमात्र से जगत् की समस्त आधियाँ, व्याधियाँ और उपाधियाँ दूर हो जाती हैं और परिपूर्ण आरोग्य की प्राप्ति हो जाती है।

हे भव रोग के रोगियों! तुम्हारा कितना बड़ा सौभाग्य है कि तुम्हारे रोग के निवारण के लिए बनी बनाई औषधि बिना किसी मूल्य के तुम्हें मिल रही है। यदि तुम अपना रोग दूर करना चाहते हो तो इस औषधि का सेवन करो और पथ्य का ध्यान रखो।

भवरोग का निवारण करने लिए अनन्त ज्ञानियों ने प्रभु-भजन मनन और चिंतनरूप औषधि का निर्माण किया है। औषधि के प्रति और वैद्य के प्रति रोगी को पूरा विश्वास होना चाहिए। जिस रोगी को वैद्य के प्रति अथवा उसकी दी हुई औषधि के प्रति विश्वास नहीं होता, जो शंकाशील बना रहता है वह रोगी आरोग्य का लाभ नहीं कर सकता।

'संशयात्मा विनश्यति'

गीता में कहा गया है कि जो व्यक्ति शंकाशील होता है, जिसमें श्रद्धा की दृढ़ता नहीं होती वह नष्ट हो जाता है। अतएव हमें और आपको शास्त्रकाररूपी वैद्य के प्रति और उनकी दी हुई प्रभु-भक्तिरूपी औषधि के प्रति परिपूर्ण श्रद्धाशील बनना चाहिए। इससे आत्म-कल्याण और निर्वाण की प्राप्ति हो सकती है।

कहा जा सकता है कि हम सब प्रतिदिन भगवान् के गुणानुवाद भी करते हैं, प्रभु के प्रति हमें श्रद्धा भी है फिर भी इष्ट फल की प्राप्ति क्यों नहीं होती?

इसका समाधान यह है कि वैद्य कुशल है, जो औषधि वह देता है वह माकूल है फिर भी यदि लाभ नहीं होता तो समझना चाहिए कि पथ्य में कहीं अवश्य गड़बड़ है। पथ्य में यदि गड़बड़ है तो बेचारे वैद्य और दवाई का क्या दोष है? यह तो रोगी का ही दोष है। रोगी को ही पथ्य-सेवन की ओर ध्यान देना चाहिए। चिकित्सा में पथ्य का अधिक महत्त्व होता है। दवाई लेता रहे और पथ्य का ध्यान न रखे तो वह कारगर नहीं होती। यदि पथ्य का सेवन किया जाता है तो औषधि की कलान्तर में कोई आवश्यकता नहीं रहती। इसीलिए कहा जाता है-"सौ दवा एक पथ्य"।

इसी प्रकार शास्त्रकाररूपी वैद्य के द्वारा उपदिष्ट और निर्दिष्ट प्रभु-भजनरूपी औषधि का सेवन करने के साथ साथ आत्म भाव में रमण-रूप पथ्य के पालन की आवश्यकता है।

अनात्म-भाव में रमण करना प्रभु-भजनरूपी औषधि के प्रतिकूल है - कुपथ्य है। अब आप अपनी स्थिति का अवलोकन कर लीजिए-आत्म-परीक्षण और निरीक्षण कीजिए कि आप कुपथ्य तो नहीं कर रहे हैं ? यदि आप कुपथ्य का सेवन नहीं कर रहे हैं अर्थात् आत्म-भाव में रमण कर रहे हैं और अनात्मभाव से दूर रहते हैं तो कोई कारण नहीं कि प्रभु-भजनरूपी औषधि अपना अलौकिक चमत्कार न बताये।

परन्तु पर्वत की तरह यह प्रश्नवाचक चिह्न हमारे सामने खड़ा है कि क्या हम अनात्म-भाव से दूर हैं और वास्तव में आत्म भाव में ही रमण कर रहे हैं ? इस प्रश्न की उपेक्षा नहीं की जा सकती। वैद्य जब पथ्य और अपथ्य सेवन के विषय में प्रश्न करता है तो आरोग्य के अभिलाषी रोगी को उस प्रश्न का वास्तविक उत्तर देना पड़ता है। यदि वह इस प्रश्न की उपेक्षा करता है या गलत उत्तर देता है तो वह रोगी के लिए ही खतरनाक और दर्दनाक होता है। रोगी का कर्त्तव्य हो जाता है कि वह वैद्य के इस प्रश्न का समुचित एवं सम्यक् उत्तर दे। इसी तरह हम भव-रोग के रोगियों को यह उत्तर देना है कि हम आत्मभाव रमणरूप पथ्य का सेवन करते हैं या अनात्मभाव रूप कुपथ्य का ? यदि हम अनात्मभावरूप कुपथ्य का सेवन करते हैं तो प्रभु-भजनरूपी औषधि का फल क्यों नहीं मिलता, यह शिकायत नहीं की जा सकती। वैद्य और औषधि को कोई उपालम्भ नहीं दिया जा सकता। इसके लिए रोगी ही उपालम्भनीय

है, उसे ही सचेत होने की आवश्यकता है। उसे ही पथ्य सेवन की ओर ध्यान देना चाहिए। ''

भद्र पुरुषों! प्रभुभक्ति और बाह्य पदार्थों पर आसक्ति, ये दो चीजें साथ-साथ नहीं चल सकती। भक्ति और आसक्ति में विरोध है। जब तक परपदार्थों में आसक्ति है, जब तक अनात्मभूत भौतिक जड़ वस्तुओं में आपने अपनत्व, ममत्व और आत्मीयत्व बनाये रक्खा है वहाँ तक सच्ची भक्ति हो ही नहीं सकती। सर्वप्रथम आपको यह दृढ़ श्रद्धा होनी चाहिए कि मेरा आत्म-स्वरूप कुछ और है और यह तन-धन-परिजन कुछ और हैं। जब तक यह भेद ज्ञान, यह नीर-क्षीर का विवेक नहीं हो जाता वहाँ तक आत्म-कल्याण की आशा रखना सपना मात्र है।

एकः सदा शाश्वतिको ममात्मा, विनिर्मलः साधिगमस्वभावः।
बहिर्भवाः सन्त्यपरे समस्ताः, न शाश्वताः कर्मभवाः स्वकीयाः॥

मेरी आत्मा ही एक चीज है जिसे मैं अपनी कह सकता हूँ। यह विनिर्मल और ज्ञानमय है। वह शाश्वत है। यही मेरी अनमोल निधि है। इसके अतिरिक्त तन-धन-परिजन के साथ 'मेरापन' मानना मिथ्या है, धोखा है, आत्म-वंचना है। इस प्रकार की श्रद्धा ही सम्यक्त्व का मूल है। यह श्रद्धा होना ही भव रोग से छूटने की निशानी है। जब तक यह श्रद्धा नहीं आई यह लक्षण प्रकट नहीं हुए वहाँतक बीमारी से छूटने का कोई

रास्ता नहीं है। अतएव सर्व प्रथम आत्म-भाव और अनात्मभाव का विवेक करना आवश्यक है।

भद्र पुरुषो! शास्त्रकारों ने भिन्न २ विवक्षाओं एवं भिन्न भिन्न अपेक्षाओं से आत्मा के अनेक नाम बतलाये हैं। उनमें प्राणी, भूत, जीव और सत्व भी आत्मा के पर्यायवाची नाम हैं। प्राणों को धारण करने वाला होने से आत्मा को 'प्राणी' भी कहा जाता है। शास्त्रकार ने दो प्रकार के प्राणों का निरूपण किया है-एक द्रव्य प्राण और दूसरा भाव प्राण।

द्रव्यप्राण के दस प्रकार हैं। श्रोत्रेन्द्रिय प्राण, चक्षुरिन्द्रिय प्राण, घ्राणेन्द्रिय प्राण, रसनेन्द्रिय प्राण, स्पर्शनेन्द्रिय प्राण, मन बल-प्राण, वचन बल प्राण, कायबल प्राण, श्वासोच्छ्वास प्राण और आयुष्य प्राण।

भाव प्राण के चार भेद हैं—अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्त सुख और अनन्त शक्ति। यह अनन्त चतुष्टय ही भाव प्राण है।

इस भेद-निरूपण से यह स्पष्ट कर दिया गया है कि ज्ञान, दर्शन सुख और शक्ति, आत्मा के मूलभूत प्राण हैं जबकि द्रव्य प्राण आत्मा के मौलिक प्राण न होकर पुद्गल परिणति के कारण औपचारिक और औपाधिक प्राण हैं। आत्मा ने विभाव में परिणति कर पुद्गल के साथ सम्बन्ध स्थापित किया उसी पुद्गल परिणति के कारण द्रव्यप्राणों की सत्ता है। जब आत्मा विभाव-परिणति

से हटकर स्वभाव में स्थित हो जायगा उसी समय द्रव्य-प्राणों की हस्ती भी मिट जायगी। द्रव्य-प्राण शाश्वत नहीं हैं। यह तो पौद्गलिक हैं। पुद्गल के साथ आत्मा का सम्बन्ध है इस अपेक्षा से ही यह आत्मा के औपचारिक प्राण कहे जाते हैं। वस्तुत: यह आत्मा की मौलिक चीज नहीं है। आत्मा की मौलिक वस्तु, आत्मा के वास्तविक प्राण तो ज्ञान, दर्शन, सुख और शक्ति ही है।

परन्तु आश्चर्य है कि मूल वस्तु की उपेक्षा की जा रही है और गौण को महत्त्व दिया जा रहा है। सार-सार को छोड़ा जा रहा है और असार को अपनाया जा रहा है। धान्यकणों को फेंका जा रहा है और भूसी को बटोरा जा रहा है। रत्न को फेंका जा रहा है और काच को आदर दिया जा रहा है। धान्य के खेत की रखवाली की जाती है परन्तु मोतियों का खेत सूना छोड़ दिया जा रहा है। कोई इसकी सार-सभाल करने वाला नहीं है। यह मोतियों का खेत चोरों और लुटेरों द्वारा लुटा जा रहा है खेत का मालिक बेखबर होकर सो रहा है इससे बढ़कर मूर्खता और मूढ़ता क्या हो सकती है?

आज सारा विश्व भाव प्राणों की उपेक्षा करके द्रव्य प्राण की सुरक्षा-हिफाजत और सार-सभाल के पीछे पड़ा हुआ है सर्वत्र द्रव्य प्राणों की आपा धापी है। सर्वत्र इसके पोषण की ही प्रधानता देखी जा रही है। सारी प्रवृत्तियाँ, और सारी शक्तियाँ इसके पीछे लगी हुई हैं। इसके लिए ही सारी दौड़-धूप और धूम मची हुई है। इस शरीर के पोषण के लिए, इसके

ऐश-आराम के लिए न जाने क्या क्या किया जा रहा है। इसको बलवान् बनाने के लिए शराब, माँस और अण्डों तक का भक्षण किया जाता है। नाना प्रकार की औषधियों का सेवन किया जाता है। भक्ष्य और अभक्ष्य का विवेक भुला कर कॉड लिवर ऑइल और लिवर एक्स्ट्रेक्ट का उपयोग किया जाता है। न जाने कितनी कितनी औषधियाँ और कितने २ रसायनों की इस हेतु खोज की की गई है और उनका इस्तेमाल किया जा रहा है परन्तु अफसोस ! महा अफसोस !! इन सब प्रयत्नों के बावजूद भी कोई इस शरीर को सदा के लिए टिकाये रखने में समर्थ नहीं हुआ, न हो रहा है और न होगा।

लाख-लाख और करोड़-करोड़ प्रयत्न कर लीजिए, चाहे जितनी कीमती हीरे-पन्ने और मोतियों की खाक फाक जाइए, रसायनों का उपयोग कर लीजिए, चाहे जितने पेनिसिलिन के इन्जेक्शन लगवा लीजिए और जो कुछ आपके वश में है कर लीजिए—फिर भी यह शरीर ज्यादा टिकने वाला नहीं है। आप डाक्टर और दवाइयों का क्या भरोसा करते हैं। साक्षात् धन्वन्तरी और लुकमान भी अपना शरीर टिका न सके। है आज के वैज्ञानिक युग में भी कोई ऐसा डाक्टर या विज्ञानवेत्ता जो इस शरीर को सदा के लिए कायम रख सके ? उत्तर में शून्य ही शून्य है ! निराशा ही निराशा है ! इतना अनित्य है यह शरीर ! इतना नश्वर है यह द्रव्य प्राणों का पिण्ड !

अरे सामान्य लोगों की बात छोड़ दीजिए बड़े-बड़े वज्रऋषभ नाराचसंहनन के धारी, (वज्र के समान दृढ़ शरीर वाले) तीर्थंकर,

बलदेव, वासुदेव, षट्खण्ड के अधिपति चक्रवर्ती हो गये हैं, बड़े २ सम्राट्, बड़े २ योद्धा और सेनापति हो चुके हैं परन्तु किसी का शरीर टिका न रहा। जिनकी अगुली के इशारे मात्र से दुनिया दहल उठती थी, जिनकी धाक से संसार थर थर धू जाता था आज कहाँ पता है उनका ? आज उनके शरीर का एक जर्रा भी कायम नहीं है। सच तो यह है कि यह शरीर कायम रहने वाली चीज नहीं है। यह तो काच की शीशी है। कहा है:—

जैसे शीशी काच की

यह बहुत कच्ची और कमजोर काच की शीशी है। इसका क्या ठिकाना ? न जाने कब यह फूट जाय ? चाहे जितने जतन के साथ इसे सम्भालिए आखिर यह फूटने वाली है। ऐसा होते हुए भी मानव यह समझ बैठा है कि वह अजर अमर है। वह अनेकों को श्मशान में जला आता है फिर भी वह सोचता है कि यह मरा तो मरा, मैं नहीं मरने वाला हूँ ! यही समझ कर वह द्रव्य प्राण-(शरीर के मोह में फँसा रहता है और भावप्राणों की ओर उपेक्षा बुद्धि रखता है परन्तु उसकी यह धारणा आत्मवंचना मात्र है।)

जिस शरीर के सौन्दर्य के पीछे इन्सान पागल बन रहा है जिन ऐश-आराम के साधनों को जुटाने के लिए घानी के बैल की तरह वह रात दिन लगा रहता है, वह सौन्दर्य और वह ऐश्वर्य कितने दिन के मेहमान हैं ? जिस प्रकार पर्वतीय नदी में वर्षा के

कारण पूर आ जाता है और थोड़ी देर में ही उतर जाता है इसी तरह यह गोरा-गोरा बदन, यह यौवन और यह धन-जन का संयोग थोड़े ही समय टिकने वाला है। इसका क्या अभिमान किया जाय? कहा है:—

गोरो गोरो गात देखि काहे को गुमान करे
रंग तो पतंग रंग कल उड़ि जायगो ॥
धुआँ कैसी धुंध जैसे विनशत न लागे वार
नदी के किनारे रूख कैसे ही ठहरायगो ॥
बोलतां से बोलिये, न बोलिये गुमान कर
यौवन गँवाया पीछे कोडी न लहायगो ॥
मानुष की गंदी देह जीवित ही आवे काम
मुआ बाद काग कुत्ता स्यार हू न खायगो ॥

जिस प्रकार पतंग का रंग थोड़ी-सी धूल लगते ही उड़ जाता है इसी तरह रे मानव! तू अपने गोरे-गोरे खूबसूरत शरीर पर क्या इतराता है! दर्पण में देख-देख कर क्यों फूला नहीं समा रहा है! यह रंग थोड़े ही समय में उड़ जाने वाला है। जिस प्रकार धुंआ के गुब्बारे के गुब्बारे उड़ते दिखते हैं परन्तु हवा का झोंका आते ही धुंआ छिन्न-भिन्न हो जाता है इसी तरह यह शरीर छिन्न-भिन्न हो जाने वाला है। नदी के किनारे पर रहा हुआ वृक्ष कब तक टिक सकेगा? पूर आते ही उखड़ कर बह जायगा। यौवन भी इसी तरह बह जाने वाला है। यह मानवीय देह अपावन है,

अशुचि का पिण्ड है, रोगों का घर है। इसका क्या अभिमान किया जा सकता है ?

सनत्कुमार चक्रवर्ती अपने समय के सर्व-सुन्दर रूप के धनी थे। उनके अनुपम सौन्दर्य को देखने के लिए मनुष्य तो क्या देव भी स्वर्ग से आया करते थे। कहा जाता है कि एक बार उनकी अनुपम लावण्य-राशि को देखने के लिए जब देवता आया तब वे स्नान कर रहे थे। उस समय का उनका सौन्दर्य और लावण्य देखकर देव भी विस्मित रह गया!

यह देखकर सनत्कुमार चक्रवर्ती ने कहा—आप इस समय मेरा रूप क्या देख रहे हैं जब मैं वस्त्रभूषणों से सुसज्जित होकर राजसिंहासन पर बैठा हूँ उस समय आप मेरे रूप को देखियेगा। देव उस अलंकृत रूप में सनत्कुमार चक्रवर्ती की मनोहारी रूपराशि को देखने के लिए उत्कंठित हो गया। थोड़े ही समय पश्चात् चक्रवर्ती स्नानादि से निवृत्त होकर, वस्त्रअलंकारों से अलंकृत होकर, सजधज के साथ सिंहासन पर आ बैठे।

देव ने इस बार तीव्र उत्कंठा के साथ सनत्कुमार की रूपराशि का अवलोकन किया। उसे जो सौन्दर्य थोड़े समय पहले दृष्टि-गोचर हुआ था वह अब नहीं हुआ। इसलिए उसने अपनी गर्दन हिला दी। यह देखकर चक्रवर्ती के आश्चर्य का पार न रहा। उसने पूछा कि आपने गर्दन क्यों हिला दी? क्या आपको मेरा यह अनुपम रूप-सौन्दर्य नहीं सुहाया ?

देव ने कहा—राजन् स्नान करने से पूर्व जो आपका सौन्दर्य था वह अब नहीं रहा है! इतनी ही देर में इसमें रोग उत्पन्न हो गये हैं! यह रूपराशि अब टिकने वाली नहीं है! चक्रवर्त्ती का सारा अभिमान दूर हो गया। अरे थोड़े समय पूर्व जो अद्वितीय सौन्दर्य के धनी थे वे कुछ ही मिन्टों के बाद भयंकर रोग से ग्रसित हो जाते हैं! सारा सौन्दर्य देखते-देखते कपूर की तरह उड़ जाता है! इसलिए कबीर ने कहा है :—

इस तन धन की कौन बड़ाई।
देखत नैनों में मिट्टी मिलाई॥
अपने खातिर महल बनाया।
आप ही जाकर जंगल सोया॥
हाड़ जले जैसे लकड़ी की मोली।
बाल जले जैसे घास की पोली॥
इस तन धन की कौन बड़ाई॥

कितना मार्मिक और हृदयस्पर्शी पद है! अरे इन्सान! तू तन और धन को इतना अधिक महत्त्व क्यों देता है! यह तो देखते-देखते तेरी आँखों में धूल झौंकने वाले हैं। तू अपने आपको अमर मानकर अपने लिए ऊँचे-ऊँचे महल बनवाता है परन्तु महल बनकर तय्यार होता है कि इसके पहले ही कूच का नगारा बज उठता है और तुझे महल-अटारियाँ छोड़कर जंगल में-चिता में सो जाना पड़ता है! अरे! अरे! जिस शरीर को तैंने रोज नह लाया-धुलाया, इत्र, सेंट और फूलों से सुगन्धित बनाया, शृंगार

के अम्य माजनों से सजाया, खिलाया-पिलाया सुन्दर से सुन्दर वस्त्र और आभूपण पहनाये, बड़े लाड़-प्यार से जिसकी सार-सभाल रखी, उसको चिता पर लेटाया जाता है और आग में फूंक दिया जाता है !! लकड़ी की मोली की तरह हड्डियाँ जल जाती हैं और घास की तरह खाल जल जाते हैं। यह है अंतिम परिणाम इस शरीर का !!

हे तन-धन में मशगूल रहने वाले मानवियो ! समझो इस पद में बताये हुए कठोर सत्य को, छोड़ो इस तन-धन की आसक्ति को ! यह तन और यह धन कभी तुम्हारा बन कर रहने वाला नहीं है। तुम जितने ही इनके साथ चिपके रहो, ये तुम्हारे साथ चिपके रहने वाले नहीं हैं। एक दिन धोखा देकर ये चले जाने वाले हैं। इसलिए इन्हें कभी अपना मानने की गल्ती न करो। यह परवस्तु है। पराई चीज पर क्या आसक्ति ? पराई चीज का क्या अभिमान ? जागृत बनो। सोचो, समझो। मोह और मान का परित्याग करो। इस नश्वर असार एवं अपावन शरीर से जो कुछ आत्म साधनारूप लाभ लिया जा सके, शीघ्र ले लेने का प्रयत्न करो।

मानवों ! तन-मन-धन और जन-यह सब विभाव परिणतियाँ हैं अतएव इनकी आसक्ति को छोड़कर ज्ञान, दर्शन, सुख और शक्तिरूप स्वभाव परिणतियों की ओर मुड़ो। विभाव से नाता तोड़ो और स्वभाव से नाता जोड़ो। अनात्मभाव से दूर रह कर आत्मभाव के अभिमुख बनो।

आत्म-भाव के अभिमुख बनने के लिए यह आवश्यक है कि आप अपनी वृत्ति को बदल लें। जो वृत्ति अभी तक बाह्य पदार्थों को अपनाती रही है और आत्मभूत तत्त्वों को छोड़ती रही है उसी को बदल देना है। वृत्ति का परिवर्तन होते ही तन-मन-धन-जन आदि जो अभी मोह और आसक्ति के साधन बने हुए हैं-बदल कर स्वयमेव आत्म-कल्याण के साधन बन जाएँगे। वस्तुतः बाह्य पदार्थ तो निमित्तमात्र होते हैं, मुख्य सूत्रधार और आधार तो आत्मा की वृत्ति है। जो आत्मवृत्ति अभी तक पुद्गलानन्दी बनी हुई है उसे आत्मानंदी बनाने की आवश्यकता है परपदार्थ में आनंद की अनुभूति को रोक कर अपने निज-स्वरूप में आनंद की अनुभूति करनी है। केवल आत्मवृत्ति के दर्पण को सीधा करने की आवश्यकता है। यह दर्पण जो भी टेढ़ा है सीधा हो जाने पर बाह्य पदार्थ आत्मा का कुछ बिगाड़ नहीं कर सकते। इतना ही नहीं अपितु उसके निज स्वरूप की प्राप्ति में सहायक हो जाते हैं। उस अवस्था में यह शरीर, धर्म-साधन बन जाता है।

सज्जनों ! आपको मिले हुए इस शरीर का, इन पाँच इन्द्रियों का और अन्य साधनों का धर्मसाधन में सदुपयोग करना चाहिए। इसमें ही इनकी सार्थकता है। मोह और आसक्ति के पोषण में इनका दुरुपयोग करते रहे तो अनंत जन्म व्यतीत कर दिये तो भी कुछ मतलब हल नहीं हुआ। इसलिए अब इनका दूसरी ओर सदुपयोग करलो। मोह और आसक्ति के शोषण में और धर्म के पोषण में इन्हें लगाओ। ऐसा करने से ही भव-का फेरा मिट जायगा।

शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनं

धर्म के साधन के रूप में ही शरीर की वास्तविक उपयोगिता है। इसलिए जबतक यह शरीर समर्थ है, काम दे सकता है, तब तक इससे धर्माराधन कर लेना चाहिए।

कई लोगों की यह भ्रान्त धारणा है कि जीवन के अन्तिम चरण में धर्म की आराधना कर लेंगे। प्रथम के तीन चरणों में तो अर्थ और काम की आराधना करनी चाहिए। यह अत्यन्त भूल भरी धारणा है। यह धारणा नहीं, आत्मप्रतारणा है। जो धर्म का आराधन नहीं करना चाहते उनकी मनस्तुष्टि और आत्म-सन्तोष का बहाना है।

जरा सोचिये तो सही जीवन का अन्तिम चरण किसे माना जाय? जब इस जीवन का एक पल का भी विश्वास नहीं, जब इस क्षणभंगुर काया का एक क्षण का भी भरोसा नहीं किया जा सकता तो क्या पता कौनसा समय उसका अन्तिम चरण है! यह निश्चित नहीं है कि प्रत्येक प्राणी बूढ़ा होकर ही मरेगा। अरे सैकड़ों हजारों बालक अकाल में ही काल के गाल में चले जाते हैं। अरे यह मृत्यु पिशाचिनी जन्म से पहले ही गर्भस्थ बालक को भी निगल जाती है। हजारों हृष्ट पुष्ट युवक बात की बात में देखते देखते धराशायी हो जाते हैं। ऐसे अनिश्चित जीवन का क्या प्रथम चरण और क्या अन्तिम चरण! इसलिए इस भ्रान्त धारणा को अलग करके वर्तमान अवसर का ही लाभ उठाना चाहिए। भविष्य के भरोसे रखना अपने आपको धोखे में डालना है। इसीलिए भगवान् फरमाते हैं —

समयं गोयम ! मा पमायए

हे गौतम ! समय मात्र का भी प्रमाद न कर।

सज्जनो ! जिस शुभ कार्य के लिए जो समुचित समय हो उस समय वह कार्य कर लेना चाहिए। 'फिर कर लेंगे' ऐसा विचार आया तो समझ लो फिर फेर ही फेर है।

सांसारिक लाभ के लिए तो मनुष्य अवसर का लाभ उठाने के लिए जी-जान से जुट जाता है। भोजन का समय हो जाने पर भी दुकान पर ग्राहक आजाय तो भोजन छोड़ कर ग्राहक को निपटाया जाता है क्योंकि आप जानते हैं– भोजन अपने वश में है, ग्राहक अपने वश में नहीं है अतएव ग्राहक आया है तो इससे लाभ उठा लो। सीजन के समय व्यापारी खाना-पीना ऐश-आराम छोड़कर व्यापार में जुट जाते हैं क्योंकि वे जानते हैं कि सीजन है इसका जितना लाभ उठाया जाय उठालें। सीजन निकल जाने के बाद यों ही रह जाएँगे। इसलिए वह सीजन का लाभ उठाने के लिए जी-जान से जुट पड़ता है।

किसान जब बोने का समय आता है तब सब काम छोड़ कर खेत में काम करना प्रारम्भ करता है। यदि वह सोचे– अभी नया विवाह हुआ है, अभी नई हवेली बाँधी है, नया साज-सामान जुटाया है, अभी इनका आनन्द लूट लूँ फिर बीज बो डालूँगा, तो क्या वह कृषि में सफल हो सकता है ? कदापि नहीं।

विद्यार्थी परीक्षा के समय यदि आराम की बात सोचता है और परीक्षा के ठीक समय पर उपस्थित नहीं होता है तो वह असफल रहता है। समुचित निश्चित समय पर कार्य कर लेने में ही बुद्धिमत्ता है। अवसर चूक जाने पर लाख प्रयत्नों से भी वह काम नहीं बन सकता। लौकिक कहावत है कि- बूँद से चूकी हौज से नहीं आती। योग्य समय पर जो काम केवल बूँद से चल सकता है, समय निकल जाने पर वह काम हौज से भी पूरा नहीं हो सकता। धर्म साधना के पथ मे भी यही बात है।

मोक्षाभिलाषियों ! मोक्ष पथ के पथिकों ! मुक्ति के साधकों ! यही सुनहरा अवसर है। इस अवसर का लाभ उठा कर मुक्ति-पथ पर प्रस्थान करोगे तो मंजिल पर पहुँच जाओगे।

जब तक शरीर नीरोग है, इन्द्रियाँ शिथिल नहीं हुई हैं, शरीर में शक्ति है, उत्साह है तब तक धर्म का आराधन कर लो। जब बुढ़ापा आ घेरेगा तब शरीर का बोझा भी नहीं उठाया जा सकेगा तो मेरु पर्वत के समान महान् धर्म का भार कैसे वहन किया जा सकेगा ? वृद्धावस्था भयंकर दु:खों की खान है। शक्ति क्षीण हो जाने के कारण इन्द्रियाँ बराबर काम नहीं देतीं, अनेक रोगों के उपद्रव खड़े हो जाते हैं। खांसी और श्वास सताते रहते हैं। इधर घर वालों की उपेक्षा और अपमान का असह्य दु:ख भोगना पड़ता है। जिस वृद्ध ने अपनी युवावस्था में शक्ति रहते हुए कुटुम्बियों का भरण-पोषण किया, विवाह-शादियाँ कीं, वे ही

कुटुम्बी उस व्यक्ति के वृद्ध-अशक्त हो जाने पर उसकी उपेक्षा करते हैं, अपमान करते हैं, वचन बाणों से उसके मर्म को आहत करते हैं यह कितनी कृतघ्नता है। संसार में अधिकांश कुटुम्बों में वृद्धों के प्रति यही उपेक्षा देखी जाती है! संसार स्वार्थी जो ठहरा। जब उस वृद्ध से उनके किसी स्वार्थ की सिद्धि नहीं होती तो वह भार रूप बन जाता है। जगत में सारा स्वार्थमय व्यवहार है। इसीलिए कहा गया है कि-

झूठी जग की प्रीत।

घर में चार पुत्र हैं, पुत्र वधूएँ हैं परन्तु बेचारा वृद्ध पानी के लिए भी तरसता है! बड़े-बड़े घरों का यह हाल देखा है। यह अवस्था का ही दुःख है। इसलिए भगवान् ने जरा को भयंकर दुःख बताया है। जब वह वृद्ध जरावस्था में अशान्त रहता है, रोगों से आक्रान्त रहता है तो उस समय में क्या खाक धर्म का आराधन कर सकेगा? आँख से दिखाई नहीं देता, कान से सुनाई नहीं देता, खड़ा नहीं हुआ जाता, वह वृद्ध भला क्या मोक्ष की कठोर साधना कर सकेगा? अतएव यह भ्रमणा दूर कर दो कि वृद्धावस्था में धर्म की आराधना कर लेंगे। भगवान् ने स्पष्ट चेतावनी दी है:—

जाविन्दिया न हायंति ताव धम्मं समायरे

जब तक बुढ़ापा नहीं आता और इन्द्रियाँ क्षीण नहीं होतीं तब तक धर्म का आचरण करलो। एक कवि ने कहा है: —

जौलों देह तेरी काहू रोग सौं न घिरी, जौलों ।
जरा नाहिं नेरी जासौं पराधीन परि है॥
जौलों जम नामा बैरी देय ना दमामा जौलों ।
मानै कान रामा बुद्धि जाई ना बिगरी है॥
तौ लौं मित्र मेरे निज कारज सवार लै रे ।
पौरुष थकेंगे फेर पछे कहा करि है ।
अहो आग आये जब झोपरी जरन लागी ।
कुआ के खुदाये तब कौन कारज सरि है?

युवकों और युवतियों से जब धर्मध्यान करने का कहा जाता है तो वे झट से कह देते हैं कि यह काम तो बूढ़ों का है। यह अत्यंत अविवेकपूर्ण उत्तर है। नवयुवकों और युवतियों ! जवानी दीवानी है। यह डूगर का पानी है। या तो बीच में ही सूख जायगा या इसे नीचे की ओर ढलना पड़ेगा। इन बूढ़ों और वृद्धाओं को देखकर तुम यह शिक्षा लो कि यह जवानी एक दिन बुढ़ापे में बदल जाने वाली है! तुम सदा जवान नहीं रह सकते। अतएव वृद्धों की अवस्था का देखकर अनुभव करलो और अभी से धर्माराधन के लिए जागृत बनो।

धर्मसाधना का क्षेत्र कोई पांजरापोल या वृद्धाश्रम नहीं है। जहाँ बूढ़े अशक्त, लूले लगड़े अपाहिज ही भर्ती होते हैं। धर्मभूमि तो युद्ध की भूमि है। जिस प्रकार मिलिट्री में भर्ती करते समय डाक्टरी परीक्षा की जाती है नीरोग और पूर्णावयव वाला ही उसमें प्रवेश

पा सकता है। कमजोर, हीन अंगवाला या अधिक उम्र वाला इसमें भर्ती नहीं किया जाता क्योंकि मिलिट्री का काम युद्ध के मैदान में शत्रुओं का मुकाबिला करना होता है। इस काम के लिए छँटे छँटाये युवकों की आवश्यकता होती है। इसी तरह धर्म के क्षेत्र में, मुक्ति के मैदान में वे व्यक्ति क्या कर सकते हैं जिनका शरीर ही उनके लिए दूभर है। बन्धुओं! मोक्ष का सौदा सस्ता नहीं है। इसके लिए कठोर साधना की आवश्यकता है। सैनिक की तरह मुक्ति-पथ के साधक को पद-पद पर बाधाओं से मुकाबिला करना पड़ता है। कमज़ोर, अशक्त और वृद्ध व्यक्ति यह कैसे कर सकता है? शास्त्रकार कहते हैं कि वज्र-ऋषभ नाराच संहनन वाला ही मोक्ष की साधना कर सकता है। शेष पांच संहनन वाले मोक्ष नहीं प्राप्त कर सकते। इससे यह स्पष्ट है कि धर्म की और मोक्ष की साधना करना बूढ़ों या निकम्मों के बूते के बाहर की चीज़ है। अतः धर्मक्षेत्र को बूढ़ों की गोशाला समझने के अंधेरे में न रहना चाहिए। युवकों को इस क्षेत्र में आगे बढ़ने की आवश्यकता है। धर्म को आप लोग फालतू समझते हैं तभी तो फालतू लोगों को इसमें दाखिल कर देते हो। इस दृष्टि को बदलने की आवश्यकता है। यदि आप धर्म को फालतू समझते हैं तो धर्म भी आपको फालतू समझता है। जो धर्म की रक्षा करता है, धर्म उसकी रक्षा करता है।

अतएव यह सुनहरा समय है। तवा गर्म है। गर्म गर्म चीज़ उतार लो। तवा ठण्डा हो जायगा तो न ढोकरे बनेंगे और

न कुछ। गर्म-गर्म का ही सब खेल है। ठण्डा होने पर सब मामला ठण्डा है। रामनाम सत् है। जहाँ गर्मी खत्म हुई वहाँ उठाने की जल्दी होती है। इस विषय में जरा भी देर नहीं की जाती। यदि देर हो जाती है तो कहा जाता है-जल्दी उठाओ, यातक डरेंगे। अरे जिससे प्रेम करते थे गर्मी निकलते ही उमसे डरने लगते हैं। यह तो बेचारा मुर्दा है न वह तलवार चलाता है, न एटमबम। फिर खतरा क्यों? वास्तव में मौत बड़ी खौफनाक है। बड़ी भया विनी है। इस मौत के पजे से बचने के लिए ही धर्म की आरा धना करने की आवश्यकता है। जन्म जरा और मरण के दुःख से बचाने वाला त्राण करने वाला यदि कोई है तो वह एकमात्र धर्म ही है। अतएव धर्म की आराधना के लिए कटिबद्ध बनो। इससे सब दुःखों से त्राण हो जायगा।

भद्र पुरुषों! धर्म की आराधना करने से भावप्राणों का पोषण होता है। भावप्राण ही आपका वास्तविक स्वरूप है। ये भावप्राण जितने २ पुष्ट और विकसित होते जाएँगे वैसे २ आत्मा का उत्थान एव कल्याण होगा और अन्तत निर्वाण की प्राप्ति हो जावेगी।

वैसे तो प्रत्येक जीव के भाव-प्राण भी न्यूनतम रूप में विद्य मान हैं। निगोद के निकृष्टतम जीवों के भी भाव-प्राण का अनतवाँ भाग उद्घाटित रहता है यदि ऐसा न हो तो जड और चेतन की भेदरेखा ही समाप्त हो जाय परन्तु आवरण की तरतमता के कारण भाव प्राणों की चमक दमक में अन्तर है। ज्यों

ज्यों ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय: वेदनीय और अन्तराय कर्म का क्षयोपशम होता है त्यों त्यों भावप्राण पुष्ट होते हैं, विकसित होते हैं। जब उक्त कर्मों का सम्पूर्ण क्षय हो जाता है तो ये परिपूर्ण रूप से आविर्भूत हो जाते हैं। तब आत्मा की ज्योति निष्कलंक और शुद्ध रूप में जगमगा उठती है। जिस प्रकार चन्द्रमा को राहु ग्रसित करता है और जैसे-जैसे राहु की छाया हटती है वैसे २ चन्द्रमा की ज्योत्स्ना प्रकट होती रहती है और जब राहु बिल्कुल हट जाता है तब चन्द्रमा की ज्योति अपने स्वरूप में शोभित हो उठती है। इसी तरह उक्त कर्मरूपी राहु का आवरण दूर होते ही आत्मा की विमल ज्योति जगमगाने लगती है।

भद्र पुरुषों ! द्रव्य प्राण और भाव-प्राण का विवेक कीजिए। द्रव्यप्राण पुद्गलों की परिणति हैं, भावप्राण आत्मा की सम्पत्ति है। द्रव्यप्राण पर वस्तु हैं; भावप्राण आत्मा का निजी स्वरूप है। एकान्ततः द्रव्यप्राणों का पोषण भावप्राणों का शोषण रूप है। द्रव्यप्राणों की आसक्ति को छोड़ कर भावप्राणों में रमण करने का प्रयत्न कीजिए।

महापुरुषों ने भाव-प्राणों को पोषण देने वाले नुस्खों का निरूपण और प्ररूपण किया है। उन रामबाण नुस्खों का सेवन कीजिए। उन नुस्खों में प्रभु-भजन और स्मरण का नुस्खा अमोघ है। प्रभु का गुण-गान करने से कर्मों की निर्जरा होती है और

आत्मा की ज्योति चमक उठती है। इसलिए हमें अरिहंत के गुण गाने ही चाहिए। जो अरिहंत प्रभु के गुण गाते हैं वे अपना जीवन ऊंचा उठाते हैं, और आनन्द ही आनन्द पाते हैं।

रतलाम
ता० १३-१०-५४

प्रमाद का उन्माद

यह बात निर्विवाद और सर्वमान्य है कि विश्व के समस्त प्राणियों की समान रूप से एक ही धारणा और एक ही हार्दिक विचारणा है कि हमें येन-केन प्रकारेण सुख की उपलब्धि हो। छोटे से छोटा कीट-पतंग भी सुख का अभिलाषी है और देवेन्द्र, देवराज शक्र भी सुख की ही भावना करता है। समस्त प्राणि-जगत् की एक ही कामना और भावना है-वह है सुख को प्राप्त करना। विश्व के समस्त प्राणियों की दौड़धूप और प्रवृत्ति का एक ही लक्ष्य-बिन्दु है और वह है सुख। सब सुख चाहते हैं। कोई दुःख नहीं चाहता। सुख सबको इष्ट है और दुःख सबको प्रतिकूल लगता है। दुःख के नाम से ही आत्मा काँप उठती है, थरथराने लगती है। सब सुख पाना चाहते हैं और दुःख से दूर रहना चाहते हैं। परन्तु चाहने मात्र से सुख की उपलब्धि और दुःख की निवृत्ति नहीं होती। यदि चाहने मात्र से ऐसा हो जाता तो सब कभी से सुखी हो जाते, कोई दुःखी नहीं रहता। चाहने मात्र से कोई काम नहीं बन सकता। किसी भी सिद्धि को प्राप्त करने के लिए, किसी साध्य को सिद्ध करने के लिए कुछ करना पड़ता है, पुरुषार्थ करना पड़ता है, श्रम और साधना करनी पड़ती है। तब प्रश्न होता है कि सुख

की उपलब्धि और दुःख की निवृत्ति के लिए क्या करना चाहिए? कौनसी वह राह है जिस पर चलने से प्राणियों की यह सुख की भूख शान्त हो सकती है इस दुःख-पिशाच के मुख से छुटकारा मिल सकता है?

इस प्रश्न का उत्तर देने के पहले सुख और दुःख के निदान-मूल कारण को जान लेना पड़ेगा। रोग की औषधि करने के पहले उसके निदान की आवश्यकता होती है। निदान किये बिना पुड़िया पर पुड़िया देने से कोई लाभ नहीं हो सकता। बुद्धिमान वैद्य सर्व प्रथम रोग का निदान करता है, वह यह पता लगाता है कि रोग की उत्पत्ति का क्या कारण है। भलीभांति निदान कर चुकने के बाद ही कुशल वैद्य रोग की चिकित्सा आरम्भ करता है। रोग का निदान करने से पहले दी हुई औषधि अंधे के तीर की तरह है जो लक्ष्य पर न जाकर इधर-उधर अड़ोसी-पड़ोसी को लग जाता है या चाहे जिधर चला जाता है। वह वैद्य ही क्या है जिसने रोग के कारणों को नहीं जाना? रोग को नहीं जाना और उसके कारणों को नहीं समझा तो औषधि किसकी दी जाएगी। कई बार ऐसा भी होता है कि रोग कोई दूसरा होता है और औषधि कोई दूसरी ही की जाती है। इससे कोई नहीं लाभ होता उल्टा दुष्परिणाम होता है। इसीलिए आयुर्वेद में सर्वप्रथम रोग का निदान करने का विधान किया गया है। इसी प्रकार सुख की उपलब्धि और दुःख की निवृत्ति के हेतु सर्वप्रथम सुख और दुःख के मूल कारणों का अन्वेषण और विश्लेषण करना आवश्यक होता है।

ज्ञानी पुरुषों ने अपनी प्रबल साधना के फलस्वरूप प्राप्त किये हुए विमल ज्ञान के आलोक से दुःख के मूल कारणों की छानबीन की है। उन्होंने जान लिया कि यह दुःख की बला प्राणी के पीछे क्यों लगी हुई है। इस व्याधि और उपाधि का मूल क्या है? उन ज्ञानी पुरुषों ने अन्वेषण कर जो परिणाम प्राप्त किया वह सर्व-साधारण के उपकार हेतु स्पष्टरूप से सबके सामने रख दिया है। उन परमोपकारी ज्ञानी पुरुषों ने अपना अनुभव हमारे सामने रख कर समस्त प्राणि-जगत का सचमुच महान उपकार किया है।

परमज्ञानी और लोकोत्तर दानी भगवान् महावीर ने दुःख के मूलकारण पर प्रकाश डालते हुए कहाः—

पमायकंडे

अर्थात्—दुःखों का उद्भव, स्रोत और मूलभूमि यदि कोई है तो वह प्रमाद है। यह प्रमाद ही शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक रोगों का जन्मदाता और निर्माता है।

कहा जा सकता है कि यदि :दुखों का कर्त्ता प्रमाद है तो उसको भोगने वाला जीव कैसे हो सकता है? जो कर्त्ता होता है वही उसके फल का भोक्ता होता है। बिल्कुल ठीक है। दुःखों का कर्त्ता प्रमाद है परन्तु प्रमाद स्वयं नहीं हो जाता। प्रमाद का कर्त्ता भी आत्मा है। आत्मा-प्रमाद करता है और आत्मा के द्वारा किया गया प्रमाद दुःख की परम्परा को जन्म देता है। फलितार्थ यह हुआ कि आत्मा-प्रमाद करता है और उसके फलस्वरूप दुःख प्राप्त करता है।

इस तरह कर्त्ता को ही क्रिया का फल मिलता है। इसमें किसी प्रकार की असगति नहीं है। क्रिया का करने वाला कर्त्ता ही उसके फल का भोक्ता होता है। कर्म करनेवाला कोई और, और फल भोगने वाला कोई और यह अंधेरगर्दी है। जैनशासन में यह अंधेरगर्दी नहीं है।

हाँ, तो जीव प्रमाद करता है। प्रमाद में योगों की स्फुरणा कारण होती है जब तक योगों का स्पन्दन है वहाँ तक क्रिया है और जहाँ क्रिया है वहाँ कर्तृत्वभाव है और जहाँ कर्तृत्व है वहाँ कर्म फल भोक्तृत्व भी है। सयोगी अवस्था में कर्तृत्व भाव हो सकता है, अयोगी अवस्था में नहीं। क्रिया से कर्म का बंध होता है अकर्तृत्वभाव में क्रिया की सत्ता है परन्तु कर्मबन्ध नहीं होता।

प्रश्न हो सकता है कि जहा कर्तृत्वभाव नहीं वहां क्रियां का सत्ता कैसे हो सकती है? इसका समाधान यह है कि जैसे इजन से डिब्बा चलता है इजन डिब्बे को धक्का देकर अलग हो गया फिर भी डिब्बे की गति थोड़ी देर तक चालू रहती है। जैसे कुम्हार दण्ड की सहायता से चाक को घुमाता है। चाक में से दण्ड को निकाल लेने पर भी थोड़ी देर तक चाक घूमता रहता है। इसी तरह अयोगी अवस्था में कर्तृत्वभाव तो नहीं है परन्तु पूर्व प्रयोग के कारण क्रिया की सत्ता रहती है।

तेरहवें गुण स्थान तक योगों का स्पन्दन है अतएव वहीं तक क्रिया और कर्तृत्वभाव है। तेरहवें गुण स्थान में कर्म का उदय,

उदीरणा, सत्ता है। वहाँ रहे हुए अघातिकर्म--वेदनीय, आयुष्य, नाम और गोत्र यद्यपि चौदहवें अयोगी गुण स्थान में भी रहते हैं परन्तु वे केवल पूर्व प्रयोग के कारण रहते हैं। उनकी स्थिति पांच लघु अक्षर - अ इ उ ऋ लृ के उच्चारण काल पर्यन्त ही होती है इसके बाद सम्पूर्ण अकर्तृत्वभाव—निष्क्रियभाव में आत्मा स्थित हो जाता है।

तात्पर्य यह हुआ कि योगों की स्फुरणा के आधार पर कर्मों का कर्त्तृत्व है। पंखा जब तक चलता रहता है तब तक हवा उत्पन्न होती रहती है। पखा स्थिर हो जाता है तो हवा बंद हो जाती है। यदि पंखा तीव्र गति से फिरेगा तो अधिक वायु उत्पन्न होगी यदि पखा मंद गति से फिरता है तो कम वायु पैदा होती है। इसी तरह योगा की स्फुरणा तीव्र होती है तो कर्मबंध में भी तीव्रता आती है और योगों की स्फुरणा मंद होती है तो कर्मबन्ध में भी मदता आती है। योगों का स्पन्दन चौदहवें गुण स्थान में बंद हो जाता है। यहां सम्पूर्ण अक्रियभाव प्राप्त करके जीव सर्वथा कर्म-मुक्त हो जाता है। सब दुःखों से छूट जाता है और कृतकृत्य बन जाता है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि कर्त्तृत्व का सम्बन्ध मन, वचन और शरीररूप योगों के स्पन्दन से सम्बन्धित है। जहाँ मन वचन और शरीर ही नहीं है वहाँ कर्त्तृत्व कैसे रह सकता है? जो लोग ईश्वर को निराकार मान कर भी कर्त्ता

मानते हैं, यह असंगत है। कुम्हार के पास दण्ड चक्ररूप करण (साधन) नहीं हो तो वह कैसे घड़ा बना सकेगा? दर्जी के पास सूई धागा न हो तो वह कैसे कपड़ा सी सकेगा?

दूसरी बात यह भी है कि ईश्वर को कर्त्ता मानने वाले लोग ईश्वर को सर्व-व्यापक भी मानते हैं। सर्वव्यापी में क्रिया का सम्भव नहीं है। देशव्यापी में ही क्रिया सम्भवित है। क्रिया का मतलब इधर उधर होना है। वह पहले से ही सर्व व्यापी है इसलिए इधर उधर होने का कोई प्रयोजन नहीं रहता। घडे में पूरा पानी भरा होता है तब उसमें हलन चलन नहीं होता है। जब घड़ा अधूरा भरा होता है तभी उसमें हिलना डुलना होता है।

क्रिया साकार में हो सकती है, निराकार में नहीं। करना धरना आदि क्रियाएँ मूर्तिमान, शबल बाल तत्त्व में ही होती हैं। निराकार में करना धरना रूप क्रिया की सम्भावना ही नहीं है। क्योंकि उसके पास क्रिया के करण (साधन) नहीं होते। करण के बिना क्रिया नहीं होती। अतएव निराकार ईश्वर को कर्त्ता मानने का सिद्धान्त युक्तियों के आधार पर स्थित नहीं हो सकता।

तात्पर्य यह हुआ कि जहां क्रिया है वहाँ कर्तृत्व है और फल का भोक्तृत्व भी है। क्रिया कभी निष्फल नहीं होती। प्रत्येक क्रिया का फल अवश्य होता है चाहे वह प्रत्यक्ष हो या अप्रत्यक्ष हो शुभ हो या अशुभ हो। किसी ने मुंह में मिश्री डाली तो उसका मुंह मीठा हुआ, किसी ने मुंह में अफीम डाली

तो उसका मुंह कड़ुआ हुआ। शुभ कर्म का फल शुभ होता है और अशुभ कर्म का फल अशुभ है।

क्रिया किसी की सगी नहीं। हम और आप तो क्या, ब्रह्म-ज्ञानी की क्रिया का फल भी उन्हें भोगना पड़ता है। तेरहवें सयोगी गुण स्थान में केवलज्ञान हो जाने के बाद भी शरीरधारी होने के कारण क्रिया कर्म और कर्मबंध होता है। जीवनचर्या का लम्बा सिलसिला क्रिया के बिना नहीं चल सकता। पानी, रोटी, कपड़े की आवश्यकता सामान्य तौर पर सब मानव-प्राणियों को होती है। इन्हें भी जाने दीजिए; सांस तो प्रत्येक जीवधारी के लिए अनिवार्य है। जहाँ तक श्वासोच्छ्वास है वहाँ तक योगों की स्फुरणा भी है और क्रिया एवं कर्मबंध भी है।

भगवान् से गौतम स्वामी ने प्रश्न किया— हे भगवन्! जीव जब तक हिलता-डुलता है, इधर-उधर होता है, काँपता है और अस्थिर है क्या वह मुक्त हो सकता है?

भगवान कहते हैं—हे गौतम! जब तक हिलना-डुलना है, हलन-चलन है, कम्पन है वहाँ तक मुक्त नहीं हो सकता। जब जीव शैल (पहाड़) की तरह निष्प्रकम्प हो जाता है, स्थिर हो जाता है, योग की स्फुरणा सर्वथा बंद हो जाती है, श्वासोच्छ्वास भी बंद हो जाता है तब जीव मुक्त होता है। और अकंप आत्मा ही मुक्ति प्राप्त करता है।

सूक्ष्म निगोद के जीव जो अंगुल के असंख्यातवें भाग जितनी अवगाहना वाले हैं—के सूक्ष्मतम शरीर में भी योग का स्पन्दन

होता है। ये सूक्ष्म शरीर में निगोद के जीव भी सात या आठ कर्म का बंध करते हैं। जहाँ इतने सूक्ष्म योग स्पन्दन से भी सात या आठ कर्मों का बंध होना सर्वज्ञ-सर्वदर्शी भगवान् ने प्ररूपित किया है तो भला जहाँ इरादे के तुरंग दौड़ाये जा रहे हों या यद्‌भावी तेरा ही आसरा' का आसरा लिया जा रहा हो वहां पाप की गठरी का क्या पूछना ?

जैन सिद्धान्त बहुत सूक्ष्म तत्त्व का प्रतिपादक है। यह कहता है कि मुक्त होने के लिए योगों का सूक्ष्मतम स्पन्दन भी बंद होना ही चाहिए। अयोगी होने पर ही सिद्धि होती है अतएव अयोगी बनने का प्रयत्न करना चाहिए। यह अयोग अवस्था जादू की छड़ी की तरह एकदम नहीं प्राप्त हो सकती। इसके लिए क्रमिक प्रयास करना होता है, क्रमशः आध्यात्मिक विकास के सोपान पर चढ़ना होता है। इस अयोगी स्वरूप को आदर्श सामने रखकर क्रमशः गुणस्थानों पर आरोहण करते रहना चाहिए। जो व्यक्ति लक्ष्य की ओर धीरे २ भी बढ़ता रहता है वह अवश्य मंजिल पर पहुँच जाता है। अतएव यह अयोगी अवस्था साध्य है और इस ओर बढ़ने का प्रयत्न करना चाहिए।

हाँ, तो विषय यह चल रहा था कि प्राणीमात्र को सुख की इच्छा बनी रहने पर भी सुख क्यों नहीं प्राप्त होता और जिस दुःख को कोई नहीं चाहता वह दुःख प्राणियों के पल्ले जबर्दस्ती क्यों पड़ा हुआ है ? जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि चाहने मात्र से कोई काम नहीं हो सकता। भूखा व्यक्ति चाहता है कि उसकी क्षुधा

शान्त हो जाय। ठीक है क्षुधा शान्त हो सकती है परन्तु इसके लिए उसे कुछ करना पड़ेगा। कुछ किये बिना अपने आप क्षुधा शान्त नहीं होगी। इसी तरह सुख की उपलब्धि और दुःख की निवृत्ति के लिए कुछ प्रयत्न करना पड़ेगा। यह महान कार्य जादू के चमत्कार की तरह अनायास नहीं हो सकता। पहले बतला चुका हूँ कि यह सब दुःख प्रमाद के द्वारा उत्पन्न होते हैं।

यह प्रमादरूपी पिशाच जीवों की सुख-शान्ति को नष्ट कर रहा है। इस प्रमाद-पिशाच के पांच मुख हैं। १ मद (अभिमान) २ विषय (भोगोपभोग), ३ कषाय (क्रोधादि) निद्रा और ५ विकथा। यह प्रमादरूपी पिशाच पंचमुखी रूप धारण कर जीवों की सुख-शान्ति को हड़प रहा है और सर्वत्र दुःख, अशान्ति, त्राहि और हाहाकार मचा रहा है। जिस प्रकार यक्ष, भूत, पिशाच-मनुष्य के शरीर में प्रविष्ट होकर उसे बेभान हैरान और परेशान करते हैं उसी तरह यह प्रमाद का भूत आत्मा को बेभान और हैरान कर रहा है।

जिस प्रकार उन्माद (पागलपन) का रोग एक भयंकर व्याधि है जो मानव की शारीरिक और मानसिक शान्ति एवं स्वस्थता को नष्ट कर देती है उसी तरह यह प्रमाद आत्मा के आरोग्य को तहस-नहस कर डालता है। जैसे उन्माद का रोगी अपना भान भूल जाता है और यद्वा तद्वा बोलता है तथा उल्टी-सीधी प्रवृत्ति करता है इसी तरह प्रमाद-ग्रसित आत्मा अपना स्वरूप भूल जाता है, एवं

होता है। ये सूक्ष्म शयय व निगोद के जीव भी सात या आठों कर्म का बंध करते हैं। जहाँ इतने सूक्ष्म यान स्पन्दन से भी सात या आठों कर्मों का बंध होना सर्वज्ञ-सर्वदर्शी भगवान् ने प्ररूपित किया है तो भला जहाँ इरादे के तूफान दौड़ाये जा रहे हों या बदमाशी तेरा ही आसरा' का आसरा लिया जा रहा हो वहाँ पाप की गठरी का क्या पूछना ?

जैन सिद्धान्त बहुत सूक्ष्म तत्त्व का प्रतिपादक है। वह कहता है कि मुक्त होने के लिए योगों का सूक्ष्मतम स्पन्दन भी बंद होना ही चाहिए। अयोगी होने पर ही सिद्धि होती है अतएव अयोगी बनने का प्रयत्न करना चाहिए। यह अयोग अवस्था जादू की छड़ी की तरह एकदम नहीं प्राप्त हो सकती। इसके लिए क्रमिक प्रयास करना होता है क्रमश आध्यात्मिक विकास के सोपान पर चढ़ना होता है। इस अयोगी स्वरूप का आदर्श सामने रखकर क्रमशः गुणस्थानों पर आरोहण करते रहना चाहिए। जो व्यक्ति लक्ष्य की ओर धीरे २ भी बढ़ता रहता है वह अवश्य मंजिल पर पहुंच जाता है। अतएव यह अयोगी अवस्था साध्य है और इस ओर बढ़ने का प्रयत्न करना चाहिए।

हाँ, तो विषय यह चल रहा था कि प्राणीमात्र को सुख की इच्छा बनी रहने पर भी सुख क्यों नहीं प्राप्त होता और जिस दु:ख को कोई नहीं चाहता वह दु:ख प्राणियों के पल्ले जबर्दस्ती क्यों पड़ा हुआ है ? जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि चाहने मात्र से कोई काम नहीं हो सकता। भूखा व्यक्ति चाहता है कि उसकी क्षुधा

शान्त हो जाय। ठीक है क्षुधा शान्त हो सकती है परन्तु इसके लिए उसे कुछ करना पड़ेगा। कुछ किये बिना अपने आप क्षुधा शान्त नहीं होगी। इसी तरह सुख की उपलब्धि और दुःख की निवृत्ति के लिए कुछ प्रयत्न करना पड़ेगा। यह महान कार्य जादू के चमत्कार की तरह अनायास नहीं हो सकता। पहले बतला चुका हूँ कि यह सब दुःख प्रमाद के द्वारा उत्पन्न होते हैं।

यह प्रमादरूपी पिशाच जीवों की सुख-शान्ति को नष्ट कर रहा है। इस प्रमाद-पिशाच के पांच मुख हैं। १ मद (अभिमान) २ विषय (भोगोपभोग), ३ कषाय (क्रोधादि) निद्रा और ५ विकथा। यह प्रमादरूपी पिशाच पंचमुखी रूप धारण कर जीवों की सुख-शान्ति को हड़प रहा है और सर्वत्र दुःख, अशान्ति, त्राहि और हाहाकार मचा रहा है। जिस प्रकार यक्ष, भूत, पिशाच-मनुष्य के शरीर में प्रविष्ट होकर उसे बेभान हैरान और परेशान करते हैं उसी तरह यह प्रमाद का भूत आत्मा को बेभान और हैरान कर रहा है।

जिस प्रकार उन्माद (पागलपन) का रोग एक भयंकर व्याधि है जो मानव की शारीरिक और मानसिक शान्ति एवं स्वस्थता को नष्ट कर देती है उसी तरह यह प्रमाद आत्मा के आरोग्य को तहस-नहस कर डालता है। जैसे उन्माद का रोगी अपना भान भूल जाता है और यद्वा तद्वा बोलता है तथा उल्टी-सीधी प्रवृत्ति करता है

विपरीत प्रवृत्तियों में प्रवृत्त होता है। इसलिए प्रमाद भयंकर आध्यात्मिक उन्माद है।

> मज्ज विसय कसाया निद्दा विकहाय पचमी भणिया।
> एए पच पमाया जीव पाडेन्ति संसारे ॥

शास्त्रकार कहते हैं कि मद, विषय, कषाय, निद्रा और विकथा रूप पांच प्रकार का प्रमाद है। इस प्रमाद के कारण जीव संसार में परिभ्रमण करके नाना प्रकार के जन्म, जरा और मरणरूप दुःख उठाते हैं।

सज्जनों! प्रमाद शब्द के अर्थ पर विचार कीजिए। 'प्र' उपसर्ग है जिसका अर्थ होता है विशेष। 'माद' शब्द का अर्थ है पागल कर देने वाला जो जीव को विशेषरूप से पागल बना दे, भान भुला दे, वह प्रमाद है। प्रमाद जीव को अनात्मभाव में आसक्त बना देता है। यह अनात्मभाव की आसक्ति अभिमान को जन्म देती है। प्रमत्त आत्मा अनात्मभूत वस्तुओं को पाकर फूल उठता है, अभिमान में चूर हो जाता है। अतएव अभिमान को प्रथम प्रमाद कहा गया है।

प्रमाद जीव को अभिमान की मदिरा पिलाता है जिसके नशे में चूर होकर और आत्म-भाव से दूर होकर जीव जोर-जुल्म करता है बड़े-बड़े संग्राम करता है, बहादुरी के जोश में कमजोरों पर आक्रमण करता है, उन्हें पददलित करना चाहता है। वह सारी दुनिया पर एक छत्र साम्राज्य करने का स्वप्न देखता है। वह युद्ध

लिप्सु बनता है, सत्ता का पिपासु बनता है। अपने अभिमान के पोषण के लिए दूसरों का शोषण करके दुनिया भर का धन अपनी तिजोरियों में बटोरने का प्रयत्न करता है। यह सब करके वह फूला नहीं समाता। वह अपने को बड़ा और दूसरों को छोटा समझने लगता है। लेकिन वह नहीं जानता कि यह तो चलती फिरती छाया है। जिस माया को पाकर वह इठलाता है, फूलाफूला फिरता है, वह छाया की तरह देखते-देखते चली जाने वाली है। यह माया (धन) बड़ी मायाविनी है इसीलिए तो इसका नाम माया है। इसने अपने स्वभाव के अनुसार अनेकों को धोखा दिया है। यह मायाविनी माया किसी की बनकर कभी नहीं रही। इसलिए इसका अभिमान करना मिथ्या है।

यह अभिमान वैसे तो नाना प्रकार है परन्तु मुख्यतया ८ प्रकार है। जातिमद, कुलमद, बलमद, रूपमद, तपमद, सूत्रमद, लाभमद और ऐश्वर्यमद। प्रायः मानव को इन्हीं चीजों के लिए अभिमान हुआ करता है। कतिपय लोग जाति के अभिमान में आकर फूले नहीं समाते। वे जाति के अभिमान में इतने मगरूर हो जाते हैं कि अपने ही समान के इन्सान को अस्पृश्य तक मानने लगते हैं। "मेरी जाति ऊँची है, मैं कुलीन हूँ यह नीची जाति में उत्पन्न हुआ है अतएव यह हीन है" यह बात तेरी आत्मा नहीं कहती; यह तेरा अभिमान बोल रहा है। भगवान् कहते हैं:—

असइं उच्चागोये असइं नीयागोये, को गोयावाई ?

अरे! कौन जाति और गोत्र का अभिमान कर सकता है? यही जीव अनेकबार उच्चगोत्र में उत्पन्न हुआ है और यही जीव अनेकबार नीचकुल में उत्पन्न हो चुका है। यह तो झूला है। झूले में बैठा हुआ मनुष्य कभी ऊँचा जाता है और कभी नीचा आ जाता है। कोई सदा ऊँचा नहीं रहता और कोई सदा नीचा नहीं रहता। जैसे घटमाल के घड़े खाली होते हैं और भरते रहते हैं, "रिक्ताः भवन्ति भरिताः भरिताश्च रिक्ताः"—इसी तरह जीव ऊँच-नीच, धनी-निर्धन होता रहता है। भगवान् ने स्पष्ट कहा है कि "न दीसइ जाइविसेस कोवि"। जाति के कारण इन्सान में कोई विशेषता नहीं आ जाती। गुणों की विशेषता है, सदाचार का महत्त्व है, कुल और जाति की कोई महत्ता नहीं। इसलिए जाति का अभिमान करना मिथ्या है। जैन-शासन में गुणों की पूजा है जातिकुल, धन या ऐश्वर्य की नहीं। इसलिए अभिमानरूपी प्रमाद से बचकर रहना चाहिए।

प्रमाद का दूसरा भेद विषय है। शास्त्रकार ने पांच इन्द्रियों के २३ विषय प्ररूपित किये हैं। ये इन्द्रियों के भोगोपभोग रूप विषय विष के समान मारक और संहारक हैं। शास्त्रकार कहते हैं:—

सल्लं कामा विसं कामा कामा आसीविसोवमा।
कामा पत्थेमाणा अकामा जन्ति दुग्गइं॥

यह विषयोपभोग—कामभोग कांटे की तरह चुभनेवाले, बेचैनी पैदा करने वाले हैं, विष के समान मारक हैं और आशीविष सर्प

के समान भयंकर हैं। जो व्यक्ति इन विषयों की कामना करते हैं वे परवश बनकर दुर्गति में जाते हैं।

विषयों के प्रति की गई आसक्ति आध्यात्मिक मृत्यु का कारण तो बनती ही है परन्तु शारीरिक मृत्यु का कारण भी बन जाती है। पाँचों इन्द्रियों के विषयों की बात थोड़ी देर के लिए जाने भी दीजिए, जो एक-एक इन्द्रिय के विषय में आसक्त हो जाता है वह भी अपने प्राणों से हाथ धो बैठता है। श्रोत्रेन्द्रिय के वश में पड़ा हुआ साँप अथवा मृग कितनी विडम्बनाएँ प्राप्त करता है।

साँप को पकड़ने वाले सपेरे पुङ्गी बजाते हैं। उस पुङ्गी की मधुर ध्वनि को सुनकर राग के वश में बना हुआ नाग फण उठाकर नाचने लगता है। वह मस्ती से झूमने लगता है वह अपनी शक्ति को भूल जाता है। तब संपेरे उसे पकड़ कर पिटारे में बद कर देते हैं। वह उस राग के कारण जन्म भर तक परतंत्रता की विडम्बना प्राप्त करता है। इसी प्रकार वीणा की मधुर-ध्वनि सुनकर मृग मस्त हो उठता है और शिकारी का शिकार बन जाता है।

चक्षुरिन्द्रिय के मनोहर विषयरूप में आसक्त होकर पतंग जल मरता है। इस रूप की आग में जल कर न जाने कितने बड़े-बड़े सम्राट् और चक्रवर्त्ती मृत्यु को प्राप्त हुए हैं। रावण जैसा महाबली राजा, सीता के रूप की आग में जलकर भस्म हो गया। ऐसे न जाने कितने ही प्राणी इस रूप के वशवर्त्ती होकर अकाल में ही काल के गाल में पहुँच गये हैं।

घ्राणेन्द्रिय के वश में पड़ कर भँवरा कमल में कैद हो जाता है। कमल की मनोहारि सुगन्ध से आकृष्ट होकर भँवरा सूर्यविकासी कमल पर जा बैठता है। कमल के पराग और सौरभ का आनन्द लूटने में वह इतना लीन हो जाता है कि उसे पता नहीं चलता कितना समय हो गया है। सन्ध्या के आगमन का भान उसे नहीं आता और "थोड़ा और थोड़ा और" के फेर में पड़ा रहता है। इस बीच सन्ध्या आ जाती है और कमल बंद हो जाता है। भँवरा उसी में कैद हो जाता है।

> भँवरा कमल में जा फँसा खुशबू की चाह में।
> तो उम्र कैद आप वह बदकार हो गया ॥
> यह नफस का फन्दा गले हार हो गया।
> इस हार हो का बुल जहां बीमार हो गया ॥

कमल के सुगध की बहार भँवरे के लिए महार बन गई। भँवरे के लिए कमल में बंद हो जाने पर भी बाहर आने का मार्ग है। भँवरे में यह शक्ति है कि वह काठ को भी छेद सकता है। वह चाहे तो कोमल कमल की पखुड़ी को छेद कर बाहर आ सकता है परन्तु क्या खूब मोह की बलिहारी है! कि काठ को छेद सकने वाला भँवरा कमल को नहीं छेद सकता!

भद्र पुरुषो! अजीब माया है इस मोह की! लोहे की दृढ़ साकल को एक झटके में तोड़ डालने वाले शूरवीर मोहग्रस्त होकर कच्चे सूत के बन्धन को नहीं तोड़ सकते। लोह-लक्कड़ को

भेदना आसान है परन्तु मोह को भेदना कठिन है। बड़े-बड़े शूरवीर यहाँ आकर हतोत्साह हो जाते हैं, हार खा जाते हैं। इस मोह पिशाच ने सारे जगत को पछाड़ रक्खा है। जो मोह को पछाड़ देता है वह सबको पछाड़ सकता है। इस मोह-मदिरा ने सारे जगत् को बेभान कर दिया है। मोहग्रस्त होकर इन्सान अपने आपको भूल रहा है। यह मेरा मकान, यह मेरी दुकान, यह मेरा साज-सामान, यह मेरी सन्तानें, यह मेरी पत्नी प्राण समान, इन अरमानों में इन्सान फँसा रहता है। तत्त्वज्ञानी पुकारते हैं:—

ना घर तेरा ना घर मेरा चिड़िया रैन बसेरा रे।

इस पुकार पर कौन ध्यान देता है? मोह की मदिरा का नशा यह बात नहीं सुनने देता। बड़ी लुभाविनी शक्ति है इस मोह में! सारा जगत मुग्ध बना हुआ है। औरों की बात छोड़ दीजिए, बड़े २ ऋषि-मुनियों को भी इस मोह ने मजा चखाया और निगोद में ला पटका जहाँ अनन्तकाल तक एकेन्द्रिय से द्वीन्द्रिय होने का मौका ही नहीं मिलता। यह मोह इतनी बुरी तरह पछाड़ता है कि अनन्तकाल तक उठने ही नहीं देता। हजारों वर्षों की तपस्या को यह मिनटों में मिट्टी में मिला देता है। कुण्डरीक इसका उदाहरण है।

कुण्डरीक और पुण्डरीक दोनों राजकुमार थे। मोह की उपशांति होने से राज्य वैभव का परित्याग कर कुण्डरीक योग-साधना हेतु प्रव्रजित हो गया। हजार वर्ष पर्यन्त कठिन तपश्चर्या करके कुण्डरीक ने अपना शरीर सुखा दिया। मांस और खून सूख गये।

कठोर साधना और तीव्र तपश्चरण के द्वारा शरीर एकदम कृश हो गया। इतना सब होते हुए भी आत्मा में रहे हुए मोह के बीज पूरी तरह नहीं जल पाये थे। मोह की उपशान्ति हुई थी परन्तु क्षय नहीं हुआ था। मोह की आग शांत नहीं हुई थी परन्तु राख से आच्छादित हुई थी। मोह का राक्षस कुमति रानी के साथ सोया हुआ था। सहसा उसने करवट ली। मोह जागृत हो गया परिणामों की धारा का प्रवाह पलट गया। राख उड़ गई और मोह की आग भभक उठी। जिस प्रकार पृथ्वी में रहे हुए बीज वर्षा में अंकुरित हो उठते हैं उस तरह मोह के बीज अंकुरित हो गये। शरीर कृश हो गया था परन्तु मोह ताजा हो उठा। मोह ने योगी कुण्डरीक को चुनौती दी—तूँ मुझे छोड़ना चाहता है और शिव-रमणी से नाता जोड़ना चाहता है परन्तु मैं यह नहीं होने दूंगा। बेचारा कुण्डरीक इतने घोर तपश्चरण के बाद भी मोह की चुनौती का सबल उत्तर न दे सका। वह मोह के अधीन हो गया। मोह के सामने उसने आत्म समर्पण कर दिया। मोह का बल अत्यन्त प्रबल हो गया। वह सोचने लगा—मेरा भाई शाही ठाठ और राजसी वेश भूषा धारण कर हुकूमत करता है, ऐश आराम की जिन्दगी बिताता है और मैं जगलों की खाक छानता हूं। मेरा भाई राजसी खानपान का आस्वादन करता है और मैं जंगलों में भूखा मर रहा हूँ। मिल गया तो खा लिया नहीं तो भूखा ही रह जाता हूं। अरररर! मैं यह दुर्लभ राज्य वैभव पाकर भी भिखारी की जिन्दगी बिता रहा हूँ। मैं धोखे में रहा। जीवन का आनन्द भाग

में नहीं, भोग में है। कुण्डरीक के मन पर मोह की ध्वजा फहरा उठी। उसी का परिणाम है कि वह ऐसा विचार कर रहा है।

जो कुण्डरीक मोह की उपशांति के कारण किसी समय राजसी भोगोपभोगों को ठुकरा कर प्रव्रजित हुआ था, जिसने घोर और दीर्घ तपश्चरण करके शरीर को कृश कर लिया था, जो योग में ही जीवन की सार्थकता समझता था वही कुण्डरीक मोह के प्रबल हो जाने के कारण क्या विचार कर रहा है! उसके विचारों का प्रवाह किधर से किधर बहने लग गया है, यह सब गहराई से सोचने का विषय है! यह सब मोह की विडम्बना है। कहा है:-

काया मन्दिर मन ध्वजा विषय लहर फरकाय।
ज्यों मन डिगे त्यों काया डिगे तो जड़ा मूल से जाय॥

भद्र पुरुषों! सन्नारियों! मोह पर विजय पाना बड़ा कठिन है। जो योद्धा दश लाख सुभटों को युद्ध में पराजित कर बड़े गर्व के साथ अपने मस्तक पर विजय का सेहरा बाँधता है वह भी मोह के आगे हार खा जाता है। अतः वह सच्चा विजेता नहीं है। सच्चा विजेता वह है, जिसने इस अकेले मोह को पछाड़ा है। सच्चा शूरवीर वह है जो मोह के साथ संग्राम करता है और उसे परास्त करता है। मोह पर विजय पाने वाला वास्तविक विजेता है। बाह्य शत्रुओं और योद्धाओं को जीतने में जीत नहीं है क्योंकि वह जीत यहाँ हार के रूप में बदल जाती है। जो आत्म-विजय करके मोह को परास्त कर देता है वह शूरवीर ऐसे राज्य का अधिकारी हो जाता है जो शाश्वत है, अजेय है, और अनन्त ऐश्वर्य से समृद्ध है।

रुस्तम एक बड़ा नामी पहलवान हो चुका है। कहा जाता है कि उसने अपने बल से कोई पर्वत को उठा लिया था। ठीक है, रहा होगा उसका इतना शारीरिक बल! लेकिन उसका यह शारीरिक बल क्या काम आया? उसने अपनी ताकत पत्थर उठाने में लगाई। यदि वह इतनी ताकत मन को जीतने में लगाता, मन को पापों से उठाने में लगाता तो उसका वास्तविक हित होता। वैसे हमाल ४ मन की बोरी उठा लेता है परन्तु उस बल की क्या गिनती? कौन बेचारे हमाल को पूछता है। वास्तव मे वही बल है, वही शक्ति है, वही ताकत है जो आत्मा के विकारों को, मोह और प्रमाद को दूर करने में प्रयुक्त की जाय। वास्तव में वही विजय है जो मोह को पराजित करे।

जो पुण्डरीक मोह का आक्रमण होने के पूर्व योग को आनन्द-दाता और दुःख-त्राता समझ रहा था-वही मोह का शिकार होने पर योग में अनन्त दुःख और भोग में अपूर्व आनन्द मानने लगा। उसने निश्चय किया-जो बहुमूल्य समय योग-साधना में व्यर्थ खोया। सो तो हाथ से निकल गया। खैर हुआ सो हुआ। अब राख रही को। शेष जीवन का ही लाभ लिया जाय। वापस नगर मे जाऊँ और अपने अधिकार के राज्य का स्वामी बनकर ऐश-आराम में जीवन बिताऊँ। यह निश्चय करके वह जंगल से नगर की ओर आता है।

नगर के पास आकर वह पनघट पर ठहरता है। उस पनघट पर राजा पुण्डरीक की दासियाँ पानी भरने आई हुई थीं। उन्होंने

पुण्डरीक को पहचान लिया और प्रसन्न होकर आदर भाव के साथ उनकी सराहना करती हुई कहने लगी—धन्य हैं, लाख लाख धन्यवाद है आपको जो योगी का जीवन विता रहे हैं। राज्य ऋद्धि को ठोकर मार कर तपोमय जीवन विताने वाले आपको बार-बार धन्य है!

दासियों ने जाकर पुण्डरीक से निवेदन किया कि-स्वामिन्! आपके भाई महामुनि कुण्डरीक नगर के बाहर पधारे हैं। यह जानकर पुण्डरीक को अत्यन्त हर्ष हुआ। वह मुनि के दर्शन हेतु आता है और श्रद्धा के साथ उनके चरणों में मस्तक झुकाता है। स्वाभाविक भक्ति के वश होकर वह कहता है:—

महामुने! धन्य हैं आप जो योग में रमण कर रहे हैं, मैं तो भोगों का कीड़ा बना हुआ हूँ। आप अध्यात्म अमृत के सरोवर में गोते लगा रहे हैं और मैं विषयों की आग में जल रहा हूँ। धन्य है आप जो अपने कल्याण-पथ के कांटों को दूर करके मोक्ष-मार्ग को प्रशस्त कर रहे हैं। मैं अभागा अपने आत्मिक कल्याण के पथ में काँटे बिछा रहा हूँ। आप जैसे महामुनि के पुनीत दर्शन से मैं अपने आपको धन्य समझता हूँ।

सज्जनों! विचार-धाराओं का अवलोकन करिये। अध्यात्म के क्षेत्र में भावों का प्राधान्य और माहात्म्य है। भावनाओं के ऊपर ही अध्यात्म का दारमदार है। केवल बाहरी वेश कल्याण करने वाला नहीं है। भावना ही भव का नाश करने वाली है। कुण्डरीक

और पुण्डरीक-दोनों की विचार-धाराएँ आपके सामने हैं। इधर योगी का वेश धारण करने वाला कुण्डरीक अन्दर से भोग की कामना और लालसा की आग से झुलस रहा है। उधर गृहस्थ के वेश में रहा हुआ पुण्डरीक योग की अन्तःकरण से प्रशसा कर रहा है!

वस्तुतः योग और भोग हमारी वृत्तियों में है, कृतियों में है। बाहरी वेश-लिबास में नहीं। योगी का बाना धारण करने पर भी भोगी हो सकता है और गृहस्थी के बाने में भी योगी हो सकता है। आभ्यन्तर भावनाओं के ऊपर योग और भोग का दारमदार है। भरत चक्रवर्ती साजसिगार के साधनों से सुसज्जित आरिसाभवन में रहते हुए भी केवलज्ञान केवलदर्शन प्राप्त कर लेते हैं। बात यह है कि जब अन्तरात्मा जागती है तो बाह्य रग-राग और ऐश-आराम के साधन भी उसका कुछ नहीं बिगाड़ सकते और जब अन्तरात्मा सुषुप्त अवस्था मे होती हैं तब योग के साधन भी भोग के साधन बन जाते हैं। सुप्त आत्मा की अनन्त निधि को आभ्यन्तर लूटेरे लूट लेते हैं।

वेश से आत्मकल्याण नहीं हो सकता। आत्म-कल्याण तो आभ्यन्तर चित्त वृत्तियों के द्वारा ही होने वाला है। बाहरी मुण्डन से उद्धार होने वाला नहीं है। इसके लिए मन मुण्डन आवश्यक है। लोकोत्तर दृष्टि से वेष और बाह्य क्रिया-काण्डों का कोई खास महत्त्व नहीं है। लौकिक दृष्टि से वेश का विधान किया गया है।

केशी-गौतम सवाद में इस बात पर अच्छा प्रकाश डाला गया है। तेवीसवें तीर्थंकर भगवान पार्श्वनाथ के अनुयायी साधु पांचों

वर्ण के वस्त्र रखते थे और बहुमूल्य वस्त्र भी धारण करते थे, जबकि भगवान् महावीर ने अपने संघ के साधु-साध्वियों के लिए सफेद व अल्पमूल्य के वस्त्र धारण करने का विधान किया। दोनों तीर्थंकरों का उद्देश्य एक ही है फिर भी यह विधान का भेद क्यों ? इस प्रकार केशी स्वामी ने गौतम स्वामी से प्रश्न पूछा। गौतम स्वामी ने उत्तर दिया— मोक्ष के अन्तरंग कारण तो ज्ञान, दर्शन और चारित्र है। इनके आधार पर मोक्ष का निरूपण है। वेश तो बाह्यसाधन है। इसका प्रयोजन लौकिक दृष्टि बिन्दु को लिये हुए है

लोगे लिंगपओ श्रणं

जिस प्रकार भिन्न २ विभाग के राज्य कर्मचारियों की वर्दियों का रंग भिन्न रखा जाता है ताकि उनकी आसानी से पहचान हो सके। इसी तरह आसानी से पहचाने जाने के निमित्त वेश का विधान किया गया है ! इसलिए तेवीसवें और चौवीसवें तीर्थंकर के वस्त्र विषयक बाह्यविधान में बाह्यदृष्टि से अन्तर होने पर भी तात्विक दृष्टि से कोई भेद नहीं है ! इससे यह स्पष्ट है कि आध्यात्मिक साधना के क्षेत्र में बाह्य-वेश का कोई विशेष महत्त्व नहीं है। व्यावहारिक दृष्टि से वेश की भी उपयोगिता है। वेश की लाज से या लोकलाज से भी पाप-प्रवृत्ति से थोड़ा बहुत बचाव हो सकता है। व्यवहार की शर्म रखे तो भी ठीक है परन्तु आश्चर्य इस बात का है कि वेश रक्खे योगी का और काम करे भोगी का !!

सच बात यह है कि बाना बदल लेने से काम नहीं चलता। बान (आदत-वृत्ति) बदल जानी चाहिए। जिसकी वृत्ति भोगों

से उदासीन हो जाती है उसके लिए घर भी तपोवन है और जिसकी वृत्ति में भोगों की लालसा है उसके लिए तपोवन भी नाटक घर है। कहा है:—

> बाना बदले सौ-सौ बार बदले बान तो बेड़ा पार।
> चाहे सोने चोंच मढाई करा हंस की लार॥
> तदपि कागा बान न छोड़े इत सत्संग लाचार।
> बाना बदले सौ-सौ बार बदले बान तो बेड़ा पार॥

बहुरूपिये की तरह बाना बदलने से कल्याण होने वाला नहीं है। कोई चोर या उच्चका साधु का बाना पहन कर चोरी करे तो क्या वह सजा का पात्र नहीं है? अवश्य है। बाना बदलने से क्या होता है? वृत्ति बदलनी चाहिए।

कुण्डरीक ने योगी का बाना धारण कर रखा था परन्तु चित्त-वृत्ति में भोगों की लालसा बनी हुई थी। जब पुण्डरीक ने श्रद्धा-युक्त अन्तःकरण पूर्वक कुण्डरीक के मुनि-जीवन की प्रशंसा की और भोगों में फँसे रहने के कारण अपनी निन्दा की तब उसे सुनकर कुण्डरीक ने विचारा— यह पुण्डरीक मुझे फूल का भँवरा समझ रहा है और अपने आपको भोग का कीड़ा मान रहा है! यह मेरे योग की सराहना कर रहा है और मैं इससे भोग की याचना करने आया हूँ। धिक्कार है मुझे। इस विचार से कुण्डरीक का मन बदल गया और वह वापस योग-साधना के लिए जंगल की ओर चल दिया।

जंगल में चला तो गया परन्तु चित्तवृत्ति स्थिर नहीं हो सकी। अन्तःकरण में मोह रूपी कांटा चुभ चुका था वह कैसे चैन लेने देता! फिर भावना बदली। उसने सोचा-- मेरे भाई ने बातों की बातों में मुझे उल्लू बना दिया। अब फिर जाता हूँ और अब उसकी लुभाविनी बातों में नहीं आऊँगा।

यह सोचकर कुण्डरीक पुनः पुण्डरीक के पास आया। उसने कहा तुम राज्य-सुख का उपभोग करते हो और मैं वन में मारा २ फिरता हूँ। अब मुझसे यह नहीं होने वाला है। मैं अपने जीवन को यों बर्बाद करना नहीं चाहता। अब तक तुमने राज्य किया है अब मैं राज्य करूंगा। भोग भोगूंगा।

पुण्डरीक यह सुनकर दंग रह गया। उसके अचरज का पार नहीं रहा। हजार-हजार वर्ष तपस्या करने के पश्चात् भी इनके मुख से यह क्या शब्द निकल रहे हैं! उसे अत्यन्त खेद और आश्चर्य हुआ।

पुण्डरीक ने समझाते हुए कहा--- महाराज! यह सांसारिक सुख चूर के लड्डू हैं। जो इन्हें नहीं खाते हैं वे भी पछताते हैं और जो खाते हैं वे भी पछताते हैं। जिनका विवाह नहीं हुआ वे विवाह के लिए तरसते हैं परन्तु जिनका विवाह हो चुका है उनसे पूछो कि वे कैसी जिन्दगी बिता रहे हैं? इस प्रकार पुण्डरीक ने बहुतेरा समझाया परन्तु ज्योति बुझ चुकी थी, उसमें प्रकाश फूंकने की गुंजाइश नहीं रह गई थी।

आखिर पुण्डरीक ने कहा— लीजिये यह राज्य। छोड़िय यह वाना। वीतराग का यह बाना खाली नहीं रहेगा। पुण्डरीक इसे धारण करेगा। मुझे स्वप्न में भी कल्पना नहीं थी कि मैं साधु बनूंगा परन्तु मेरे अहोभाग्य है कि मुझे आपके निमित्त से यह अपूर्व लाभ हो रहा है।

यह कह कर पुण्डरीक ने साधु का बाना पहन लिया। वह योग के मार्ग में लग गया। कुण्डरीक भोग के मार्ग में लग गया। कुण्डरीक का पतन पुण्डरीक के उत्थान का निमित्त बन गया।

भोगों की लालसा लिये हुए कुण्डरीक राजा बना और ऐश आराम में लीन हो गया। तपस्या का कृश शरीर था। तीव्र आसक्ति के कारण उत्तम २ रसायनों का वह सेवन करने लगा। रसायन को पचाने की क्षमता न होने से वह फूट निकला। असाध्य बीमारी हो गई और अन्तत तीन दिन राज्य भोग कर मृत्यु को प्राप्त हुआ। तीव्र आसक्ति के कारण तैंतीस सागरोपम की स्थिति वाले सप्तम नरक में उत्पन्न हुआ। उधर पुण्डरीक योग साधना करके सर्वार्थसिद्ध विमान में तैंतीस सागरोपम की स्थिति वाले देव बने।

साराश यह है कि मोह की शक्ति बड़ी प्रबल है। इसको जीतने का प्रयास करना चाहिए। मोह का जीतना ही सच्ची विजय है। प्रमाद के भेदों का थोड़ा निरूपण किया है। इनको जानकर प्रमाद व उन्माद से बचना चाहिए।

प्रमाद से बचने की प्रेरणा करने वाले अर्हन् देव हैं। उन्होंने प्रमाद पर विजय प्राप्त कर सिद्धि प्राप्त की है। उनसे प्रेरणा लेकर

हम भी दुःखों से छुटकारा पा सकते हैं और शाश्वत सुख की उपलब्धि कर सकते हैं। अतएव हमें अर्हन् प्रभु के गुण गाना चाहिए और अपने जीवन को उन्नत बनाना चाहिए जो अर्हन् प्रभु के गुण गाते हैं वे शाश्वत शान्ति और सुख पाते हैं।

रतलाम—

मुक्ति की युक्ति

(मोक्ष-निरूपण)

सिद्धाणं बुद्धाणं पारगयाणं परंपरगयाणं ।
लोअग्गमुवगयाणं णमो सया सव्वसिद्धाणं ॥

यह सिद्ध परमात्मा की प्रार्थना है। सिद्ध-प्रभु की प्रार्थना, उनकी स्तुति, उनका गुणकीर्तन और उनका पूर्वकालीन जीवन हमारे लिए मंगलकर है, सुखकर है और आनन्द प्रदान करने वाला है। इसीलिए हम पुनः पुनः उनके गुणों का चिन्तन करते हैं।

जो व्यक्ति जिस प्रकार का चिन्तन करता है, जैसा आदर्श अपने सामने रखता है, जिसके सद्गुणों को हृदयंगम करता है और जिसके प्रति अपनी श्रद्धा के सुमन समर्पित करता है वह व्यक्ति कालान्तर में वैसा ही बन जाता है। हम अर्हन्त और सिद्ध भगवान की प्रार्थना करते हैं, उनके गुणों का चिन्तन-मनन एवं ध्यान करते हैं, देव के रूप में उनका आदर्श हमारे सन्मुख रखते हैं और उन्हें श्रद्धा के साथ अपना मस्तक झुकाते हैं, इसका प्रयोजन यही है कि हम भी उनके जैसे बन जाएँ। हमारी यही कामना और भावना है कि जिस प्रकार वे आत्माएँ सिद्ध और बुद्ध हुई। उसी प्रकार

हम भी सिद्ध और बुद्ध बनें। जिस प्रकार उन्होंने संसार-साग को पार कर परम पद प्राप्त किया है उसी तरह हम भी संसार को पार करके परम पद के भागी बनें। उनकी तरह हम भी आत्मा से परमात्मा बनें, नर से नारायण बनें, भक्त से भगवान बनें। उनकी तरह हम भी ज्योतिर्मय, निष्कलंक, निरंजन-निराकार, शुद्ध, बुद्ध और मुक्त बनें।

भद्र पुरुषों! यह निश्चित मानिए, इस पर दृढ़ श्रद्धा रखिये कि निश्चय ही हमारी आत्मा परमात्मा बन सकती है, हम सिद्ध-बुद्ध बन सकते हैं। हमारी आत्मा और सिद्धों की आत्मा स्वभावतः समान है। हम में भी अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख और अनन्तशक्ति (बल-वीर्य) सत्तारूप से रही हुई है। हम भी ज्योतिर्मय हैं। अन्तर इतना ही है कि मोक्ष-प्राप्त सिद्धात्माओं की आत्मा आवरणरहित हो चुकी है और हमारी आत्मा पर आवरण पड़ा हुआ है। जिस दिन यह आवरण दूर हो जायगा उस दिन हम में और सिद्धों में—आत्मा और परमात्मा में कोई भेद नहीं रह जायगा। कहा है:—

> सिद्धां जैसो जीव है, जीव सो ही सिद्ध होय।
> कर्म मैल को आन्तरो विरला बूझे कोय॥

आत्मा पर आये हुए इस आवरण को दूर करना ही आत्मा का परम पुरुषार्थ है। यह परम पुरुषार्थ वही आत्मा कर सकता है जो आत्मा के वास्तविक स्वरूप को जानता और समझता है। जो

वास्तविक आत्मवादी है वह मानता है कि मेरी आत्मा ही कर्म का कर्त्ता है और यही फल का भोक्ता भी है। यही आत्मा अपने किये हुए कर्मों के कारण संसार में जन्म-मरण करता है और नाना गतियों में संसरण करता है।

भगवती सूत्र में प्रश्न किया गया है कि भगवन्! जीव आत्मकृत कर्म से उत्पन्न होता है या दूसरों के कर्म से उत्पन्न होता है? भगवान् ने स्पष्ट उत्तर दिया है कि जीव आत्मकृत कर्म से उत्पन्न होता है, दूसरे के किये हुए कर्म से नहीं। कर्म कोई और करे और उत्पन्न कोई और हो, यह नहीं हो सकता। जीव अपने ही कृत कर्मों से उत्पन्न होता है और अपने ही कर्मों से मृत्यु को प्राप्त होता है। इसमें किसी दूसरी शक्ति का कोई दखल नहीं है।

कुछ लोग यह मानते हैं कि जीव कर्म करने में स्वतंत्र है परन्तु भोगने में परतंत्र है। वह कर्म का फल अपने आप नहीं पाता परन्तु ईश्वर उसके शुभाशुभ कर्म के अनुसार फल प्रदान करता है। जैसा कि वे कहते हैं —

> अज्ञ जन्तुरनीशोऽयम् आत्मनः सुखदुःखयोः।
> ईश्वरप्रेरितो गच्छेत् स्वर्गं श्वभ्रमेव वा॥

यह अज्ञानी जीव अपने आप सुख दुःख को नहीं भोग सकता। वह ईश्वर की प्रेरणा से स्वर्ग या नरक में जाता है।

यह धारणा सर्वथा भ्रमपूर्ण है। जो आत्मा कर्म करने में स्वतंत्र है वह उसका फल भोगने में स्वतंत्र क्यों नहीं है? कर्म

करने में ईश्वर का कोई दखल नहीं माना जाता तो कर्म-फल भोग में ईश्वर को लाकर क्यों बीच में डाल दिया जाता है ? सीधी-सी बात है कि जो बोएगा सो काटेगा, जो करेगा सो भरेगा। जो नमक खाकर धूप में खड़ा रहेगा उसे प्यास लगेगी। जो मादक चीज़ का सेवन करेगा उसे नशा आएगा। इसमें ईश्वर क्या करेगा ? यदि इसमें ईश्वर हस्तक्षेप करता है तो कर्म निष्फल हो जाते हैं। दूसरी बात यह है कि ईश्वर को कर्मफल देने वाला मानना उसकी ईश्वरता को हानि पहुँचाना है। ईश्वर तो कृतकृत्य है, उसे कुछ करना-धरना नहीं है फिर वह अनुग्रह-निग्रह कैसे कर सकता है ? वह ईश्वर समर्थ भी है और करुणा-सम्पन्न भी है तो वह किसी को बुरा फल कैसे दे सकता है ? किसी को दुखी, निर्धन, रोगी और मूर्ख क्यों बनाता है ? क्यों नहीं अपनी ईश्वरीय शक्ति से सृष्टि के पट से दुःख का नामोनिशान ही मिटा देता ? यदि यह कहा जाय कि ईश्वर जीव के शुभाशुभ कर्मों के अनुसार फल देता है तो इसमें ईश्वर की ईश्वरता ही क्या है ? यह तो कर्मों की प्रधानता रही। अतएव यही मानना चाहिए कि जीव स्वयं कर्म करता है और स्वयं ही उसका फल भी भोगता है।

हाँ तो जीव अपने ही कर्मों से जन्म धारण करता है और अपने ही कर्मों से मर कर दूसरी गतियों में उत्पन्न होता है। यह जन्म-मरण की परम्परा ही संसार है। जन्म-मरण करना, गतियों में आना-जाना ही संसरण है और इसीलिए इस आवा-गमन को संसार कहा जाता है। देवगति, मनुष्यगति, तिर्यञ्चगति

और नरकगति— यह चार-गति-रूप संसार है। इन चार गतियों में यह आत्मा स्वकृत शुभाशुभ कर्मों के कारण अनादिकाल से संसरण करता चला आ रहा है। इसकी अनादि जन्म-मरण की परम्परा का चक्र चलता आ रहा है। शास्त्रकार कहते हैं:—

न सा जाई न सा जोणी न त कुलं न त ठाणं।
न मुआ न जीआ तस न सव्वे जीवा अणंतसो॥

ऐसी कोई योनि और जाति नहीं जहाँ इस जीव ने अनन्त बार जन्म-मरण न किये हो।

जिस प्रकार फुटबाल इधर से उधर ठोकरें खाता रहता है इसी प्रकार यह आत्मा ऊपर-नीचे, पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण आदि दिशाओं में तथा गतिरूप भाव दिशाओं में इधर-उधर ठोकरें खाता रहता है। जब तक फुटबाल अपने स्वाभाविकरूप में रहता है तब तक उसे ठोकरें नहीं लगती। जब वह परपदार्थ को पाकर फूल गया, मोटा-ताजा हो गया, दूसरे का संसर्ग किया तो उसे लातें खानी पड़ीं। यदि वह आप ही अकेला रहता तो न ठोकरें लगती, न इतना उछलना और न ठोकरें मारने वाले अपनी दिल-बहलाई करते। जब तक फुटबाल में हवा है तब तक वह इधर-उधर भटकता है, ठोकरें खाता है। हवा निकल जाती है तो उसका ठोकरें खाना बंद हो जाता है। इसी तरह जीव यदि अपने निज स्वरूप में अकेला होता तो उसे जन्म-मरण और आवागमन न करना पड़ता परन्तु पुद्गल के संयोग के कारण जीव को हवा भरे फुटबाल की

तरह इधर-उधर भटकना पड़ता है। फुटबाल में से हवा निकल जाती है तो उसका ठोकरें खाना बंद हो जाता है इसी तरह जब आत्मा में से कर्म-पुद्गलरूप हवा पृथक् हो जाती है तब उसका आवागमन रुक जाता है और वह अपने मूल स्वरूप में आकर सब दुःखों से छुटकारा पा जाता है। वह संसार से मुक्त हो जाता है और ऐसे अविचल शाश्वत परम पद को प्राप्त कर लेता है जहाँ से फिर कभी च्युत नहीं होना पड़ता। शास्त्रकारों ने उस पद को:-

"शिवमयलमरु अमणंतमक्खय मव्वाबाह मपुणरावित्ति सिद्धगइ नामधेयं ठाणं"

कहा है-वह पद शिवरूप-कल्याणमय है, अचल है, अरुज (रोगमुक्त) है, अनन्त है, अक्षय है और अव्याबाध (बाधारहित) है। उसको प्राप्त कर लेने के बाद फिर वहाँ से च्युत नहीं होना पड़ता है। इस पद को सिद्ध गति कहते हैं।

यह सिद्ध अवस्था प्राप्त करने के लिए आत्मा के साथ संसर्ग किये हुए कर्म पुद्गलों को नष्ट कर देना पड़ता है। इन कर्मों का नाश हो जाना ही मुक्ति है। जैसा कि कहा गया है:-

कृत्स्नकर्मक्षयो मोक्षः

—तत्त्वार्थसूत्र अध्याय १० सूत्र.....

सम्पूर्ण कर्मों का क्षय हो जाना ही मोक्ष है। सम्पूर्ण कर्मों का क्षय होते ही आत्मा की स्वाभाविक अनन्तज्ञान-दर्शन-सुख-बल-वीर्यरूप ज्योति जगमगा उठती है। जिस प्रकार बादलों के हट

जाने पर सूर्य और चन्द्रमा की प्रभा अपने स्वरूप में प्रकट हो जाती है इसी तरह कर्म रूप आवरणों के हटते ही आत्मा की विमल ज्ञान सुख रूप ज्योति जगमगा उठती है। आत्मा अपने मूलस्वरूप में आ जाता है। यही मोक्ष का वास्तविक स्वरूप है।

वैशेपिक दर्शन ज्ञान और सुख को आत्मा का स्वाभाविक गुण नहीं मानता इसलिए वह कहता है कि मुक्त होने पर ज्ञान और सुख भी नष्ट हो जाता है। उसके मत में बुद्धि, इच्छा, राग द्वेष, सुख दुःख, धर्म-प्रयत्न और संस्कार— इन नौ गुणों का अत्यन्त उच्छेद होने पर मुक्ति होती है। बुद्धि और सुख के नाश से मुक्ति होना बड़ी अजीब सी बात है। जहाँ अन्य तत्त्वदर्शियों ने मुक्त अवस्था में ज्ञान और सुख की पराकाष्ठा मानी है वहाँ यह वैशेपिक मुक्तावस्था में ज्ञान और सुख का सर्वथा नाश हो जाना मानता है! उसका मन्तव्य है कि बुद्धि सुख दुःखादि की अनुभूति का कारण होती है। हानि-लाभ का ज्ञान होता है तो दुःख-सुख होता है। ज्ञान ही न रहे तो सुख दुःख कैसे हो सकते हैं? न रहे बांस, न बजे बांसुरी। ज्ञान न हो तो सुख दुःख की अनुभूति भी न हो! यह समझ कर वैशेपिक ने मुक्त अवस्था में ज्ञान का अभाव मान लिया!

यह भयंकर भ्रमणा है। आत्मा ज्ञान के बिना नहीं रह सकता। ज्ञान नहीं है तो आत्मा आत्मा, ही नहीं रहता है। शास्त्र का निर्णय है

गुणाणमासओ दव्वो · · दव्वासिया गुणा

अर्थात्- द्रव्य, गुणों का आश्रय है और गुण, द्रव्य के आश्रित रहने वाले हैं। द्रव्य और गुण में आधार-आधेय भाव सम्बन्ध होता है। आधार के बिना आधेय नहीं रह सकता है और आधेय के बिना आधार नहीं टिक सकता है। आत्मा आधार है और ज्ञान आधेय है। ज्ञान के बिना आत्मा नहीं रह सकता और आत्मा के बिना ज्ञान नहीं रह सकता।

यहाँ यह बात समझने की आवश्यकता है कि आधार दो प्रकार का होता है। साकार और निराकार। साकार आधेय का आधार साकार होता है और निराकार आधेय का आधार निराकार होता है। दुग्ध आदि साकार का आधारभूत पात्र भी साकार होता है और गति-सहायत्व आदि निराकार गुण का आधार भी धर्मास्तिकाय आदि निराकार द्रव्य है। पुद्गल द्रव्य साकार है अतएव वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्शरूप पुद्गल की परिणतियाँ— सडन गलन आदि धर्म उसी में होता है।

शंका हो सकती है कि पुद्गल तो साकार है उसका आधार आकाश निराकार है तो साकार का आधार साकार होता है और निराकार का आधार निराकार होता है, यह कैसे संगत हो सकता है ?

इसका समाधान इस प्रकार है:— आधार दो प्रकार का होता है। एक आत्मभावी आधार और दूसरा अनात्मभावी आधार।

छहों द्रव्य अपने-अपने द्रव्यत्व (गुण) के आत्मभूत आधार हैं और आकाश अनात्मभूत आधार है। उदाहरण के तौर पर मिश्री के मिठास का आधार मिश्री है यह आत्मभूत आधार है और मिश्री जिस घड़े में या जिस आकाश में है वह अनात्मभूत आधार है।

आत्मभूत आधार आधेय में तादात्म्य सम्बन्ध होता है। वे एक दूसरे को छोड़ कर नहीं रह सकते। जहाँ-जहाँ मिश्री है वहाँ मिठास है। और जहाँ मिठास है वहाँ मिश्री है। कहा जा सकता है कि मिश्री जब पानी में घुल जाती है तब उसमें मिठास तो होता है परन्तु मिश्री नहीं होती। मिश्री घुले हुए पानी में मिश्री नहीं है ऐसा नहीं कहा जा सकता है। मिश्री के अनेक रूप होते हैं— ठोस और तरल आदि। भले ही मिश्री घुले हुये पानी में मिश्री ठोस रूप में हमें न दिखाई दे परन्तु वहाँ रूपान्तर में मिश्री है। उस पानी का विश्लेषीकरण करने से स्पष्ट मिश्री प्रतीत होती है।

आत्मभूत आधार के नष्ट होने से आधेय भी नष्ट हो जाता है परन्तु अनात्मभूत आधार के नष्ट होने से आधेय नष्ट नहीं होता। मिश्रीरूप आत्मभूत आधार के नष्ट होने से मिठास भी नष्ट हो जायगा परन्तु घटरूप अनात्मभूत आधार के नष्ट हो जाने से मिश्री का नाश नहीं होगा।

ऊपर जो द्रव्य और गुण में आधार-आधेय सम्बन्ध बतलाया गया है वह आत्मभूत आधार आधेय समझना चाहिए। आत्मभूत

आधार-आधेय में तादात्म्य सम्बन्ध होता है। आत्मा और ज्ञान में यही तादात्म्य सम्बन्ध है। आत्मा गुणी है और ज्ञान उसका गुण है। गुण गुणी को छोड़ कर नहीं रहता और गुणी गुण के बिना नहीं रहता। अतएव आत्मा का गुण होने से ज्ञान उससे पृथक् नहीं हो सकता। आत्मा के बिना ज्ञान की और ज्ञान के बिना आत्मा की स्थिति ही सम्भव नहीं है। वैशेपिक के कथनानुसार यदि मुक्त अवस्था में ज्ञान का सर्वथा नाश मान लिया जाय-तो आत्मा का भी सर्वनाश मानना पड़ेगा। यदि यह आत्मा का नाश ही निर्वाण है तो चलो झगड़ा मिट गया! सब झंझटों से छुट्टी पाई!! वाह रे वैशेपिक की यह मुक्ति!!! जड़ और चेतन में भेद करने वाली जो रेखा थी वह मिट गई तो जड़ चेतन में कोई अन्तर ही नहीं रहा। यानी आत्मा का जड़ हो जाना ही वैशेपिक की मुक्ति का अर्थ हुआ। भला कौन बुद्धिमान् अपने आपको जड़ बनाना चाहेगा?

वैशेपिक ने ज्ञान को दुःखरूप माना है परन्तु वास्तव में ज्ञान दुःखरूप नहीं वरन् अज्ञान दुःखरूप है। कल्पना करिये—एक सुन्दर भवन है। उसमे काँच के झाड़-फानूस लगे हुए हैं। सुन्दर सजावट है। टेबल कुर्सियाँ आदि फर्नीचर से सुसज्जित है। यदि वहाँ अन्धकार हो तो कहिये उक्त सजावट का क्या उपयोग होगा? यही न कि उनसे अंधेरे में घुटने फूटेंगे। इसके विपरीत यदि वहाँ प्रकाश है तो वह सब साज-सजावट सुखरूप और शोभास्पद होती

है। तात्पर्य यह है कि जहाँ ज्ञान का प्रकाश है वहाँ सुख है और जहाँ अज्ञान का अन्धकार है वहाँ दुःख है।

हाँ, अगर वैशेषिक यह कहे कि मोक्ष में वासनायुक्त ज्ञान नहीं है तब तो ठीक है। वस्तुतः जो ज्ञान वासना को लिए हुए होता है वह तो दुःख का कारण बनता है अतएव मुक्तावस्था में वासनायुक्त ज्ञान का अभाव हो जाता है यह बिलकुल ठीक है परन्तु यह कहना कि मुक्ति में ज्ञान का सर्वथा आत्यन्तिक नाश हो जाता है, सर्वथा मिथ्या और भ्रमपूर्ण है। मोक्ष में ज्ञान की पराकाष्ठा है। आत्मा में अनन्तज्ञान स्वाभाविक रूप से है। ज्ञानावरण कर्म उस पर आवरण डाल देता है। जब यह आवरण दूर हो जाता है तो आत्मा का अनन्तज्ञान सहज स्वरूप प्रकट हो जाता है। आत्मा की अनन्तज्ञान की ज्योति जगमगाने लगती है!

वैशेषिक दर्शन मुक्तावस्था में सुख का सर्वथा अभाव मानता है। यह भी अत्यन्त विचारणीय और शोचनीय है। आत्मा का सहज स्वरूप अनन्त सुखमय है। परन्तु रागद्वेषरूप विभाव परिणतियों के कारण आत्मा का वह अनन्त सुखमय स्वरूप आच्छादित है। वेदनीयकर्म के कारण संसारी जीव विषय-जन्य सुख का अनुभव करते हैं। यह वेदनीय कर्म जब दूर होता है तब विषय-जन्य सांसारिक सुख नष्ट हो जाता है और आत्मा का सहज अनन्त सुखमय रूप प्रकट हो जाता है। अतएव मुक्तदशा में परम सातारूप सुख की पराकाष्ठा सिद्ध होती है। अतएव वैशेषिकों का मोक्ष में सुख का अभाव मानना नितान्त अयुक्ति पूर्ण है।

शंका हो सकती है कि यदि मोक्ष को सुखरूप माना जायगा तो सुख की कामना से प्रेरित होकर मुमुक्षु लोग वृत्ति करेंगे। परन्तु कामना से प्रेरित होने के कारण वे मोक्ष नहीं प्राप्त कर सकेंगे। निष्काम भाव से प्रवृत्ति करने से ही मुक्ति का लाभ मिल सकता है। अतएव मोक्ष को सुखरूप नहीं मानना चाहिए।

इसका समाधान यह है कि जो मुमुक्षु उच्च स्थिति पर पहुँच जाते हैं वे मुक्ति की भी कामना नहीं करते। कहा है:—

भवे मोक्षे च सर्वत्र निस्पृहो मुनिसत्तमः

अर्थात् जो श्रेष्ठ मुनि होता है वह सर्वथा निस्पृह होता है। यहाँ तक निस्पृह होता है कि वह मुक्ति की भी कामना नहीं करता।

अतएव यह कहना है कि मोक्ष को सुखरूप मानेंगे तो मुमुक्षु कामनायुक्त होकर ही प्रवृत्ति करेंगे, ठीक नहीं है। फिर उनके पक्ष में भी तो यही दोष आएगा। मान लिया जाय थोड़ी देर के लिए मोक्ष सुखरूप नहीं है तो आखिर क्या है? वह दुखःमय तो हो नहीं सकता। यदि मोक्ष भी दुःखमय हो तो संसार में और मोक्ष में भेद ही क्या रहा? फिर कौन व्यक्ति दुःखमय मोक्ष के लिए जप-तप आदि की कठोर साधना करेगा? ज्ञानीजन संसार के सुखों को छोड़कर मोक्ष की आराधना करते हैं इससे सिद्ध होता है कि मोक्ष में विशेष प्रकार का सुख है।

यहाँ यह कहा जा सकता है कि सांसारिक सुख दुःखों से व्याप्त हैं। इसमें सुख तो थोड़ा है परन्तु दुःख विशेष है। जिस प्रकार

दूध और विष मिले हुए हों तो विष-भक्षण के दुःख से बचने के लिए दूध का भी त्याग किया जाता है उसी प्रकार ज्ञानीजन दुःखों से बचने के हेतु सांसारिक सुख का त्याग करते हैं। योगीजन सुख पाने के लिए नहीं वरन् दुःख से बचने के हेतु मोक्ष की प्राप्ति में प्रवृत्त होते हैं।

इसका उत्तर यह है कि दुःख से बचने की कामना से प्रवृत्ति करना भी तो सकाम प्रवृत्ति है! यह कहाँ निष्काम प्रवृत्ति है! अगर मोक्ष को सुखरूप मानने से सकाम प्रवृत्ति का दोष दिया जाता है तो मोक्ष को दुःखाभावरूप मानने पर भी (दुःखाभाव रूप) सकाम प्रवृत्ति का दोष क्यों नहीं आएगा। अवश्य आएगा।

दूसरी बात यह है कि अधिक सुख प्राप्त करने के उद्देश्य से थोड़े सुख का त्याग करना तो उचित है परन्तु सुख का सर्वथा नाश करने के लिए थोड़े सुख का त्याग करना बुद्धिमत्ता नहीं है। जिन्हें विशेष सुख प्राप्त करने की इच्छा होती है वही दुःखमय सुख का त्याग करते हैं। अगर मोक्ष में सुख का समूल नाश हो जाता है तो क्योंकर मोक्ष पाने के लिये प्रयत्न किया जाय? इसलिए मोक्ष में सुख का सर्वथा नाश हो जाने की मान्यता हास्यास्पद है। वैशेषिक दर्शन सम्मत मोक्ष—जिसमें न ज्ञान है न सुख है सचमुच उपहास का विषय है। नैयायिक दर्शन के आचार्य गौतम ने उनका उपहास करते हुए कहा है—

वरं वृन्दावने रम्ये क्रोष्टृत्वमभिवाञ्छितम्।
न तु वैशेषिकीं मुक्तिम् गौतमो गन्तुमिच्छति॥

सुन्दर वृन्दावन के जंगल में सियार वन कर रह जाना अच्छा है परन्तु वैशेषिक ने जैसा निर्जीव पाषाण तुल्य मोक्ष का स्वरूप माना है वैसे मोक्ष को प्राप्त करने की इच्छा करना उचित नहीं है।

मोक्ष में अनिर्वचनीय आत्मिक सुख है। यह सुख वास्तविक सुख है। यही आत्यन्तिक और एकान्तिक सुख है। संसार के विषयजन्य सुख तो क्षणिक हैं और दुःखों की परम्परा को जन्म देने वाले हैं अतएव वे सुख नहीं किन्तु सुखाभास हैं। वास्तविक सुख तो आत्मिक सुख है जो कभी नष्ट नही होता और वह मुक्त अवस्था में सहज ही आविर्भूत हो जाता है। मुक्तात्मा अनन्तज्ञान और अनन्तसुखों में लीन रहता है। वह सदा शाश्वतरूप से अपने स्वरूप में रमण करता रहता है। मुक्त अवस्था शाश्वत है। जो एक बार मुक्त हो जाता है वह फिर सदा मुक्त ही रहता है। वह फिर संसार में नहीं आता। इसीलिए तो मोक्ष को 'अपुनरावृत्ति' कहा गया है।

कई लोग मुक्तात्मा का भी पुनः संसार में आना मानते हैं। वे कहते हैं कि मुक्त आत्मा भी कालान्तर में पुनः संसार में आती हैं। दीर्घकाल तक सुख भोगते-भोगते एक सरीखी स्थिति में रहते २ मुक्तात्मा अकुला जाती है। वह सुख फीका लगने लगता है। अतएव वह पुनः संसार में अवतार लेकर लीलाएँ करता है। जैसा व्यक्ति सदा सोया २ या वैठा २ अकुला जाता है। वह कभी वैठता है, कभी सोता है। नींद का आनन्द भी तभी आता है जब कभी सोया जाय और कभी जागा जाय। परिश्रम के बाद नींद का

आनन्द आता है। भूख लगती है तो भोजन का आनन्द आता है। लम्बे काल तक मोक्ष में रहते २ मुक्तात्मा को सुस्ती आजाती है अतएव वह फिर संसार में अवतार धारण कर सक्रिय बनते हैं। कर्मशील बनते हैं और फिर मुक्त हो जाते हैं।

कैसी बालकों-सी मान्यता है! मुक्तात्मा मानों कोई मनोरंजन प्रिय बालक है या कोई निठल्ला सुस्तराम है!! मुक्तात्मा भी यदि अकुला जाता है, थक जाता है और सुस्त हो जाता है तो फिर संसारी जीव में और उसमें अन्तर ही क्या रहा! जिस सुख में कालान्तर में फीकापन आजाय वह सुख ही क्या? ऐसा सुख तो संसार में भी है। जहाँ अकुलाहट, थकावट और सुस्तता है वह मोक्ष, संसार से क्या विशेष महत्त्व रखता है? मुक्तात्मा में अकुलाहट, थकावट या सुस्ती मानना, मोक्ष-सुख में फीकापन का आजाना मानना मोक्ष और मुक्तात्मा का खिलवाड़ करना है।

अकुलाहट, थकावट और सुस्ती शरीर और मन के साथ सम्बन्धित है। मुक्तात्मा के न शरीर रहता है और न मन रहता है। तो वहाँ इनका सद्भाव कैसे हो सकता है?

यह सर्वसम्मत सिद्धान्त है कि कारण के अभाव में कार्य नहीं हो सकता। जिन कारणों से जन्म-मरण होता है वे कारण ही मुक्त अवस्था में नहीं रहते तो पुनर्भवरूप कार्य कैसे हो सकता है? कर्मों का समूल क्षय होने पर ही मोक्ष होता है। जब पुरातन कर्म सर्वथा नष्ट हो जाते हैं तो नवीन कर्म की उत्पत्ति ही संभव नहीं

है। पूर्व धान्य से नया धान्य उत्पन्न होता है। पुरातन धान्य सर्वथा नष्ट हो जाता है तो उससे नया धान्य उत्पन्न नहीं हो सकता। पुरातन धान्य सर्वथा नष्ट न हो तो ही उससे नवीन धान्य की उत्पत्ति होती है। इस तरह धान्य परम्परा चलती रहती है। ठीक इसी तरह कर्म परम्परा भी चलती रहती है। पुरातन कर्म सर्वथा नष्ट नही हुआ उसके पूर्व नवीन कर्म का वंध हो जाता है। जैसे रस्सी बनाने वाला सन के तन्तु को दूसरे तन्तु से जोड़ता रहता है इसी तरह पुरातन कर्म नवीन कर्म को जोड़ता चला जाता है। जिस प्रकार जेल में रहा हुआ कैदी एक अपराध की सजा पूरी भोगने के पूर्व नवीन अपराध करता चला जाता है तो उसकी सजा पूरी नहीं हो सकती। वह बढ़ती चली जाती है। इसी तरह जीव पुरातन कर्मों को सर्वथा नष्ट नहीं करता उसके पूर्व वह नवीन कर्म बॉध लेता है-इस तरह कर्मपरम्परा का चक्र चलता रहता है। परन्तु जो जीव पुरातन कर्मों को सर्वथा नष्ट कर डालता है तो फिर उसके नवीन कर्मों का वंध नहीं हो सकता। जिस प्रकार बीज सर्वथा जल जाता है तो उससे फिर अंकुर की उत्पत्ति नहीं हो सकती इसी तरह कर्मरूपी बीज के समूल नष्ट हो जाने पर फिर जन्मरूपी अंकुर पैदा नहीं हो सकता। कहा है: —

दग्धे बीजे यथाऽत्यन्त प्रादुर्भवति नांऽङ्कुरः।
कर्मबीजे तथा दग्धे न रोहति भवाङ्कुरः॥

इसलिए मुक्तात्मा का पुनः संसार में अवतार मानना मिथ्या है।

अवतारवादी दर्शनों का मन्तव्य है कि संसार में जब २ धर्म का ह्रास होता है तब २ ईश्वर संसार में जन्म लेता है और पाप का संहार करता है। जैसा कि गीता में कहा गया है:—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत !
अभ्युत्थानाय धर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहं ॥

अन्यत्र भी कहा गया है:—

ज्ञानिनो धर्मतीर्थस्य कर्त्तारः परमं पदं ।
गत्वा भूयो ... ... तीर्थनिकारतः ॥

धर्म-तीर्थ की स्थापना करने वाले ज्ञानीजन मुक्त हो जाने के बाद जब अपने २ तीर्थ की हानि होते देखते हैं तो वे पुनः जन्म धारण करते हैं।

अवतारवादियों का यह कथन विचार की कसौटी पर कसे जाने पर खरा नहीं उतरता। अपने तीर्थ का उद्धार करने के लिए अथवा सज्जनों पर अनुग्रह और दुष्टों का निग्रह करने के लिए मुक्तात्मा पुनः जन्म धारण करता है तो यह राग-द्वेष वाला होना चाहिए। अपने तीर्थ के प्रति राग-भाव और दुष्टों के प्रति द्वेष-भाव होने से ही यह बात घटित हो सकती है। मुक्तात्मा में राग और द्वेष नहीं हो सकता। जहाँ राग-द्वेष है वहाँ मुक्ति नहीं और जहाँ मुक्ति है वहाँ राग-द्वेष नहीं है। ऐसी अवस्था में अवतारवादियों के इस कथन को कैसे युक्तियुक्त माना जा सकता है ?

सज्जनों ! हम सब लोगों के अनुभव की बात है कि दूध से घी बन सकता है परन्तु घी से दूध नहीं बन सकता ! कच्चे दाने को भट्टी में भुनने से फूला बन सकता है परन्तु फूला कच्चा दाना नहीं बन सकता । इसी तरह जीवात्मा मुक्तात्मा बन सकता है परन्तु मुक्तात्मा संसारी जीवात्मा नहीं बन सकता ।

जैनधर्म की यह विशेषता है कि वह आत्मा को परमात्मा के पद पर प्रतिष्ठित करता है जबकि अन्य मतावलम्बी परमात्मा को भी ससारी आत्मा बना देते हैं ! जैनधर्म चरम उत्कर्ष का समर्थक है। अतएव जैनधर्म नर से नारायण बनने का समर्थक है परन्तु नारायण से नर बनने का समर्थक नही है । जैनधर्म प्रगति का समर्थक है । उसका मन्तव्य है कि प्रत्येक आत्मा मे यह शक्ति है कि वह परमात्मा बन सकता है । प्रत्येक आत्मा परम और चरम उत्कर्ष प्राप्त कर सकता है । कोई शक्ति ऐसी नहीं जो आत्मा के इस परम उत्कर्ष में बाधा पहुँचा सके ।

कुछ मतावलम्बियों का—जिनमें आर्यसमाज भी है—यह मन्तव्य है कि जीव चाहे जितना प्रबल प्रयत्न करे वह परमात्मा नहीं बन सकता है । वह अल्पज्ञ ही रहेगा । यदि आत्मा सर्वज्ञ या परमात्मा हो सकता होता तो आज तक हो जाता । इसलिए आत्मा परमात्मा नही हो सकता । आत्मा की अल्पज्ञता अनादि है इसलिए उसका अन्त नहीं हो सकता । हाँ. उसमें उतार-चढ़ाव

ह्रास-विकास होता रहता है। परन्तु आत्मा, परमात्मा नहीं बन सकता।

इन मतावलम्बियों को शायद यह भय है कि जीवात्मा भी परमात्मा बन जायगा तो परमात्मा का एकाधिकार (Monopoly) छिन जायगा! जीवात्मा के परमात्मा बनने से परमात्मा की शान में बट्टा लग जायगा!

भद्र पुरुषो! प्रत्येक आत्मा को विकास का समान अधिकार है। परमात्मपद पर किसी का एकाधिकार नहीं हो सकता। वे मतावलम्बी ईश्वर को पिता समझते हैं और जीवों को उसकी सन्तान मानते हैं। ऐसी अवस्था में कौन पिता भला अपनी सन्तान का परम विकास नहीं चाहेगा? प्रत्येक पिता यह चाहता है कि उसकी सन्तान उससे भी अधिक अग्रगामी हो। वह पिता ही क्या जो सन्तान का विकास न चाहे। वह अध्यापक ही क्या जो छात्र का विकास न चाहे!

सज्जनो! आत्मा सहज विकासशील है। विकासशील आत्मा को कोई नहीं रोक सकता। भारत पर अंग्रेजों का शासन रहा। उन्होंने भरसक प्रयत्न किया कि भारतीयों में स्वतन्त्रता की भावना जागृत न हो। उन्होंने प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप में ऐसे नियम बनाये जो भारत के विकास में बाधक थे। फिर भी क्या वे भारत की विकासशील आत्माओं को रोकने में समर्थ हुए? नहीं। कुछ आत्माओं में जागृति पैदा हुई स्वतन्त्रता की भावना ने जोर पकड़ा

और उन विकासशील आत्माओं ने अंग्रेजों का तख्ता ही पलट दिया। सचाई यह है कि जब आत्मा विकास की ओर प्रबलता से अग्रसर होता है तब कोई ताकत उसे नहीं रोक सकती! वह सचाई ही क्या? वह शक्ति ही क्या जो पर्वतादि बाधाओं से रुक जाय? कोई किसी के विकास को नहीं रोक सकता।

विकास तो धरती पर पड़ी हुई तलवार है। जिसके हाथों में शक्ति है, उसे कोई भी उठा सकता है। यह तो मैदान की गेंद है। जो आगे बढ़ेगा वही इसे लेगा।

आर्यमतावलम्बियों का कहना है कि अल्पज्ञता अनादि है अतएव उसका अन्त नहीं हो सकता। यह कथन भ्रमपूर्ण है। वस्तु अनादि होते हुए भी सान्त हो सकती है। अनादिकाल से स्वर्ण और मिट्टी का संयोग है परन्तु अग्नि आदि के प्रयोग से उसका नाश हो जाता है। अतएव प्रयत्न करने से अनादिकालीन अल्पज्ञता का अन्त हो सकता है।

साथ ही यह भी मालूम होना चाहिए कि अल्पज्ञता आत्मा का स्वभाव नहीं है वरन् विभाव है जो पर-परिणति है वह नष्ट हो सकती है। आत्मा स्वभावतः सर्वज्ञ है। उसपर विभाव परिणति के कारण आवरण आ जाते हैं। यह आवरण कभी घन और कभी तनु होते रहते हैं। जिसमें न्यूनाधिकता—तरतमता होती रहती है तो कभी उसकी पराकाष्ठा भी हो सकती है। आज जो छात्र पहली कक्षा में है वह क्रमशः आगे बढ़ता बढ़ता एम० ए०

भी हो जाता है। जैसे ? विकास के साधन मिलते हैं वैसे-वैसे वह प्रगति करता जाता है। जहाँ प्राइमरी स्कूल ही है वहा कोई बी० ए०, एम० ए० नहीं हो सकता परन्तु जहाँ कालेज और युनिवर्सिटियाँ हैं वहाँ छात्र स्नातक (एम० ए०) हो सकते हैं।

अन्य मतावलम्बियों ने जीव के लिए केवल प्राइमरी या माध्यामिक शालाएँ ही खोल रखी हैं अतएव उनकी दृष्टि से कोई स्नातक नहीं हो सकता। परन्तु जैनधर्म ने कालेज और युनिवर्सिटियाँ खोल रखी हैं अतएव छात्र सर्वोच्च पदवी प्राप्त कर सकते हैं। जैनधर्म जीव को पराकाष्ठा तक पहुँचा देता है।

आर्य आदि मतावलम्बियों का कहना है कि ज्ञान की पराकाष्ठा ईश्वर में ही है अतएव वह जीवात्मा में नहीं हो सकती। यह ठीक है कि ज्ञान की पराकाष्ठा ईश्वर में है तो कोई ईश्वर से अधिक ज्ञानी नहीं हो सकता परन्तु ईश्वर के समान ज्ञानी तो बन सकता है न ?

वस्तुत जीवात्मा और परमात्मा मूलतः कोई दो चीज नहीं है। मूलत एक ही आत्मतत्त्व है। यह दोनों अवस्थाएँ एक ही आत्मतत्त्व की हैं। यह तो विकास और अविकास की अपेक्षा से भेद है। इनमें आपेक्षिक भेद है कोई तात्त्विक भेद नहीं है। 'परमात्मा' शब्द इस बात को प्रकट करता है। साधना के बल से जिस आत्मा ने अपना परम विकास कर लिया वही परमात्मा बन गया। जिसका अभी परम-विकास नहीं हुआ वह जीवात्मा है। आत्म-तत्त्व की

अपेक्षा दोनों में कोई मौलिक भेद नहीं है अतएव प्रत्येक आत्मा परमात्मा बनने का अधिकारी है।

भद्र पुरुषो! आप अपने हृदय से इस कमजोरी को दूर कर दीजिए कि हम परमात्मा नहीं बन सकते! आप दृढ़ विश्वास रखिये कि, आप भी प्रयत्न करने पर परमात्म-पद के अधिकारी हो सकते हैं। इस बात पर दृढ़ श्रद्धा रखते हुए आप आत्म-विकास की ओर उत्तरोत्तर अग्रसर होते जाइये।

इस प्रकार जैनधर्म ने आत्मा और परमात्मा का बड़ा ही सुन्दर और युक्तिसंगत निरूपण किया है। आत्मवाद बड़ा गहन है। अनेक विज्ञान-वेत्ताओं और तत्त्व-चिन्तकों ने इसे समझने-समझाने का प्रयत्न किया है। अन्यवादियों ने भी आत्मा के विषय में अपनी २ कल्पना से सोच समझने का प्रयत्न किया है परन्तु वे आत्मा की वास्तविकता को समझने में लथड़ा गये हैं। वास्तव में अन्यवादियों के आत्मवाद का भी कोई निश्चित ठिकाना नहीं!

किसी ने आत्मा की उत्पत्ति पुद्गल से मानी। किसी ने आत्मा और शरीर को एक माना। किसी ने आत्मा को सर्वथा क्षणिक माना, किसी ने आत्मा को सर्वथा कूटस्थ नित्य माना, किसी ने आत्मा को एक और सर्व व्यापक माना, किसी ने अनेक और सर्व व्यापक माना, किसी ने देह-प्रमाण माना, किसी ने कर्त्ता माना, किसी ने केवल भोक्ता माना, किसी ने जड़ को ही आत्मा मान लिया। इस तरह अन्य दर्शनकारों ने परस्पर विरोधी बातें आत्मा

के सम्बन्ध में कल्पित की है। परन्तु कल्पित आत्मवाद से काम चलने वाला नहीं है। रबड़ के पुतले से संतति नहीं हो सकती है। जड़ को आत्मा या परमात्मा मानने से कोई आत्मीय सिद्धि का प्रयोजन हल होने वाला नहीं है। कहा है—

चाँदी सोना कांसी,पीतल लेकर देव बनाते हैं।
पाषाणाकृति सन्मुख रख के पुष्प फलादि चढ़ाते हैं॥
ऐसे कल्पित देव को न शीश नमाऊँ मैं।
तेरे दर को छोड़ कर किस दर जाऊँ मैं॥
सुनता मेरी कौन है किसे सुनाऊँ मैं।
लगी भगी विषय में रगी निशदिन जिनकी आत्मा॥
भला बताओ हो सकते हैं कैसे वे परमात्मा।
ऐसे कामी-देव को न देव मनाऊँ मैं॥
अरिहंत देव को छोड़कर किस दर जाऊँ मैं।
सुनता मेरी कौन है किसे सुनाऊँ मैं॥

चांदी सोने, हीरे पन्ने की मूर्ति बनाली और उसे परमात्मा मान लिया। यह भी कोई बात बनी। यह सब मिट्टी है। पृथ्वीराय के मुकेलग छोड़े हुए) पुद्गल है। अचित्त न हुई तो एकेन्द्रिय अव्यक्त चेतना वाली ही रही। पत्थर को घड लिया तो इसमें क्या आने-जाने वाला है। उसमें प्राण-प्रतिष्ठा आनेवाली नहीं है। इसलिए मैं कहता हूँ कि अन्टशंट बाह्य लीलाओं को छोड़ो। बाह्य आडम्बर में मत लुभाओ। आत्मा के वास्तविक सौन्दर्य के दर्शन करो। चैतन्य और चेतन को महत्त्व दो। किसी दुःखी-दर्दी की

आत्मा को शान्ति पहुँचाओ। जड़ के चंगुल में फंसे न रहो! चेतन के क्षेत्र में कर्मशील बनो।

सज्जनो! अभी तो मैं आपको दवाई दे रहा हूँ अतएव सम्भवतः मिथ्यात्व का दौरा न हो परन्तु इस दवाई का असर ऐसा हो कि जड़मूल से दौरा चला जाय तब तो ठीक है। फिर दवा लेने की जरूरत ही न रहे। दवा न लेने पर भी दौरा न हो तो ठीक है। आप खूब सावधानी से आत्मतत्त्व के विषय में विचार करें। इसके मर्म को समझने का प्रयास करें।

जैनधर्म के तीर्थंकरों ने आत्मतत्त्व की गहनता को जानकर इसका सम्यग् निरूपण किया है। उसको जानकर आत्म-विश्वासी बनना चाहिए। यदि आप निर्वाण चाहते हैं तो आत्म-विश्वासी बनिए। आत्म-विश्वासी के लिए सब निधियाँ और सिद्धियाँ खुली है। अविश्वासी को यह आत्म-सम्पदा उसी तरह छोड़ देती है जैसे सूखे वृक्ष को पंछी छोड़ देते हैं।

भद्र पुरुषो! आत्मा की बाह्य-आभ्यंतर परिणतियों को जानकर उनपर गहराई के साथ चिन्तन करो। कषाय, योग, लेश्या आदि परिणतियाँ अशाश्वत हैं; नरक तिर्यञ्च, देव, मनुष्य आदि पर्याय भी अशाश्वत हैं। आत्मा की ज्ञान-दर्शन-सुख और वीर्यरूप परिणतियाँ शाश्वत हैं। जब अशाश्वत परिणतियों से-बाह्य आभ्यंतर उपाधियों से—आत्मा छूट जाता है तो वह शाश्वत स्वरूप में आ जाता है और सिद्ध-बुद्ध बन जाता है।

जो इन सिद्ध-बुद्ध आत्माओं के गुण गाया करते हैं वे जीवन को ऊँचा बनाते हैं इसलिए हम सबको इस सिद्ध आत्माओं के गुण गाना चाहिए और अपने जीवन को ऊँचा बनाना चाहिए। जो सिद्ध-बुद्ध आत्माओं के गुण गाते हैं वे स्वयं भी सिद्ध-बुद्ध बन जाते हैं।

रतलाम
१४-१०-५४